



**सांप्रदायिक समस्या और समकालीन हिन्दी उपन्यास  
(1980-2000)**

**अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़  
की पी-एच०डी० (हिन्दी)  
उपाधि हेतु प्रस्तुत  
शोध-प्रबन्ध  
का सार**

**निर्देशक**

**डॉ० रमेश रावत**

**रीडर, हिन्दी विभाग**

**अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,**

**अलीगढ़ - 202002**

**शोधार्थी**

**बनवारी लाल आर्य**

**हिन्दी विभाग**

**अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय**

**अलीगढ़ (भारत)**

**2008**

**T-7656**



03 OCT 2012

## शोध—सार

सांप्रदायिकता हमारे समाज की एक जटिल और ज्वलंत समस्या है। इसे महज समसामयिक सामाजिक और राजनीतिक संदर्भों में ही नहीं समझा जा सकता, इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी है। सांप्रदायिक ताकतें अपने क्रिया-कलापों की वैद्यता मध्यकाल में तलाशती हैं। किन्तु वे अपने इतिहास एवं संस्कृति की व्याख्या ही संकीर्ण ढंग से नहीं करतीं वरन् समकालीन राजनीति को भी सत्ता के स्वार्थों से जोड़ती हैं।

नवें दशक के प्रारंभ से ही सांप्रदायिकता ने राष्ट्रीय राजनीति को ऐसा मोड़ दिया है जिसके तहत हमारी पूरी जीवन दृष्टि ही बदल गई है। राजनीति के मुद्दे बदल गये हैं। अब उसे परम्परागत दृष्टिकोण और प्रतिमानों के माध्यम से विश्लेषित-व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। उसमें भ्रष्टाचार और शोषण के साथ ऐसा तालमेल बिठाया है जिसके कारण उसका विष समाज की समस्त शिराओं में व्याप्त हो गया है।

यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अस्सी के दशक में सांप्रदायिकता की समस्या ने एक नया मोड़ लिया। इस दौर में कुछ नये संगठनों का जन्म हुआ। विश्व हिन्दू परिषद् ने उग्र सांप्रदायिकता रूप धारण किया, विशेष रूप से तमिलनाडु राज्य की मीनाक्षीपुरम् में धर्मान्तरण की घटना के बाद उसका रूप अत्यंत उग्र हो गया। इसके बाद ही जब राम जन्म भूमि— बाबरी मस्जिद विवाद पैदा हुआ तो बजरंग दल भी राजनैतिक पटल पर उभरा। शिवसेना जैसे राजनीतिक दल ने अपना

विस्तार किया। इस संदर्भ में यह भी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि जहाँ एक ओर विश्व हिन्दू परिषद्, बजरंग दल और शिवसेना आदि सांप्रदायिक संगठनों ने बेरोगार युवाओं को अपनी ओर आकर्षित किया है तो वहीं दूसरी ओर जमात-ए-इस्लामी जैसे संगठनों ने मुस्लिम युवाओं को अपनी ओर आकृष्ट किया है। अतः यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि बेरोजगारी की समस्या ने भी सांप्रदायिकता की समस्या को विस्तार देने में अपनी भूमिका निभायी है।

भारत में सांप्रदायिकता की समस्या जिस रूप में विद्यमान है वह देश की एकता और अखण्डता के लिए ही चुनौती नहीं बल्कि मानवीय मूल्यों तथा मनुष्य की संवेदनशीलता के लिए भी एक बहुत बड़ा खतरा है। क्योंकि सांप्रदायिकता के आवेश में मनुष्य अपनी मनुष्यता को ही भूल जाता है। समकालीन हिन्दी उपन्यास में सांप्रदायिकता के विभिन्न पहलुओं को बड़ी प्रमाणिकता और विश्वसनीयता के साथ उभारा गया है। अनेक उपन्यासकारों ने मौजूदा सांप्रदायिकता की जटिल संरचना और उसके मनोविज्ञान को पूरी संवेदनशीलता के साथ उद्घाटित किया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध को सात अध्यायों में विभाजित किया गया है।

प्रथम अध्याय में, सांप्रदायिकता को परिभाषित करते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। सांप्रदायिकता को विभिन्न विद्वानों ने अनेक तरह से परिभाषित किया है। हमारे देश में सम्प्रदाय का अर्थ विचार-परम्परा का विकास भी रहा है— जैसे— शैव सम्प्रदाय, वैष्णव सम्प्रदाय, शाक्त सम्प्रदाय आदि। इसी प्रकार साहित्यिक के क्षेत्र में रस



संप्रदाय, अलंकार संप्रदाय, ध्वनि संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय जैसे अनेक साहित्यिक संप्रदायों की गणना की जाती है।

किन्तु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में सांप्रदायिकता शब्द का प्रयोग एक विशेष संदर्भ में हुआ है जिसका संबंध हमारी धार्मिक आस्थाओं के टकराव तथा उनके राजनीतिक प्रयोग से है। 'समाज विज्ञान' के अध्येताओं ने साम्प्रदायिकता को परिभाषित करते हुए लिखा है कि अपने ही संप्रदाय, जाति या धर्म के लोगों को लाभ पहुँचाने और उन्हीं के साथ मेलजोल रखने की भावना की प्रवृत्ति सांप्रदायिकता है। यह एक धर्म को मानने वाले समूह के स्वार्थों से इस गहराई से जुड़ गई है कि उसके समक्ष देख हित भी नगण्य हो जाता है। वर्तमान रूप में सांप्रदायिकता धार्मिक कट्टरता का पर्याय बन गई है। इसीलिए विभिन्न धार्मिक समूहों के बीच संकीर्णता और शत्रुता, अलगाव और पृथक्ता, घृणा और हिंसा जैसे भाव इसके अपरिहार्य अंग बन गये हैं।

संक्षेप में, सांप्रदायिकता धर्म विशेष के अनुयायियों की उस संकीर्ण सोच को प्रदर्शित करती है जिसमें अपने पंथ या संप्रदाय को सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है और अन्य को अपेक्षाकृत हेय। इसके साथ ही दूसरे संप्रदायों के प्रति विद्वेष की भावना भी व्यक्त की जाती है। इस भावना में जीवन के अन्य सभी पक्षों को छोड़कर मात्र धर्म को आधार मानकर सभी क्षेत्रों का निर्धारण किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप समाज में बिखराव उत्पन्न होता है और राष्ट्रवाद को गहरा आघात पहुँचता है।

भारतवर्ष में सांप्रदायिकता के स्वरूप को पहचानना एक जटिल

प्रक्रिया है। साथ ही राष्ट्रीय विकास के मार्ग में यह एक बड़ी बाधा भी है। यह चुनौती भारतीय जन-जीवन के लिए एक विकट समस्या का रूप धारण कर चुकी है। जिसकी भयावहता निरन्तर बढ़ती जा रही है। भारतीय संदर्भ में सांप्रदायिकता के चार मुख्य रूप हैं— हिन्दू सांप्रदायिकता, मुस्लिम सांप्रदायिकता, सिख सांप्रदायिकता, और ईसाई सांप्रदायिकता।

हिन्दुत्ववादी सांप्रदायिकता का जन्म अंध राष्ट्रवादी विचारधारा के कारण हुआ। वीर सावरकर की 'हिन्दुत्व' नामक पुस्तक में भारत को 'हिन्दू राष्ट्र' के नाम से अभिहित किया गया है। जिन्ना ने 1939ई० में 'दो राष्ट्र' के सिद्धान्त का प्रवर्तन किया जिसकी परिणति देश-विभाजन में हुई। हिन्दुत्ववादी सांप्रदायिकता वस्तुतः राजनीतिक हिन्दूवाद है जो भारतीय समाज में उच्च जाति का वर्चस्व बनाये रखने के लिए हिन्दू अलगाववाद का पोषण करता है। यह विचार उन्हीं लोगों को राष्ट्रवादी देशभक्त मानता है जिनके हृदय में हिन्दू जाति और हिन्दू राष्ट्र के प्रति गहरा आदर है। उनके लिए इससे इतर सभी समूह राष्ट्रविरोधी और विश्वासघाती हैं।

यदि बहुत गहराई से पड़ताल की जाए तो हिन्दुत्ववादी सांप्रदायिकता का उन्मेष स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान ही हो गया था। यह अवश्य है कि हिन्दू सांप्रदायिकता का जन्म मुस्लिम सांप्रदायिकता की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे संगठनों ने हिन्दू सांप्रदायिकता को पोषित किया जिसमें आगे चलकर विश्व हिन्दू परिषद्, रामराज्य परिषद्, जनसंघ, बजरंग दल, शिवसेना आदि ने अपना योगदान

दिया। वर्तमान में हिन्दू सांप्रदायिकता का जो चेहरा हमें दिखाई देता है वह हमारे देश की राजनीति से जन्मा है।

भारतवर्ष में मुस्लिम सांप्रदायिकता के पनपने का कारण मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा इस देश की लूटपाट और नरसंहार से उपजी भावना रही है। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान सर सैय्यद अहमद खाँ जैसे प्रबुद्ध लोगों ने न कभी कांग्रेस को पसंद किया और न भारत की राष्ट्रीय एकता को। मुस्लिम चिंतकों का मानना रहा कि पंजाब, उत्तर-पश्चिम राज्य सिंध और बलूचिस्तान को एक अलग राज्य के रूप में मान्यता मिलने पर ही भारतीय मुसलमानों का भविष्य सुरक्षित रह सकता है। मुसलमानों की इस अलगाववादी सोच को मुस्लिम लीग ने पल्लवित किया और ब्रिटिश सरकार ने हिन्दू-मुस्लिम में मतभेद पैदा करने के लिए इसे पोषित किया।

1947 में देश विभाजन के दौरान हुए सांप्रदायिक नरसंहार ने हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता को उग्रतम रूप प्रदान किया जिसका बढ़ता हुआ रूप हमें आज भी आतंकित किए हुए है।

सांप्रदायिकता का एक रूप हमें सिख सांप्रदायिकता में भी देखने को मिला, जिसने 'खालिस्तान आन्दोलन' चलाया। हमारे राजनेताओं ने अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए हिन्दू और सिखों में अलगाव की स्थिति पैदा की जिसकी परिणति 6 जून, 1984 को 'ऑपरेशन ब्लूस्टार' के रूप में हुई। इसका प्रतिफलन इंदिरा गाँधी की हत्या तथा दिल्ली में 1984 में हुए सिख नरसंहार में हुआ। किन्तु हिन्दू और सिखों की धार्मिक मूल्य व्यवस्था

समान होने के कारण हिन्दू-सिख एकता बहुत जल्दी बनती चली गई।

भारतवर्ष में ईस्ट इंडिया कंपनी ने व्यापार के साथ-साथ मिशनरियों के माध्यम से ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार भी किया और भारत के गरीब तथा आदिवासी तबकों को ईसाई धर्म में दीक्षित करने की प्रक्रिया भी जारी रखी। स्वतन्त्रता से पूर्व आर्य समाज ने इसका विरोध किया तथापि धर्म परिवर्तन की यह प्रक्रिया रुक नहीं पायी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी ईसाई मिशनरियाँ धर्मान्तरण का काम करती रहीं तथा निम्न तबके के लोगों को ईसाई बनाती रहीं। इसी धर्मान्तरण के कारण ईसाई पादरी फादर स्टेंस और उनके दो मासूम बच्चों को जिन्दा जला दिया गया तथा उड़ीसा और आंध्रप्रदेश में हिन्दू-ईसाई दंगे हुए।

ऊपर सांप्रदायिकता के जिन रूपों का उल्लेख हुआ है। उनमें सबसे प्रबल और भयानक हिन्दू और मुस्लिम सांप्रदायिकता का टकराव है। जो कभी भी, कहीं भी फूट पड़ता है और देश की एकता को खण्डित करने का प्रयत्न करता रहता है। अब इस समस्या ने आतंकवाद के रूप में एक विश्वव्यापी रूप धारण कर लिया है लेकिन इसका भी सबसे अधिक नुकसान भारतीय समाज को ही झेलना पड़ रहा है।

द्वितीय अध्याय में, भारत में सांप्रदायिकता के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को दर्शाते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि भारत में सांप्रदायिकता की समस्या कोई एक दिन में पैदा हुई समस्या नहीं है बल्कि यह एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। भारतीय संस्कृति प्रारंभ से ही सहिष्णु और उदार रही है और हर नये तत्व को अपने भीतर

समेटने में सक्षम रही है। सारी उदारता के बावजूद भारत में विभिन्न धर्म-संप्रदायों के बीच कभी समरसता नहीं रही। इन संप्रदायों ने अपने प्रभुत्व को बढ़ाने के लिए हिंसा का प्रयोग भी किया। किन्तु आज हम जिस सांप्रदायिकता की बात करते हैं उसका जन्म 'इस्लाम के प्रभुत्व के खतरे' से हुआ माना जा सकता है। इसे पनपाने में ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश इतिहासकारों ने पूरा योगदान दिया। सांप्रदायिकता की उत्पत्ति भारतीय इतिहास के सांप्रदायिक इस्तेमाल से मानी जा सकती है। भारत में इतिहास लेखन का काम पाश्चात्य विद्वानों ने शुरू किया। अतः उन्होंने भारत के इतिहास को न केवल काफी तोड़-मरोड़कर लिखा वरन् सर्वप्रथम सांप्रदायिक आधार पर भारत के इतिहास का काल-विभाजन भी किया। उन्होंने विशेष रूप से मध्यकालीन भारतीय इतिहास को हिन्दू-मुस्लिम अंतर्द्वन्द्व की एक लंबी कहानी के रूप में देखा जिसके पीछे अंग्रेजों की साम्राज्यवादी और सांप्रदायिक दृष्टि ही काम कर रही थीं।

भारतीय इतिहास में अगर हिन्दू-मुस्लिम टकराव की घटनाएँ हुई तो उनके परस्पर सौहार्द के उदाहरण भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। अतः जिस रूप में सांप्रदायिकता आज हमारे समक्ष है उसका जन्म ब्रिटिश शासन-काल में हुआ, इसमें कोई संदेह नहीं है। अंग्रेजों ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिकता और संकीर्णता का जो बीज बोया था उसकी चरम परिणति भारत-विभाजन के रूप में हुई। आजादी और विभाजन के अनोखे मिश्रण से अंध सांप्रदायिकता और फासीज्म की समस्याएँ हमारे सामने खड़ी हो गईं। धार्मिक भावनाओं का ऐसा अंधड़

चला कि हम सांप्रदायिक दंगों के कुचक्र में उलझते चले गये और हमारी राष्ट्रीयता ही खतरे में पड़ गई।

भारत—विभाजन की त्रासदी ने भारतीय समाज को इस तरह तोड़ा कि आज भी सांप्रदायिकता की समस्या नए—नए मोड़ लेकर हमारे सामने प्रकट हो रही है। एक तरफ विश्व हिन्दू परिषद्, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, बजरंग दल, शिवसेना जैसे संकीर्ण हिन्दूवादी संगठन हैं तो दूसरी ओर मुस्लिम लीग, जमात—ए—इस्लामी और सिमी जैसे संगठन पूरी सक्रियता के साथ सांप्रदायिकता को हवा देते रहते हैं। आजादी मिलने के साठ वर्ष बाद भी हमारे समाज में हिन्दू—मुस्लिम सौहार्द का सर्वथा अभाव है। इस बीच हमने महात्मा गाँधी की हत्या, इंदिरा गाँधी की हत्या, बाबरी मस्जिद का ध्वंस जैसी घटनाओं को भी अपनी आँखों से देखा जिनकी जड़ में कोरी सांप्रदायिकता थी।

तृतीय अध्याय में, सांप्रदायिकता और समकालीन राजनीति के गठजोड़ को दर्शाते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि मौजूदा दौर में राजनीति का जिस तेजी के साथ अपराधीकरण हुआ है, वह भयावह है। वोट बैंक के राजनीति ने इसे और भी अधिक दूषित किया है। वोटों की राजनीति करने वाले राजनेताओं ने तुष्टीकरण की नीति अपनाते हुए इन हिन्दुत्ववादी शक्तियों, मुस्लिम कट्टरतावादी ताकतों, सिखों के पृथक्तावादी संगठनों और ईसाइयों के धर्मान्तरण के प्रयासों पर कभी प्रहार नहीं किया। इसके विपरीत राजनीतिक दल इन सांप्रदायिक शक्तियों का प्रयोग अपने राजनीतिक वर्चस्व को बढ़ाने के लिए करते रहे।

वस्तुतः राजनीति और सांप्रदायिकता के गठजोड़ ने इस समस्या को और भी गहरा कर दिया।

अधिकांश समय सत्ता में रहने वाली कांग्रेस की मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति भारत में सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने में पूरी तरह उत्तरदायी रही है। इसके लिए एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा— शहबानो प्रकरण।

इस प्रकार राजनीति के लिए सांप्रदायिकता एक हथियार बन गई जिसका भयंकरतम रूप हमें बाबरी मस्जिद के ध्वंस और समय—समय पर होने वाले सांप्रदायिक दंगों में देखने को मिलता है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि देश की राजनीति ने इस समस्या का समाधान खोजने का कभी भी गंभीर प्रयास नहीं किया।

चतुर्थ अध्याय में, सांप्रदायिक समस्या की पृष्ठभूमि के रूप में मुंशी प्रेमचन्द, यशपाल, भीष्म साहनी, कृश्नचन्दर और कृष्णा सोबती के प्रमुख उपन्यासों में व्यक्त सांप्रदायिकता के विविध रूपों का चित्रण किया गया है। उपन्यास साहित्य की ऐसी विधा है जो जीवन यथार्थ से सीधे—सीधे टकराती है। रचना और परिवेश के अंतःसंबंध सदा से अटूट रहे हैं। भारतवर्ष की सबसे ज्वलन्त इस सांप्रदायिकता की समस्या ने हिन्दी तथा विभिन्न भाषाओं के रचनाकारों को इस समस्या पर लिखने के लिए निरन्तर प्रेरित किया है। सांप्रदायिकता की समस्या का जन्म स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान ही हो गया था। इसलिए प्रेमचन्द से लेकर आज तक के हिन्दी उपन्यासकारों ने इस समस्या पर निरन्तर रचना—कर्म किया है।

सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने सांप्रदायिक समस्या के अन्यान्य कारणों की

पड़ताल अपने 'सेवासदन', 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि' आदि उपन्यासों में बहुत गहराई से की है तथा दोनों समुदायों की संकीर्णताओं पर प्रहार किया है। प्रेमचन्द यह जानते हैं कि यह आग अंग्रेजों की लगाई हुई है। वे सांप्रदायिक सौहार्द पर बराबर बल देते रहते हैं।

प्रेमचन्द के बाद यशपाल दूसरे महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं जो अपने महाकाव्यात्मक उपन्यास 'झूठा सच' में सांप्रदायिकता की समस्या से सीधे टकराते हैं। और इसके कारणों को समझने का पूरा प्रयास करते हैं। यह उपन्यास भारत-विभाजन की त्रासदी को मानवीय स्तर पर चित्रित करता है।

हिन्दी के प्रमुख कथाकार भीष्म साहनी ने सांप्रदायिकता की समस्या पर बहुत गहराई से विचार किया है तथा उन्होंने इस समस्या को भारतीय जीवन के लिए सबसे बड़ी त्रासदी माना है। अपने 'तमस' उपन्यास में वे इस समस्या से सीधे साक्षात्कार करते हैं। 'तमस' उपन्यास में स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व के पाँच दिनों की कहानी है जो कि एक लंबे इतिहास को समेटे हुए है। सांप्रदायिक उन्माद, हिंसा, घृणा, ने किस प्रकार विदेशी शासकों के साथ मिलकर इस देश के टुकड़े करा दिए, वह सब कुछ इन पाँच दिनों में छिपा हुआ है।

'तमस' उपन्यास 'झूठा सच' जैसा महाकाव्यात्मक उपन्यास भले न बन पाया हो लेकिन इस उपन्यास में भीष्म साहनी ने सांप्रदायिक दंगों के पीछे छिपी ऐतिहासिक घटनाओं की गहरी व्याख्या करते हैं। इस उपन्यास पर बना 'सीरियल' जब टेलीविजन पर प्रसारित हुआ तो देश में इसके



प्रसारण को लेकर नई उत्तेजना पैदा हुई। किन्तु इस उपन्यास में भीष्म साहनी उस सांप्रदायिक परिवेश को पुनर्जीवित करते हैं जो हमारी जिन्दगी और सारे सामाजिक, नैतिक मूल्यों को छिन्न-भिन्न कर रहा था।

मूलतः उर्दू के लेखक तथापि हिन्दी में भी समादृत कृश्नचन्दर ने भारत विभाजन की त्रासदी को बहुत निकटता से देखा और भोगा था। उन्होंने अपनी रचनाओं में भारत-विभाजन से उपजी सांप्रदायिकता की समस्या का बड़ा जीवन्त चित्रण किया है। उनका 'गद्दार' नामक उपन्यास पूरी तरह भारत-विभाजन के संदर्भ में सांप्रदायिकता की भयावह तस्वीर पेश करता है। बैजनाथ पात्र के माध्यम से कृश्नचन्दर जैसे स्वयं इस समस्या पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहते हैं, "किसलिए हम सिर उठाकर चलते हैं? और किसलिए अपनी उत्तम सभ्यता का ढिंढोरा पीटते हैं? और क्यों हम अपने अपराध को मानने से कतराते हैं। अरे, ये अपूर्ण, अधकचरी सभ्यताएँ अपने आंचल में कितने-कितने गहरे अंधेरो को छिपाए रखती हैं। यह हिन्दू-सभ्यता और मुसलमान सभ्यता, ईसाई सभ्यता और सिख सभ्यता, यूरोपी सभ्यता और एशियाई सभ्यता। इन दमकती हुई सभ्यताओं के अंदर कितनी बड़ी-बड़ी खाइयाँ, कैसे-कैसे भयानक अंधेरे छिपे हुए हैं। लेकिन लोग उनके बारे में बताते नहीं हैं और जो कुछ वे बताते हैं, वह बहुत ही सुंदर, सौम्य और विशाल और शानदार होता है। अगर कोई साहस करके उस सभ्यता के सुंदर लबादे को हटाकर देखना चाहता है तो उसे गद्दार समझ कर कत्ल कर दिया जाता है। या उसकी पीठ में बल्लम भोंक दिया जाता है।"

हिन्दी की प्रख्यात लेखिका कृष्णा सोबती ने अपनी रचनाओं में सांप्रदायिकता की समस्या को बड़ी मार्मिकता से व्यक्त किया है। अपने 'जिन्दगीनाम', 'दिलोदानिश' आदि उपन्यासों में कृष्णा सोबती ने पंजाब के जीवन के संदर्भ में सांप्रदायिकता को बड़ी तन्मयता से व्यक्त किया है। वस्तुतः कृष्णा सोबती अपने उपन्यासों में इस समस्या को जिन्दगी के मानवीय विकास के संदर्भ में देखती हैं।

पंचम अध्याय में, समकालीन हिन्दी उपन्यास के वैचारिक परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट किया गया है। हिन्दी उपन्यास के विकास में लेखकों के लिए सांप्रदायिकता की समस्या एक महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य रही है। स्वातन्त्र्योत्तर काल में हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में अनेक वैचारिक आग्रहों का उन्मेष भी हुआ है और इन वैचारिक आग्रहों ने हिन्दी उपन्यास को समृद्ध किया है। इन वैचारिक आग्रहों में स्त्री-विमर्श, दलित विमर्श, उत्तर आधुनिकता, आदि के साथ ही सांप्रदायिक विमर्श की भी अपनी भूमिका रही है।

षष्ठ अध्याय में, 1980-2000 की कालावधि में लिखे गये उपन्यासों में व्यक्त सांप्रदायिकता के कारणों की पड़ताल करते हुए इसके विभिन्न रूपों का विश्लेषण किया गया है। इस अवधि के उपन्यासों में प्रसिद्ध कथाकार कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में कमलेश्वर सांप्रदायिकता की समस्या को हिन्दू और मुसलमानों की परस्पर घृणा और प्रतिशोध भावना में देखते हैं। कमलेश्वर का मानना है कि 1947 में भारत के विभाजन के साथ अस्तित्व में आया पाकिस्तान महज एक देश नहीं, बल्कि धार्मिक असहिष्णुता, घृणा, कट्टरता,

प्रतिशोध, हिंसा व षड्यन्त्र पर आधारित विचार-पद्धति भी है, जो दुनिया की कई सभ्यताओं और देशों में न सिर्फ मौजूद है, बल्कि फल-फूल रही है।

कमलेश्वर यह भी मानते हैं कि सांप्रदायिकता के विष को समाप्त किए बिना इस देश में शांति नहीं हो सकती। अतः वे इस कृति के द्वारा घृणा की राजनीति का प्रतिवाद करते हैं और परस्पर प्रेम जैसे शाश्वत मूल्य की स्थापना करते हैं। वे भारत-विभाजन जैसे कृत्रिम विभाजनों से संपूर्ण मानवता को बचाने के प्रति सचेत भी करते हैं। वस्तुतः 'कितने पाकिस्तान' लेखक के दीर्घकालीन अंतर्मथन का परिणाम है।

यथार्थवादी कथाकार शिवमूर्ति ने अपने लघु उपन्यास 'त्रिशूल' रामजन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद विवाद को आधार बना कर लिखा है। इस उपन्यास में हिन्दू सांप्रदायिकता उनके निशाने पर है। आस्था के अँधे कुएँ को अपनी तर्क दृष्टि से देखता यह लघु उपन्यास जहाँ एक तरफ धर्म की आड़ में रोटी तोड़ने वाले, अपना स्वार्थ सिद्ध करने वालों तथा समाज नियंता कहे जाने वाले संप्रभु वर्ग के दोहरे चरित्र को उजागर करता है वही दूसरी तरफ 'ईश्वर' नामक शख्सियत को भी आड़े हाथों लेते हुए कटघरे में ला खड़ा करता है।

कथाकार भगवान सिंह अपने उपन्यास 'उन्माद' में धार्मिक-सांप्रदायिकता के मनोवैज्ञानिक कारणों का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। वे सांप्रदायिकता को एक दिमागी बुखार मानते हैं और कहते हैं, "यह जो सांप्रदायिकता है यह भी एक तरह का दिमागी बुखार है। ये जो सांप्रदायिकता

की राजनीति करने वाले हैं और ये जो धर्म के नाम पर अपनी दुकान चलाने वाले मुल्ले और पंडे होते हैं, ये सभी इस दिमागी बुखार के वायरस को पालने वाले होस्ट हैं। इससे इनका कुछ बिगड़ता नहीं। ये मस्त-मुस्तंड ही नहीं पड़े रहते हैं, बल्कि इस वायरस को फैलाने की धौंस देकर राजनीतिक सौदेबाजी करते हैं।”

सांप्रदायिकता के चित्रण से गीतांजलि श्री का ‘हमारा शहर उस बरस’ एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास में एक शहर है जहाँ एक मठ और एक विश्वविद्यालय हैं और ये दोनों ही संस्थाएँ सांप्रदायिकता को हवा देती हुई फासीवादी और आतंक से भरी दुनिया का सृजन करती हैं। सांप्रदायिक दंगों का भय इस उपन्यास में आद्यन्त व्याप्त है। गीतांजलिश्री ने प्रस्तुत उपन्यास में सांप्रदायिक दंगों के भय को उपन्यास का मूल कथ्य बनाया है।

नासिरा शर्मा का ‘जिन्दा मुहावरे’ शीर्षक उपन्यास भारत-विभाजन की त्रासदी को भोगते परिवारों की पीड़ा, घुटन, छटपटाहट को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है उपन्यास की कथा भारत के उत्तर प्रदेश के शहरों और गाँवों तथा पाकिस्तान के करांची शहर के मुहल्लों और उससे जुड़े इलाकों का समावेश करती है। बंटवारे के समय अपने परिवार के लोगों के विरोध के बावजूद निजाम पाकिस्तान चला जाता है। वहाँ धीरे-धीरे अपने परिश्रम और लगन के बल पर सम्पन्न तो हो जाता है किन्तु वह अपनी धरती, अपने लोगों को भुलाये नहीं भूल पाता। इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में नासिरा शर्मा ने विभाजन के कारण विस्थापित मुस्लिम

समुदाय की मानसिकता को भारत और पाकिस्तान दोनों देशों की परिस्थितियों में एक-दूसरे के समानान्तर रखकर जाँचने का प्रयास किया है। लेखिका इस उपन्यास के माध्यम से हिन्दू और मुसलमान दोनों समुदायों को यह संदेश देती हैं कि जीवन को बचाने के लिए परस्पर प्रेम और सहानुभूति सबसे जरूरी तत्व हैं।

मंजूर एहतेशाम का 'सूखा बरगद' उपन्यास धर्म, जातीयता, क्षेत्रीयता और सांप्रदायिकता के जो सवाल आजादी के बाद हमारे समाज में उभरे हैं, उनका गहराई से अध्ययन करता है। ये सारे सवाल ही एक ऐसे बरगद की झूलती जड़ें बनकर फैले हुए हैं, जिसके नीचे किसी भी कौम की तरक्की और खुशहाली असंभव है। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण है यह जानना कि इस त्रासदी के पीछे किसका हाथ है? कहना न होगा कि इस प्रश्न का उत्तर वे तमाम लोग जो इस समाज में शोषित, अपमानित और लांछित हैं, लेकिन आज भी टूटे नहीं हैं।

यह एक वास्तविक सच्चाई है कि अखण्ड भारत का मजहब के आधार पर विभाजन लाखों लोगों की मर्जी के खिलाफ हुआ था और इससे उनकी कोमल भावनाओं को भी क्षति पहुँची थी। भारत विभाजन का दर्द दोनों मुल्कों की इस गरीब जनता को आज भी सालता है।

प्रियंवद ने अपने 'वे वहाँ कैद हैं' नामक उपन्यास में बड़ी संवेदनशीलता के साथ हिन्दुत्ववादी सांप्रदायिकता और उसके भीतर पनपते हुए फासीवाद को चित्रित किया है प्रियंवद लोकतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष भारत में रहने वाले चिन्मय की निराधार आस्था को तोड़ने का प्रयास करते हैं ताकि एक

जाग्रत आधुनिक धार्मिक राष्ट्र का निर्माण हो।

अब्दुल बिस्मिल्लाह का 'मुखड़ा क्या देखे' उपन्यास जाति और संप्रदाय के राजनीतिकरण की प्रक्रिया तथा उसके परिणामों की ओर संकेत करता है और बताता है कि हम ऐसे महत्वपूर्ण सवालों से किस प्रकार बच सकते हैं। कथाकार ने भाषा के प्रति सांप्रदायिक दृष्टिकोण की जड़ों की ओर भी संकेत किया है।

कामतानाथ का दो खण्डों में प्रकाशित 'कालकथा' उपन्यास प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति से लेकर कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन की समाप्ति तक के बारह साल के कालखण्ड को चित्रित करता है। इस उपन्यास में सांप्रदायिकता का वैसा रूप तो नहीं आया है जैसा कि अन्य उपन्यासों में। लेकिन लेखक हिन्दू-मुस्लिम एकता में पड़ी दरार को समझने का प्रयास करता है। शायद रिश्तों की इस गहरी पड़ताल से लेखक उस मारक स्थिति की ओर संकेत करना चाहता है जहाँ आकर यह स्पंदन रुक गया और परस्पर विश्वास के साथ जीने वाली ये कौमें इतनी अलग हो गई कि एक-दूसरे की दुश्मन बन गई। लेखक शायद यह संकेत भी देना चाहता है कि 1929 तक हिन्दू-मुसलमानों के बीच जो समरसता तथा आत्मीयता थी, उस पर अंग्रेजों ने जानबूझकर प्रहार किया और वे इसे तोड़ने में सफल हो गये। स्पष्ट है कि कामतानाथ सांप्रदायिकता की जड़ों को समझने का प्रयास करते हैं और पाठक को भी इस प्रश्न पर सोचने को विवश करते हैं।

द्रोणवीर कोहली का 'वाह कैप' उपन्यास एक ऐसी अनुभवजन्य

रचना है जिसे लेखक ने पचास बरस तक झेलने के बाद कलमबद्ध किया है। प्रस्तुत उपन्यास में देश-विभाजन की त्रासदी एवं सांप्रदायिक दंगों से बचकर आये सिख-हिन्दू परिवारों के शरणार्थी जीवन की करुण कथा प्रस्तुत की है। सारी कथा एक अति संवेदनशील निरूपाय लड़के माध्यम से उजागर की गई है जिसने मसैं भीगने से पहले ही दुनिया के छल-छद्म देख लिये थे।

स्पष्ट है कि इन सभी उपन्यासों में सांप्रदायिकता की समस्या के कारणों और इसके विभिन्न रूपों को समझने का गंभीर प्रयास किया गया है। साथ ही इस समस्या से बचने के प्रयासों पर भी दृष्टिपात किया गया है।

सप्तम् अध्याय में, सांप्रदायिक विचारधारा और समकालीन हिन्दी उपन्यास के शिल्प विधान का विश्लेषण किया गया है। कोई भी विचारधारा मानव जीवन को एकांगी रूप से प्रभावित नहीं करती वरन् उस विचारधारा से हमारा पूरा जीवन प्रभावित होता है। सांप्रदायिकता भी एक ऐसी ही विचारधारा है जो वैश्विक चिंतन के क्षेत्र में आये परिवर्तनों का एक महत्वपूर्ण सोपान है। सांप्रदायिकता की समस्या ने समकालीन हिन्दी उपन्यास के रचना-विधान को भी बहुत गहराई से प्रभावित किया है।

अंत में, समग्र अध्ययन को समेटते हुए कहा जा सकता है कि सांप्रदायिकता की समस्या भारतीय जन-जीवन का एक स्थायी अंग बन चुकी है तथा इसके दुष्परिणाम हमें सांप्रदायिक दंगों और आतंकवादी आक्रमणों के रूप में भोगने पड़ते हैं। यद्यपि इस समस्या ने एक वैश्विक

रूप धारण कर लिया है तथापि इसका सबसे अधिक दुष्प्रभाव भारत को झेलना पड़ता है। इस समस्या को बढ़ावा देने में राजनीतिक संकीर्णता और राजनेताओं की संकल्पहीनता भी उत्तरदायी हैं। लेकिन देश का रचनाकार वर्ग ऐसा है जो संवेदना के स्तर पर इस समस्या के प्रति बहुत जागरूक है तथा इसे समाप्त करने के प्रति लालायित है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध में विश्लेषित उपन्यासों का प्रमुख संदेश यही है कि सांप्रदायिकता एक मानवता विरोधी गतिविधि है जिसको समाप्त करना हम सभी मनुष्यों का कर्तव्य है।

क़वाशी लाल आर्य  
(बनवारी लाल आर्य)







**सांप्रदायिक समस्या और समकालीन हिन्दी उपन्यास  
(1980-2000)**

**अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़  
की पी-एच०डी० (हिन्दी)  
उपाधि हेतु प्रस्तुत  
शोध-प्रबन्ध**

**निर्देशक**

**डॉ० रमेश रावत**

**रीडर, हिन्दी विभाग**

**अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,**

**अलीगढ़ - 202002**

**शोधार्थी**

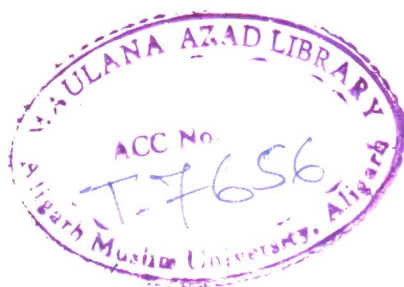
**बनवारी लाल आर्य**

**हिन्दी विभाग**

**अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय**

**अलीगढ़ (भारत)**

**2008**



03 OCT 2012

*Dr. Ramesh Chand 'Rawat'*  
(Reader)



DEPARTMENT OF HINDI  
ALIGARH MUSLIM  
UNIVERSITY  
ALIGARH-202002 (INDIA)

Dated: 30-12-2020

## Certificate

This is to certify that this thesis entitled "Sampradayik Samasya Aur Samkaleen Hindi Upanyas (1980-2000)" has been written by Mr. Banwari Lal Arya under my supervision and guidance. It is an original research work and is suitable for submission for the award of Ph.D. Degree in Hindi. He has fulfilled all the conditions laid down in the ordinance of Aligarh Muslim University, Aligarh.

**Dr. Ramesh Chand 'Rawat'**  
**Supervisor**



CHAIRMAN

**DEPARTMENT OF HINDI  
FACULTY OF ARTS  
ALIGARH MUSLIM UNIVERSITY, ALIGARH-202 002**

Telex : 564-230 AMU IN  
Phones: Off. 2700920 } Ext.  
2700921 } 1460  
2700922 } 1461  
Res. (0571) 2740041

## *Certificate*

This is to certify that **Mr. Banwari Lal Arya**, D.O.A. 8<sup>th</sup> Nov. 2006, Admission No. Ph.D.-06-A-339, Enrolment No. GB-9988, has been a regular Research Scholar in the department for a period of two years from the date of his admission.

The Ph.D. thesis of the candidate entitled “**Sampradayik Samasya Aur Samkaleen Hindi Upanyas (1980-2000)**” has been completed under the supervision of **Dr. Ramesh Chand Rawat** and submitted for evaluation in the department of Hindi on date 30.12.2008

**(Prof. P.K. Saxena)**



## ❧ समर्पण ❧

मेरी सफलता हेतु निरन्तर  
कामनारत ममतामयी माँ  
को और मेरे पथ पर  
विश्वास का दीपक  
आलोकित करते परमपूज्य  
पिता को  
सादर समर्पित।

## प्राक्कथन

भारतीय संस्कृति का मूल चरित्र समाहारी रहा है। यही कारण रहा है कि विभिन्न देशों से आने वाले लोगों का सांस्कृतिक रूपान्तरण इस देश में रहते हुए निरन्तर होता रहा। रूपान्तरण की इस प्रक्रिया में भारतीय संस्कृति का बहुत कुछ विदेशियों ने अंगीकार किया तो भारतीय संस्कृति ने भी बहुत कुछ उनका ग्रहण कर अपने में समाहित कर लिया। इस अंतःक्रिया में भारतवर्ष में जिस संस्कृति का निर्माण हुआ उसे 'गंगा—जमुनी संस्कृति' कहा गया और अनेकता में एकता को इस संस्कृति का आधारभूत तत्व स्वीकार किया गया। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय संस्कृति की बनावट कुछ ऐसे मजबूत सूत्रों से हुई थीं कि उसकी धारा अबाध रूप से बहती रही और अनेक प्रभावों को अपने में समाहित करती रही।

किन्तु भारतीय संस्कृति के इस समाहारी स्वरूप को सबसे अधिक आघात ब्रिटिश सरकार के साम्राज्यवादी और दमनकारी व्यवहार ने पहुँचाया। अंग्रेजों ने इस देश को आर्थिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक तीनों दृष्टियों से खोखला करने का प्रयास किया। ब्रिटिश सरकार के दमनचक्र के विरुद्ध 1857 का आन्दोलन पहला ऐसा आन्दोलन था जिसमें इस देश के राजा और उनकी प्रजा ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध एकजुट होकर खड़े हो गये। यद्यपि इस आन्दोलन में भारतीयों को विफलता हाथ लगी लेकिन इस संघर्ष ने ब्रिटिश सरकार की नींव जरूर हिला दी। अंग्रेजों को लगने लगा कि यदि हिन्दू और मुस्लिम एकजुट रहे तो वे अंग्रेज सरकार को कभी भी भगा सकते हैं। इसी प्रस्थान बिन्दू ने अंग्रेजों को 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाने पर विवश किया और इसी नीति के क्रियान्वयन ने भारत में सांप्रदायिकता के बीज बोए।

यद्यपि मुसलमानों का प्रवेश भी भारत वर्ष में आक्रान्ताओं के रूप में हुआ था लेकिन कालान्तर में वे इस देश के निवासी बनकर रहने लगे और अपने धर्म के साथ इस देश की अनेक परम्पराओं को स्वीकार करने लगे। वे यहाँ के मूल निवासी बन गये और परस्पर जीवन में हिन्दू और मुसलमान अपनी अनेक जरूरतों के कारण निरन्तर गहराई से जुड़ते चले गये। और 1857 में हिन्दू—मुस्लिम एकता का एक उज्ज्वल अध्याय हमें पढ़ने को मिला। लेकिन अंग्रेजों की कूटनीति ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच भेद पैदा करने के अनेक प्रयास किए और उन्होंने कभी हिन्दुओं को तो कभी मुसलमानों को उठाना—गिराना शुरू कर दिया। उन्होंने इन दोनों कौमों को यह अहसास कराया कि उनके धार्मिक और सांस्कृतिक स्रोत न केवल अलग—अलग हैं बल्कि परस्पर विपरीत भी हैं। इसके लिए उन्होंने मुसलमानों के लिए अलग नियम बनाये, हिन्दुओं के लिए अधिक सुविधाओं की व्यवस्था की और इनकों परस्पर लड़ाने की कोशिशें कीं। इन सबका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू और मुसलमानों में परस्पर संदेह पैदा होने लगा।

इस संदेह की अभिव्यक्ति हमें राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के 'भारत—भारती' और हाली के 'मुसद्दस' में देखने को मिल जाती है। स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान कांग्रेस दल की कुछ नीतियाँ भी इस संदेह को गहरा और स्थायी करती हैं तथापि स्वतन्त्रता आन्दोलन निरन्तर चलता रहता है। इस आन्दोलन में महात्मा गाँधी और जिन्ना दो ऐसे व्यक्तित्व हैं जो परस्पर विरोधी दिखाई देते हैं यद्यपि गाँधी जी की दृष्टि में हिन्दू—मुसलमान के बीच कोई अंतर नहीं किन्तु जिन्ना मुसलमानों के अलग नेता के रूप में उभरते हैं और पाकिस्तान की माँग का स्वर ऊँचा करते हैं। यह सब अंग्रेजों की देखरेख में हुआ जिसकी परिणति भारत के विभाजन के समय हुए नरसंहार में हुई और सांप्रदायिकता की समस्या भारतवर्ष की

एक स्थायी और सबसे पीड़ादायक समस्या बन गई।

इस सांप्रदायिकता के मूल में स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान ही हिन्दू महासभा की गतिविधियाँ और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना भी रही। आजादी के बाद इस समस्या को पुष्पित और पल्लवित करने का काम मुस्लिम लीग (जिसकी स्थापना स्वतन्त्रता से पूर्व ही हो चुकी थी), जनसंघ, शिवसेना, बजरंग दल, विश्व हिन्दू परिषद्, जमात-ए-इस्लामी जैसे संगठनों ने किया। सांप्रदायिकता की समस्या का एक स्वरूप सिखों के खालिस्तान की माँग करने वाले संगठनों ने भी प्रस्तुत किया। उधर ईसाई मिशनरियों ने धर्मान्तरण की प्रक्रिया स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले ही आरंभ कर दी थी जो स्वतन्त्रता के बाद भी बंद नहीं हो सकी और उसके कारण इस समस्या का उद्दाम रूप आज भी देखने को मिल जाता है।

यह हमारा दुर्भाग्य रहा कि वोट बैंक की राजनीति ने इस समस्या को पनपने में पूरी सहायता दी और सांप्रदायिकता तरह-तरह के रूप धरकर हमारे जीवन को आक्रान्त करती रही। इस समस्या को घनीभूत करने के लिए अनेक सांप्रदायिक संगठन जन्म लेते रहे जिनका व्यवसाय ही सांप्रदायिकता की ज्वाला को धधकाये रखना था। इस समस्या का भीषणतम रूप हमें रथ यात्राओं, रामशिला-पूजन तथा 1992 में बाबरी मस्जिद के विध्वंस के रूप में देखने को मिला। बाबरी मस्जिद के ध्वंस ने भारत के धर्मनिरपेक्ष चेहरे पर जैसे कालिख पोत दी। एक तरफ सांप्रदायिकता का उभार और दूसरी ओर भूमण्डलीकरण की मार दोनों ने भारतीय जन-जीवन को अशांत और उद्धेलित किया है। इसी दशक में आतंकवाद का विश्वव्यापी चेहरा भी उजागर हुआ जिसने विश्व जनमानस को झकझोर दिया।



इस प्रकार सांप्रदायिकता की इस समस्या ने एक विश्वव्यापी रूप ग्रहण कर लिया लेकिन भारतवर्ष इससे सर्वाधिक प्रभावित हुआ। इसका एक कारण यह भी रहा कि कश्मीर की समस्या सदैव इस देश को परेशान किए रही। विभिन्न धर्मों की जड़ताएँ हमें संकीर्णता की ओर धकेलती रहीं और हम सांप्रदायिकता की आग में झुलसते रहे। 1990 और 2000 का दशक एक तरफ राजनीतिक उठापटक की दृष्टि से बहुत अस्थिर और परिवर्तनकारी रहा तो दूसरी ओर सांप्रदायिक दृष्टि से बहुत विप्लवकारी। नवें दशक के प्रारंभ से ही सांप्रदायिकता ने राष्ट्रीय राजनीति को ऐसा मोड़ दिया है जिसके तहत हमारी पूरी जीवन दृष्टि ही बदल गई है। राजनीति के मुद्दे बदल गये हैं। अब उसे परम्परागत दृष्टिकोण और प्रतिमानों के माध्यम से विश्लेषित—व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। उसमें भ्रष्टाचार और शोषण के साथ ऐसा तालमेल बिठाया है जिसके कारण उसका विष समाज की समस्त शिराओं में व्याप्त हो गया है।

इस दशक की गतिविधियों ने हमारे रचनाकारों को बहुत गहराई से प्रभावित किया। अतः समकालीन हिन्दी उपन्यास में सांप्रदायिकता के विभिन्न पहलुओं को बड़ी प्रामाणिकता और विश्वसनीयता के साथ उभारा गया है। अनेक उपन्यासकारों ने मौजूदा सांप्रदायिकता की जटिल संरचना और उसके मनोविज्ञान को पूरी संवेदनशीलता के साथ उद्घाटित किया है। इनमें 'कितने पाकिस्तान' (कमलेश्वर), 'त्रिशूल' (शिवमूर्ति), 'उन्माद' (भगवान सिंह), 'जिन्दा मुहावरे', (नासिरा शर्मा), 'हमारा शहर उस बरस' (गीतांजलिश्री), 'वे वहाँ कैद हैं' (प्रियंवद), 'सूखा बरगद' (मंजूर एहतेशाम), 'मुखड़ा क्या देखे' (अब्दुल बिस्मिल्लाह), कालकथा (कामतानाथ), 'वाह कैप' (द्रोणवीर कोहली), 'काला पहाड़' (भगवान दास मोरवाल) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध में भारत में सांप्रदायिकता की समस्या

और हिन्दी उपन्यास के अंतः संबंधों को समझने का और विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध को सात अध्यायों में विभाजित किया गया है।

प्रथम अध्याय में, सांप्रदायिकता को परिभाषित करते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

द्वितीय अध्याय में, भारत में सांप्रदायिकता के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को दर्शाते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि भारत में सांप्रदायिकता की समस्या कोई एक दिन में पैदा हुई समस्या नहीं है बल्कि यह एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है।

तृतीय अध्याय में, सांप्रदायिकता और समकालीन राजनीति के गठजोड़ को दर्शाते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि समकालीन राजनीति का जिस तेजी के साथ अपराधीकरण हुआ है, वह भयावह है। वोट बैंक की राजनीति ने इसे और भी अधिक दूषित किया है।

चतुर्थ अध्याय में, सांप्रदायिक समस्या की पृष्ठभूमि के रूप में मुंशी प्रेमचन्द, यशपाल, भीष्म साहनी, कृष्णचन्दर और कृष्णा सोबती के प्रमुख उपन्यासों में व्यक्त सांप्रदायिकता के विविध रूपों का चित्रण किया गया है।

पंचम अध्याय में, समकालीन हिन्दी उपन्यास के वैचारिक परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट किया गया है। इस संदर्भ में स्त्री—विमर्श, दलित विमर्श, उत्तर आधुनिकता और सांप्रदायिक—विमर्श को हिन्दी उपन्यासों में रूपायित करने का प्रयास किया गया है। साथ ही यह भी प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है कि इन विमर्शों ने हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्ति और स्वरूप को काफी गहराई से प्रभावित किया है।

षष्ठ अध्याय में, 1980–2000 की कालावधि में लिखे गये उपन्यासों में व्यक्त सांप्रदायिकता के कारणों की पड़ताल करते हुए इसके विभिन्न रूपों का विश्लेषण किया गया है।

सप्तम् अध्याय में, सांप्रदायिक विचारधारा और समकालीन हिन्दी उपन्यास के शिल्प–विधान का विश्लेषण किया गया है।

अंत में, उपसंहार में मैंने अध्ययनगत निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं।

इस प्रकार मैंने प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में सांप्रदायिकता की समस्या और समकालीन हिन्दी उपन्यास की रचनाशीलता को विश्लेषित कर यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि सांप्रदायिकता की समस्या भारतीय समाज में एक ऐसी समस्या है जो सामान्य जनजीवन में अशांति और विश्रृंखलता पैदा कर रही है। इस समस्या को हवा देने में जितना हाथ धार्मिक और सांप्रदायिक संगठनों का है उतना ही वोट बैंक की राजनीति करने वाले राजनीतिक दलों का। मनुष्यता के मार्ग में सांप्रदायिकता की समस्या एक कोढ़ की तरह है जिसका निदान धर्मनिरपेक्ष ताकतें ही कर सकती हैं।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध डॉ० रमेश रावत, रीडर, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ के योग्य मार्गदर्शन में सम्पन्न हुआ है। शोध–कार्य के दौरान डॉ० रावत जी का स्नेहपूर्ण प्रोत्साहन मुझे निरन्तर प्राप्त रहा है। अपने व्यस्ततम क्षणों में मेरी कठिनाइयों और शंकाओं का समाधान उन्होंने जिस आत्मीयता से किया, उससे कार्य की दुरुहता कभी मेरे पथ की बाधा नहीं बनी। और सबसे बड़ी बात, मैं उनके साथ एक परिवार के सदस्य के रूप में रहा। श्रद्धेय गुरुवर और गुरुमाता श्रीमती विजय लक्ष्मी जी सचमुच इतने सहृदय और संवेदनशील हो सकते हैं, यह मैंने उनके निकट रह कर जाना। मैं उनकी सहृदय

और संवेदनशीलता का कायल हूँ। वस्तुतः यह कहना अत्युक्ति न होगी कि प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध उन्हीं के विद्वतापूर्ण निर्देशन और आत्मीय सहयोग का परिणाम है। अतः शाब्दिक रूप से उनके प्रति किसी प्रकार का आभार प्रदर्शन कर ऋणमुक्त होने की धृष्टता मैं नहीं कर सकता। उनके प्रति मैं अतिशय हार्दिक कृतज्ञता अनुभव करता हूँ।

आदणीया गुरुमाता श्रीमती विजय लक्ष्मी जी का मुझे जो पुत्रवत् स्नेह मिला उसे मैं भुलाये नहीं भूल सकता। अतः उनके प्रति मैं चिर कृतज्ञ हूँ। उनका स्नेह और आशीर्वाद मुझे बराबर मिलता रहे, प्रभु से मेरी यही कामन है।

हमारे विभागाध्यक्ष महोदय प्रो० प्रदीप सक्सेना का भी मैं हृदय से आभारी हूँ। उनका तत्परतापूर्ण सहयोग भी मेरे लिए बड़ा नैतिक संबल रहा है।

प्रख्यात कथाकार 'अक्सर' के संपादक डॉ० हेतु भारद्वाज का मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिनके माध्यम से मैं इस मंजिल तक पहुँच पाया। उन्होंने डॉ० रावत से मेरा संपर्क स्थापित कराया तथा अपने लेखन कार्य और पारिवारिक व्यस्तताओं के बावजूद अपना अमूल्य समय निकाल कर सामग्री संकलन, तथा विषय से संबंधित मेरी अनेक शंकाओं का भी उन्होंने समय—समय पर समाधान किया, जिसे भुला पाना नितांत असंभव है। अतः उनके प्रति मैं चिर ऋणी हूँ।

मैं इस अवसर पर अपने पूजनीय पिता श्री फूलचन्द आर्य एवं ममतामयी माँ श्रीमती मेवा देवी के प्रति चिर कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे अपने जीवन में किसी तरह का अभाव महसूस नहीं होने दिया। मुझे गर्व है कि मैंने ऐसी ममतामयी माँ से जन्म लिया जिनसे मुझे जीवन में निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा मिली है। वह मेरे लिए जीवनादर्श हैं। यह कोरी भावुकता नहीं, बल्कि ठोस वास्तविकता है। मैं आभार अनुभव करता हूँ पूज्य पिता श्री फूलचन्द आर्य के प्रति जिनकी सतत् प्रेरणा और

मार्गदर्शन ने मुझे जीवन को सत्य समझकर संघर्ष करने की क्षमता से परिचित कराया— 'नदी किनारे बैठे हो, कभी तो लहर आयेगी।' उनके विराट् अनुभव और साधना ने मुझे कठिनाइयों से उभरते हुए इस स्थिति योग्य बनाया है कि मैं इस दुरूह कार्य को पूरा कर सका। प्रस्तुत शोध— प्रबन्ध वस्तुतः उनके आशीर्वाद और वात्सल्य का परिणाम है।

इस शोध—प्रबन्ध की परिणति में मैं अपने भाईयों श्री शेरसिंह, विशम्भर दयाल, नन्दलाल और हंसराज का विशेष रूप से आभार अनुभव करता हूँ। जिन्होंने समय—समय पर मुझमें आत्मविश्वास का सृजन किया तथा घर के सभी दायित्वों से मुक्त रखा।

मैं अपनी स्नेहिला बहनों— कौशल्या, किरोस्ता, सावत्री, मंजू तथा भागिनेयी रिकू, टिकू, अन्नू, नीशू, और भतीजों— दिनेश, बंटी, मनीष, राजेश, रवि एवं भतीजियों— सीमा व मोनिका के प्रति विशेष रूप से आभारी हूँ जिनका अतिशय स्नेह मुझे बराबर मिलता रहा है।

मैं अपने घनिष्ठ मित्रों में श्री सुबेसिंह गोठवाल, अशोक कुमार, प्रविन्द्र यादव, उमेश कुमार वर्मा, भंवरलाल चौधरी, अशोक चौधरी, श्रीपाल यादव, पूरणमल गोठवाल दर्शन श्री, डॉ० ताहिर अली खान, डॉ० रेहानुर्रहमान, डॉ० शशिकांत शर्मा, तरुण बंसल, श्री सतीश कुमार निर्मल एवं रमन सैनी का विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने शिथिलता के क्षणों में मेरा उत्साहवर्द्धन किया।

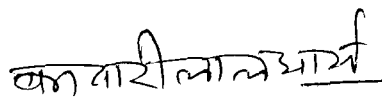
मैं मौलाना आजाद पुस्तकालय के नदीम भाई और पीर मौहम्मद भाई के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने आवश्यकतानुसार शोध सामग्री उपलब्ध कराकर अपना हार्दिक सहयोग प्रदान किया है।

शोध—सामग्री के संकलन में मौलाना आजाद पुस्तकालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय तथा राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के पुस्तकालय का भी योगदान महत्वपूर्ण रहा है। अतः इन पुस्तकालयों के कर्मचारियों के सहयोगपूर्ण व्यवहार के लिए धन्यवाद ज्ञापित करना मैं अपना नैतिक कर्तव्य समझता हूँ।

अंत में, मैं मनोज भाई का विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने व्यावसायिक परिधि से बाहर निकलकर इस शोध—प्रबन्ध को समयबद्ध एवं स्वच्छ रूप में टंकण कर मेरी सहायता की।

यथेष्ट ध्यान रखने के बावजूद यत्र—तत्र जो वर्तनीगत अशुद्धियाँ रह गई हैं, उनके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

दिनांक 30.12.2008

  
(बनवारी लाल आर्य)

# अनुक्रमणिका

पृष्ठ सं०

प्राक्कथन

I - IX

प्रथम अध्याय : सांप्रदायिकता का तात्पर्य और स्वरूप

1-45

- सांप्रदायिकता का अर्थ और तात्पर्य
- सांप्रदायिकता की परिभाषाएँ
- सांप्रदायिकता का स्वरूप

द्वितीय अध्याय : भारत में सांप्रदायिकता का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

46-82

- मध्यकालीन भारत और सांप्रदायिकता
- अंग्रेजी शासन और सांप्रदायिकता
- स्वातन्त्र्योत्तर भारत में सांप्रदायिकता

तृतीय अध्याय : समकालीन राजनीति और सांप्रदायिकता

83-120

- सांप्रदायिकता के कारण
- समकालीन राजनीति और सांप्रदायिकता

चतुर्थ अध्याय : हिन्दी उपन्यास और सांप्रदायिकता की समस्या

121-173

- पृष्ठभूमि:— प्रेमचन्द, यशपाल, भीष्म साहनी, कृश्नचन्दर, कृष्णा सोबती।

पंचम अध्याय : समकालीन हिन्दी उपन्यास का वैचारिक परिप्रेक्ष्य  
और सांप्रदायिकता 174-235

- स्त्री-विमर्श
- दलित-विमर्श
- उत्तर-आधुनिकता
- सांप्रदायिकता का संदर्भ

षष्ठ अध्याय : हिन्दी उपन्यास में सांप्रदायिकता के विभिन्न रूप  
236-315

- हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता
- हिन्दू-ईसाई सांप्रदायिकता
- हिन्दू-सिख सांप्रदायिकता

सप्तम अध्याय : सांप्रदायिक विचारधारा और समकालीन हिन्दी  
उपन्यास का शिल्प-विधान 316-366

- सांप्रदायिक विचारधारा का स्वरूप
- शिल्प-विधान का स्वरूप और समकालीन हिन्दी उपन्यास

उपसंहार 367-382

परिशिष्ट 383-395

- मूल ग्रंथ- सूची
- सहायक ग्रंथ- सूची
- पत्र- पत्रिकाएँ



## प्रथम अध्याय

# साम्प्रदायिकता का तात्पर्य और स्वरूप

## साम्प्रदायिकता का तात्पर्य और स्वरूप

साम्प्रदायिकता हमारे समाज की एक जटिल और ज्वलन्त समस्या है। यह न केवल हमारे देश, समाज और संस्कृति के लिए गंभीर खतरा बन गई है प्रत्युत् आज पूरा विश्व समुदाय इस साम्प्रदायिकता के विष में डूबा हुआ है। साम्प्रदायिकता का जो विष भारतीय समाज में स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान पनपना आरंभ हो गया था, वह स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अपनी उद्दाम तीक्ष्णता के साथ इस प्रकार फैल गया कि उसका प्रभाव अनेक रूपों में निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

साम्प्रदायिकता शिक्षा, इतिहास, धर्म, भाषा सभी का इस्तेमाल करती है। उसकी सत्ता की राजनीति का अपना कार्यक्रम है। अतः इसे महज समसामयिक सामाजिक और राजनीतिक संदर्भों में ही नहीं समझा जा सकता इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी है। आज साम्प्रदायिकता देश की एकता और अखण्डता के लिए चुनौती ही नहीं बल्कि इसने समूचे राष्ट्र के अस्तित्व के समक्ष एक प्रश्न चिह्न लगा दिया है। मानवीय संबंधों, मानवीय मूल्यों को झकझोर कर रख दिया है। ऊपर से स्थिति जितनी भयावह दिखती है भीतर से वह उससे भी कहीं ज्यादा भयावह है। श्री गीतेश शर्मा भी ऐसा ही कुछ मानते हैं, “साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए ही चुनौती नहीं है, बल्कि यह मानवीय मूल्यों एवं संवेदनशीलता के लिए भी एक चुनौती है। साम्प्रदायिक आवेश में इंसान अपनी इंसानी पहचान खो बैठता है। दंगों के दौरान यह बात हमेशा सामने आती है।”

प्रो० बिपिन चन्द्र साम्प्रदायिकता को उपनिवेशवाद का दुष्परिणाम मानते हुए लिखते हैं, “साम्प्रदायिकता मूलतः उपनिवेशवाद के दुष्परिणामों में से एक है। यह भारतीय अर्थव्यवस्था के फलस्वरूप अवरुद्ध विकास का परिणाम है। इसके साथ ही साम्प्रदायिकता हाल के वर्षों के दौरान अर्थव्यवस्था और समाज को विकसित कर पाने में पूँजीवाद की अक्षमता और असफलता का भी प्रतिफल है। उपनिवेशवाद ने एक सामाजिक संरचना प्रदान की जिसने साम्प्रदायिकता को उत्पन्न किया और जिसके भीतर साम्प्रदायिकता विचारधारा पनप सकी।”<sup>2</sup>

### साम्प्रदायिकता का अर्थ और तात्पर्य

साम्प्रदायिकता को सीधे-सीधे धर्म से जोड़ा जाता है। क्योंकि भारत की धर्मप्राण जनता को धर्म के नाम पर जितनी आसानी से आन्दोलित किया जा सकता है, शायद अन्य किसी आधार पर नहीं। धर्म और राजनीति को अलग रखने की बात तो बहुत की जाती है, पर धर्म का राजनीतिकरण बड़ी तीव्र गति से हो रहा है। चूँकि धर्म के नाम पर सामान्य जनता के विश्वास और भीरुता का लाभ उठाने वाले पण्डित, मुल्ला-मौलवी आदि सभी अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए धर्म के घेरे को संकुचित करना शुरू कर देते हैं और संकुचित होते-होते धर्म सम्प्रदाय विशेष में बदल जाता है। अतः गीतेश शर्मा ने ठीक ही कहा है कि “साम्प्रदायिकता धर्म का विकृत रूप है जो धर्म के मूल उद्देश्य की अवहेलना करता है। साम्प्रदायिकता धर्म के अस्तित्व में आने वाले मूल्यों को खत्म करती है।”<sup>3</sup>

‘साम्प्रदायिकता’ शब्द की व्युत्पत्ति ‘सम्प्रदाय’ शब्द से हुई है जिसका अर्थ सम्यक् प्रकेण दाय है अर्थात् किसी आचार्य या गुरु की परम्परा को मानने वालों को क्रमशः प्राप्त होने वाला ज्ञान अथवा व्यवहार आदि।

सम्प्रदाय का अर्थ, विचार परम्परा भी रहा है उदाहरणार्थ, शैव सम्प्रदाय, शाक्त संप्रदाय, वैष्णव सम्प्रदाय आदि रहे हैं और आज भी हैं। दूसरे अर्थ में, साहित्य के क्षेत्र में रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, औचित्य सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय आदि साहित्यिक सम्प्रदायों की परिगणना की जाती है। परन्तु जिस संकीर्ण (कम्युनल) अर्थ में आज साम्प्रदायिकता शब्द का प्रयोग किया जाता है वह अंग्रेजी शासन से पूर्व इस देश में कभी नहीं रहा। आज यह अर्थ रूढ़ हो गया है। डॉ० नगेन्द्र साम्प्रदायिकता शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, “किसी सम्प्रदाय विशेष के हितों एवं सिद्धान्तों का आग्रह साम्प्रदायिकता है। समाज यद्यपि एक ईकाई होता है, फिर भी उसमें विभिन्न मत, सम्प्रदाय एवं वर्ग होते हैं। आवश्यकता तो इस बात की होती है कि विविध सम्प्रदाय समाज के कल्याण को दृष्टि में रखें। किन्तु कभी-कभी ऐसा नहीं होता और विविध सम्प्रदाय अपने-अपने हितों की रक्षा की होड़ में समाज के व्यापक हितों का हनन करने लगते हैं। इसी हीन अर्थ में साम्प्रदायिकता शब्द का प्रयोग होता है। साहित्यकार का संबंध भी किसी न किसी सम्प्रदाय विशेष से होता है किन्तु साहित्य का उद्देश्य सम्प्रदाय की सीमाओं की अपेक्षा कहीं ज्यादा व्यापक और विराट है— वह तो मानव मात्र के हृदय का स्पर्श करता है, व्यक्ति-मात्र की मानसिक सत्ता को उद्देलित करता है। अतः महान् साहित्यकार सदैव साम्प्रदायिकता से बहुत दूर हुआ करते हैं।

साम्प्रदायिकता के दोषों को दूर करने का एक प्रधान साधन सत्साहित्य भी होता है।”<sup>4</sup>

साम्प्रदायिकता का कोशगत अर्थ है— “1. साम्प्रदायिक होने का भाव 2. केवल अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता और हितों का विशेष ध्यान रखना, दूसरे सम्प्रदायों या अनुयायियों को कुछ न समझना।”<sup>5</sup>

श्यामसुन्दर दास ने ‘हिन्दी शब्द-सागर’ के दसवें भाग में साम्प्रदायिकता के दो अर्थ बताये हैं— 1. किसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित होने का भाव और 2. सम्प्रदाय के प्रति कट्टरता का भाव। दूसरे सम्प्रदाय के अहित पर अपने सम्प्रदाय की हित रक्षा।”<sup>6</sup>

‘समाज विज्ञान कोश’ के लेखक ओ०पी०गाबा० ‘कम्युनलिज्म का अर्थ साम्प्रदायिकता या सम्प्रदायवाद बताते हुए लिखते हैं, “अपने ही सम्प्रदाय, जाति या धर्म के लोगों को लाभ पहुँचाने और उन्हीं के साथ मेलजोल रखने की भावना या प्रवृत्ति साम्प्रदायिकता है। यह प्रवृत्ति प्रायः अन्य सम्प्रदायों के प्रति वैर-विरोध की भावना के रूप में पनपने लगती है जो कभी-कभी साम्प्रदायिक दंगों का रूप धारण कर लेती है। भारत में साधारणतः विभिन्न सम्प्रदाय मिलजुल कर रहते हैं, परन्तु कभी-कभी कहीं साम्प्रदायिकता की भावना भड़क उठती है और वहाँ दंगे हो जाते हैं।”<sup>7</sup>

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साम्प्रदायिकता शब्द ‘सम्प्रदाय’ से बना है लेकिन यह शब्द एक मत का वाहक होने के अर्थ में प्रचलित हुआ जबकि साम्प्रदायिकता शब्द धर्म की विकृत व्यवस्थाओं, अंधरूढ़ियों और कट्टरता पर आधारित जातिगत

संकीर्णता का पर्याय बन गया। यह एक धर्म को मानने वाले समूह के स्वार्थों से इस गहराई से जुड़ी हुई है कि इसके समक्ष देश हित भी गौण पड़ जाता है। साम्प्रदायिकता अपने मूल रूप में धार्मिक कट्टरता है। जिसे समय-समय पर राजनेता हवा देते रहते हैं। अतः स्पष्ट है कि एक धर्म जब दूसरे धर्म के प्रति निषेधात्मक अथवा विरोधात्मक दृष्टि अपना लेता है तो वह मूलतः धर्म न रहकर साम्प्रदायिकता में तब्दील हो जाता है।

### साम्प्रदायिकता की परिभाषाएँ

साम्प्रदायिकता को विभिन्न विद्वानों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है जिन्हें यहाँ प्रस्तुत करना समीचीन होगा।

‘प्रो० बिपिन चन्द्र ने साम्प्रदायिकता को परिभाषित करते हुए लिखा है, “साम्प्रदायिकता का अर्थ इस बात पर विश्वास करना है कि किसी खास धर्म को मानने वाले लोगों के सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक हित भी समान होते हैं।”<sup>8</sup>

साम्प्रदायिकता को राजनीति का प्रतिफलन मानते हुए प्रभा दीक्षित कहती हैं कि “साम्प्रदायिकता के अन्तर्गत वे सभी भावनाएँ व क्रियाकलाप आ जाते हैं, जिनमें किसी धर्म, जाति अथवा भाषा के आधार पर किसी समूह विशेष के हितों पर बल दिया जाये और उन हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर प्राथमिकता दी जाये तथा उस समूह में पृथक्ता की भावना उत्पन्न की जाय या उसको प्रोत्साहन दिया जाए।”<sup>9</sup>

श्री गोपीनाथ कालभोर के शब्दों में, “साम्प्रदायिकता एक ऐसा भाव है जो एकाधिक पंथों अथवा सम्प्रदायों के मन में अपने सम्प्रदायों के हितों

व्यक्तिगत स्वार्थों, धार्मिक प्रतिष्ठाओं एवं राजनैतिक सत्ता संघर्षों को लेकर दंगे के रूप में बदल जाता है।”<sup>10</sup>

विन्सेन्ट स्मिथ के शब्दों में, “एक साम्प्रदायिक व्यक्ति या व्यक्ति समूह वह है, जो प्रत्येक धार्मिक अथवा भाषायी समूह को एक ऐसी पृथक सामाजिक तथा राजनैतिक ईकाई मानता है, जिसके हित अन्य समूहों से पृथक होते हैं और उनके विरोधी भी हो सकते हैं। ऐसे ही व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह की विचारधारा को ‘सम्प्रदायवाद’ या साम्प्रदायिकता कहा जायेगा।”<sup>11</sup>

श्री गीतेश शर्मा साम्प्रदायिकता को परिभाषित करते हुए लिखते हैं, “साम्प्रदायिकता अपने आप में कोई रोग नहीं। यह उस रोग का लक्षण है जो घोर आर्थिक विषमता और सामाजिक अन्याय पर आधारित व्यवस्था से उत्पन्न होता है। जब आदर्शों एवं सिद्धान्तों को व्यवहार में लागू नहीं किया जाता, तब वे खोखले हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में उत्पन्न रिक्तता को जो विकृतियाँ भरती हैं, उनमें साम्प्रदायिकता प्रमुख है।”<sup>12</sup>

श्री अभयकुमार दुबे साम्प्रदायिकता का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं “साम्प्रदायिकता का धर्म से केवल इतना ही ताल्लुक है कि वह धार्मिक भावनाओं का राजनीतिक मकसद से दोहन करती है, एक धर्म के अनुयायियों की गोलबंदी करने के लिए वह दूसरे किसी धर्म के प्रति घृणा का प्रचार करती है, इस तरह धर्म के नाम पर कुछ ‘अपने’ और कुछ ‘पराये’ घोषित कर दिये जाते हैं।”<sup>13</sup>

उपर्युक्त मनीषियों के विचारों का अवलोकन करने के पश्चात् यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिकता धर्म विशेष के अनुयायियों

की उस संकीर्ण सोच को प्रदर्शित करती है जिसमें अपने पंथ या सम्प्रदाय को सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है और अन्य को अपेक्षाकृत हेय। इसके साथ ही दूसरे सम्प्रदायों के प्रति विद्वेष की भावना भी व्यक्त की जाती है। इस भावना में जीवन के अन्य सभी पक्षों को छोड़कर मात्र धर्म को आधार मानकर सभी क्षेत्रों का निर्धारण किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप समाज में बिखराव उत्पन्न होता है, और राष्ट्रवाद को गहरा आघात पहुँचता है। जिसकी परिणति हम अखण्ड भारत के विभाजन के रूप में देख चुके हैं और तद्जन्य त्रासदी भी भुगत चुके हैं और आज भी भुगत रहे हैं सीमापार से आतंकवाद के रूप में। हमारे आज के सिद्धान्तविहीन राजनेता ही साम्प्रदायिकता के विषैल विषाणुओं को पाल-पोष रहे हैं।

### साम्प्रदायिकता का स्वरूप

यद्यपि साम्प्रदायिकता का स्वरूप निर्धारण करना बड़ा जटिल कार्य है तथापि भारत में हुए साम्प्रदायिक दंगों के परिप्रेक्ष्य में इसे चार रूपों में देखा जा सकता है, हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिकता, मुस्लिम साम्प्रदायिकता, सिख साम्प्रदायिकता और ईसाई साम्प्रदायिकता का ईसाई संदर्भ।

श्री अभयकुमार दुबे साम्प्रदायिकता का स्वरूप निर्धारित करते हुए लिखते हैं, “भारतीय संदर्भ में साम्प्रदायिकता के चार मुख्य रूप हैं; हिन्दू, मुसलमान, सिख और ईसाई साम्प्रदायिकता। चूँकि धर्मों का बुनियादी आधार अन्वीकरण के बजाय परस्पर सहिष्णुता के मूल्यों से सम्पन्न होता है, इसलिए साम्प्रदायिक राजनीति धार्मिकता के स्वरूप और अभिव्यक्तियों को बदलने का प्रयास करती है, ताकि धर्म का बेजा इस्तेमाल किया जा



सके। वह निजी जीवन में होने वाली धार्मिक गतिविधियों को सार्वजनिक दायरे में लाती है और इस तरह के मौके हासिल करने के लिए वह धार्मिक प्रतीत होने वाले नये कार्यक्रमों को गढ़ने का प्रयास भी करती है।<sup>14</sup>

साम्प्रदायिकता के जो चार रूप दृष्टिगोचर होते हैं, वे इस प्रकार हैं—

### हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिकता

हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिकता की अपरोक्ष शुरुआत 1880 और 1890 के दशकों में हुई, जब बंगाल में गोहत्या के विरुद्ध आन्दोलन चला जो शीघ्र ही उत्तर प्रदेश और बिहार में फैल गया। यह आन्दोलन प्रत्यक्षतः मुसलमानों के खिलाफ था जबकि अंग्रेज अपनी छावनियों में व्यापक स्तर पर गोहत्या करने के लिए स्वतन्त्र थे। उन पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। हिन्दू महासभा मुसलमानों का विरोध करती थी तथा मुस्लिम लीग हिन्दुओं का। 1925 में जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जन्म हुआ था तब इसके मूल में मुस्लिम विद्वेष के अलावा सावरकर की हिन्दुत्व की सैन्यवादी, अंधराष्ट्रवादी विचारधारा काम रह थी। अरुण माहेश्वरी के शब्दों में, “यह मूलतः एक नस्लवादी संगठन है जो नस्लवाद को राष्ट्रवाद के रूप में पेश करती है। इसके हिन्दुत्व का उत्स वी०डी० सावरकर की पुस्तक ‘हिन्दुत्व’ है जिसमें भारत में हिन्दू को ही राष्ट्र बताया गया है तथा अन्यो को विजातीय बताते हुए हिन्दुओं के अधीनस्थ रहने की और हिन्दुओं का सैन्यीकरण करने की तरह की तमाम बातें कहीं गई हैं।”<sup>15</sup>

जिन्ना ने 1939 में दो राष्ट्रों के सिद्धान्त का प्रवर्तन किया था। और 1940 में भारत के विभाजन का प्रस्ताव रखा था, लेकिन सावरकर ने यह काम उसके 15 वर्ष पहले ही कर दिया था। श्री सावरकर ने लिखा है कि “हिन्दुत्व केवल शब्द मात्र ही नहीं, अपितु अपने आप में एक सम्पूर्ण इतिहास ही है। हिन्दुत्व से अभिप्राय हमारी जाति का कोरा धार्मिक तथा आध्यात्मिक इतिहास ही नहीं जैसा कि कई बार भ्रमवश इसी से मिलते-जुलते शब्द हिन्दूवाद से लिया जाता है। हिन्दूवाद तो वस्तुतः हिन्दुत्व का एक अंश मात्र ही है। बाद का अर्थ सामान्यतः कोई ऐसा सिद्धान्त अथवा संहिता होती है जो किसी आध्यात्मिक अथवा धार्मिक प्रणाली पर अधिष्ठित हो।”<sup>16</sup> इस प्रकार सावरकर ने हिन्दुत्व और हिन्दू धर्म में फर्क किया।

सावरकर ने हिन्दुओं को एक राष्ट्र मानते हुए लिखा है कि “हम सभी हिन्दू बन्धु-बन्धु हैं, हमारी जाति भी एक है, क्योंकि हम में समान पूर्वजों का ही रक्त संचारित होता है, हम सभी भारतीय संतति हैं।”<sup>17</sup>

हिन्दुत्व के नस्लवादी पहलू पर जोर देते हुए सावरकर लिखते हैं “हिन्दू भारतीय राज्य के नागरिक मात्र ही नहीं है, क्योंकि उनका संगठन केवल इसी एक बात पर आधारित नहीं है कि वे सभी एक ही मातृभूमि को प्रेम करने की भावना से परस्पर आबद्ध हैं, अपितु वे उनकी रक्त की समानता के बंधनों से भी एकता के सूत्र में आबद्ध हैं। वे एक राष्ट्र मात्र ही नहीं अपितु एक जाति भी हैं। जाति शब्द मूल जन धातु से आरोपित है जिसका अर्थ है जनता जिसका अर्थ है भ्रातृसंघ। एक ही धातु से उद्भूत हुई जाति की नसों में समान रक्त का संचार होता है और यह

शब्द इसी अर्थ का बोधक है। सभी हिन्दुओं की नसों में उसी शक्तिशाली जाति का पावन रक्त प्रवाहित हो रहा है जिसका उद्भव उन वैदिक पूर्वजों अथवा सिन्धुओं से हुआ है।<sup>18</sup>

सावरकर ने हिन्दुत्व के नस्लवादी पहलू की और व्यापक व्याख्या करते हुए कहा, “अतः वह प्रत्येक व्यक्ति हिन्दू है, जो असिन्धु सिन्धुपर्यन्त इस समग्र देश को अपनी पितृभूमि के रूप में मान्यता देकर वन्दना करता है, जिसकी धमनियों में उस महान् जाति का रक्त प्रवाहित हो रहा है जिसका मूल सर्वप्रथम सप्त सिन्धुओं में परिलक्षित होता है और जो विश्व में हिन्दू नाम से सुविख्यात है। जो भी व्यक्ति हिन्दू जाति को अपनी जाति तथा हिन्दुस्थान को अपनी पितृभूमि मानने के कारण उस हिन्दू संस्कृति को अपनी संस्कृति के रूप में मान्यता देता है जो संस्कृति समान इतिहास, समान धर्मशास्त्र, समान पर्व और उत्सवों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है।”<sup>19</sup>

शम्सुल इस्लाम सावरकर के हिन्दुत्ववाद पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि, “सावरकर का हिन्दुत्व वास्तव में राजनीतिक हिन्दूवाद था जो भारतीय समाज में उच्च जाति वर्चस्व बनाये रखने के लिए हिन्दू अलगाववाद की वकालत कर रहा था। इसकी स्पष्ट योजना अपनी प्रभुता अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थापित करने की थी।”<sup>20</sup>

हिन्दुत्व के बारे में सावरकर के विचारों को ही नाजियों की तर्ज में ढालते हुए गोलवलकर ने लिखा था, “सिर्फ वे लोग ही राष्ट्रवादी देशभक्त हैं जो अपने हृदय में हिन्दूजाति और राष्ट्र की शान बढ़ाने की आकांक्षा रखते हुए इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। अन्य

सभी या तो राष्ट्रहित के लिए विश्वासघाती और शत्रु हैं या नरम शब्दों में कहें तो मूर्ख हैं।”<sup>21</sup>

भारत के सभी गैर हिन्दुओं को गोलवलकर विदेशी मानते थे और उनके बारे में उनका साफ कहना था कि, “विदेशी तत्वों के लिए सिर्फ दो रास्ते खुले हैं या तो वे राष्ट्रीय जाति के साथ मिल जायें और उसकी संस्कृति को अपना लें या जब तक राष्ट्रीय जाति अनुमति दे तब तक उनकी दया पर रहें और जब राष्ट्रीय जाति कहे कि देश छोड़ दो तो छोड़कर चले जायें। यही एकमात्र तर्कसंगत और सही समाधान है।”<sup>22</sup>

आज स्थिति यह है कि हिन्दू अपने अलावा बाकी सभी सम्प्रदायों की देशभक्ति को संदेह की निगाहों से देखने लगा है। हिन्दू समाज की यह मानसिकता बन गई कि इस देश की एकता और अखण्डता की रक्षा का दायित्व केवल उसी के कंधों पर है जबकि यह बिल्कुल गलत सोच है क्योंकि देश की एकता और अखण्डता की रक्षा कोई एक सम्प्रदाय नहीं कर सकता। उसकी जिम्मेदारी तो हम सभी की है।

गीतेश शर्मा लिखते हैं कि “मुस्लिम साम्प्रदायिकता की तरह हिन्दू सांप्रदायिकता भी ब्रिटिश शासकों की देन है। दरअसल, हिन्दू साम्प्रदायिकता का जन्म मुस्लिम साम्प्रदायिकता प्रतिक्रियास्वरूप हुआ है।”<sup>23</sup>

1906 में बंगाल में मुस्लिम लीग का विधिवत गठन हो चुका था। मुस्लिम लीग के प्रतिनिधिमण्डल ने तत्कालीन वायसराय से मुलाकात कर उन्हें एक स्मरण-पत्र दिया जिसमें मुसलमानों के लिए विशेष अधिकारों की माँग की गई थी। इसके पहले से ही ब्रिटिश सरकार का झुकाव मुसलमानों की ओर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो चुका था। गीतेश शर्मा के

शब्दों में, “ब्रिटिश शासकों को ऐसा लगा कि कांग्रेस के उदय के साथ—साथ देश में, विशेष कर हिन्दुओं में ब्रिटिश विरोधी भावना और राष्ट्रीय चेतना भी जागृत होने लगी थी। उन्होंने मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग करने के लिए मुस्लिम साम्प्रदायिकता को सहयोग और संरक्षण देना प्रारंभ कर दिया था। इसलिए जब मुस्लिम लीग का प्रतिनिधिमण्डल लार्ड मिन्टों से मिला तो उन्होंने उनकी माँगों के प्रति अपनी स्पष्ट सहमति जताई। इससे हिन्दुओं, विशेष रूप से हिन्दू अभिजात्य वर्ग में चिन्ता की लहर दौड़ गई।”<sup>24</sup>

हिन्दुत्ववादी संगठनों में सर्वप्रथम 1907 में पंजाब में हिन्दू महासभा की स्थापना हुई और लाला लालचन्द इसके संस्थापकों में से एक थे। 21 मार्च, 1909 को हिन्दू महासभा की विधिवत् बैठक हुई। “6 जुलाई, 1909 को हिन्दू महासभा का एक प्रतिनिधिमण्डल लार्ड मिन्टों से मिला और एक स्मरण-पत्र दिया। इस स्मरण-पत्र में हिन्दुओं ने अंग्रेजी सरकार के प्रति अपनी स्वामिभक्ति का जिक्र करते हुए सरकार से संरक्षण की माँग की। लार्ड मिन्टों ने इनके साथ रुखा व्यवहार किया। क्योंकि उनकी सहानुभूति की पात्र मुस्लिम लीग पहले ही से थी।”<sup>25</sup>

1915 की 9—10 अप्रैल को कुम्भ मेले के अवसर पर हिन्दू महासभा का पहला अखिल भारतीय अधिवेशन हुआ जिसकी अध्यक्षता कासिम बाजार के महाराजा महेन्द्र नन्दी ने की। इसके बाद 1919 में उत्तर प्रदेश में, 1922 में बिहार में, 1923 में सी०पी० (अब मध्यप्रदेश) में महासभा का गठन हुआ।

इस प्रकार मुस्लिम लीग की प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दू महासभा राजनैतिक

क्षितिज पर अवतरित हुई। मुस्लिम लीग की द्विराष्ट्र की माँग के विरोध में हिन्दू महासभा ने 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान' का तथा अखण्ड राज्य का नारा बुलन्द किया। हिन्दू महासभा मुस्लिम लीग की प्रतिद्वन्द्वी तो थी ही, कांग्रेस की भी विरोधी थी। मुस्लिम लीग की तरह उसका ध्यान भी साम्प्रदायिकता की ओर ही अधिक था।

सन् 1923 में पं० मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में हिन्दू महासभा का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में इस बात की स्पष्ट घोषणा की गई कि यह कांग्रेस से बिल्कुल अलग है, जिसका प्रमुख उद्देश्य हिन्दुओं के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा करना है। इस अधिवेशन में हिन्दू महासभा के निम्न उद्देश्यों व लक्ष्यों की घोषणा की गई—

1. हिन्दू जाति, हिन्दू संस्कृति, हिन्दू सभ्यता की सुरक्षा एवं उसका विकास और हिन्दू राष्ट्र के लक्ष्य प्राप्त करने की चेष्टा।
2. सारे हिन्दू समाज को सुगठित रूप से संगठित करना।
3. हिन्दू हितों की रक्षा और विकास के लिए तत्पर रहना।
4. छूआछूत दूर करना और दलित वर्गों की स्थिति में सुधार लाना।
5. हिन्दू नारी के गौरवशाली आदर्शों की पुनर्स्थापना करना और उसका विकास करना।
6. हिन्दुओं को शारीरिक रूप से सबल बनाकर उनमें यौद्धा प्रवृत्ति का विकास करना।
7. उन सबको जो हिन्दू धर्म छोड़कर चले गये हैं, उन्हें पुनः हिन्दू धर्म की छत्र-छाया में लाना और उसका विकास करना।
8. अनाथ एवं अबलाओं के लिए अनाथालय एवं नारी निकेतन की

स्थापना करना।

9. हिन्दू सम्प्रदाय के धार्मिक, शैक्षणिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हितों एवं अधिकारों की रक्षा हेतु हर संभव कदम उठाना।
10. हिन्दुओं, भूतपूर्व हिन्दुओं (भारतीय मूल के वे हिन्दू जिन्होंने धर्म परिवर्तन कर लिया था) और अन्य भारतीय सम्प्रदाय के मध्य सद्भाव उत्पन्न करना ताकि भाईचारे एवं सद्भाव से युक्त एक संयुक्त व स्वतन्त्र भारत की स्थापना की जा सके।<sup>26</sup>

इस प्रकार अधिवेशन में इसे राजनीतिक रूप से हिन्दुओं का प्रभावशाली संगठन बनाने के लिए इसका पुनर्गठन किया गया। कालान्तर में हिन्दू महासभा एक साम्प्रदायिक दल का रूप धारण कर लेती है। इसका प्रमाण हिन्दू महासभा के अमृतसर में मनाये जाने वाले रजत जयन्ती समारोह के अवसर पर डॉ० मुन्जे की इस स्पष्ट घोषणा से मिलता है— “हिन्दुस्तान हिन्दुओं का देश हैं और उसके विधान का आधार वेदों में होना चाहिए।”<sup>27</sup>

राजनैतिक क्षेत्र में सर्वप्रथम सन् 1937 में हिन्दू महासभा के वार्षिक सम्मेलन के सभापति पद से अपने भाषण में वी०डी० सावरकर ने घोषित किया कि “आज हिन्दुस्तान को एक एकात्मक तथा सामंजस्यपूर्ण राष्ट्र नहीं समझा जा सकता बल्कि दरअसल यहाँ दो कौमें हैं— हिन्दू और मुसलमान।”<sup>28</sup>

सन् 1925 में हिन्दू महासभा के गर्भ से राष्ट्रीय स्वयंसेवक का जन्म हुआ ठीक उसी प्रकार जैसे मुस्लिम लीग की कोख से जमाते—इस्लामी जन्मी। “इस संगठन का उद्देश्य हिन्दुओं को सांस्कृतिक और शारीरिक

रूप से सबल बनाना था।''<sup>29</sup>

कथाकार कमलेश्वर के शब्दों में "आर०एस०एस० एक रूढ़ हिन्दू पुनरुत्थानवादी शक्ति है। भारत के प्राचीन इतिहास और समाज को वह हमेशा एक रूग्ण हिन्दूवादी गर्व से देखता है और 'अखण्ड भारत' की उसकी परिकल्पना केवल हिन्दुओं द्वारा शासित हिन्दुओं के लिए है।"<sup>30</sup>

हिन्दू साम्प्रदायिकता का कारण संघ परिवार ही है, अगर संघ परिवार को कभी राजनीतिक या कानूनी हार का सामना करना पड़ता है तो उसे हिन्दू साम्प्रदायिकता की हार मान लिया जाता है। जबकि अगर संघ परिवार की सफलता के सामाजिक कारणों पर नजर रखी जाये तो हाल की हिन्दू साम्प्रदायिकता संघ परिवार की साजिश नहीं बल्कि सामाजिक परिवर्तन की एक सप्रतिबन्ध आवश्यक परिणति के रूप में उजागर होगी।''<sup>31</sup>

उत्तर भारत में हिन्दू साम्प्रदायिकता का राजनीतिक चेहरा भाजपा है जो सन 1977 से पहले भारतीय जनसंघ थी। 1975 के आन्तरिक आपातकाल के बाद हमारे देश में कांग्रेस के पतन का वास्तविक सिलसिला शुरू हुआ। यह भारतीय राजनीति में संक्रमण के एक नये दौर का प्रारंभ था। कांग्रेस जनता से कट चुकी थी और उसके स्थान पर एक तरफ 1976 के बाद के जनवादी उभार से जुड़ी वामपंथी और जनवादी शक्तियाँ विकसित हो रही थीं और दूसरी ओर आर०एस०एस० और उसका संघ परिवार था। 1980 के चुनाव तक संघ परिवार की कोई विशेष राजनीतिक हैसियत नहीं बन पायी थी। जनसंघ के नये अवतार भारतीय जनता पार्टी को संसद में अब तक के इतिहास में सबसे कम मात्र दो सीटें मिल पाई



थीं। लेकिन 1989 तक आते-आते जब फिर एक बार कांग्रेस के खिलाफ जनमत तैयार हुआ और केन्द्र में राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार बनी, तब भाजपा उस सरकार में शामिल न होने पर भी उसे बाहर से समर्थन दे रही थी और उस सरकार की वह भी एक बैसाखी बनी हुई थी।

इसी चुनाव में उसने राजीव गाँधी की सरकार द्वारा छोड़े गये रामजन्मभूमि मंदिर के सूत्र को पकड़ा था और बहुत ही सुनियोजित ढंग से भारी जोखिम उठाकर पूरे देश में उग्र हिन्दुत्व का उन्माद पैदा कर दिया था।

इस प्रकार हिन्दू साम्प्रदायिकता की राजनीतिक सफलता का विस्फोटक उभार सन् 1989 के चुनावों के बाद दिखता है। तब के चुनावों में भाजपा को 11.5 प्रतिशत वोट मिले थे। सन 1991 में ये बढ़कर 20 प्रतिशत, सन 1996 में 20.3 प्रतिशत तथा सन 1998 के चुनावों में अप्रत्याशित 26 प्रतिशत हो गये। उत्तर भारत के हिन्दी भाषी प्रदेशों तथा पंजाब के हिन्दुओं तक सीमित रही यह पार्टी इस दौरान कर्नाटक, तमिनाडु, उड़ीसा तथा असम जैसे राज्यों में भी अपना प्रभाव स्थापित करने में सफल रही। महाराष्ट्र में शिवसेना की सफलता भी भारतीय राजनीति में हिन्दू साम्प्रदायिकता के बढ़ते हस्तक्षेप को दर्शाता है।<sup>32</sup>

हिन्दू धार्मिक तत्त्ववाद की एजेन्डे पर चलते हुए गोवध विरोधी आन्दोलन के जो काम पहले हिन्दू महासभा और रामराज्य परिषद् आदि किया करते थे उसे विश्व हिन्दू परिषद् के गठन के जरिये आर०एस०एस० ने अपने हाथ में ले लिया। अरुण माहेश्वरी के शब्दों में, “दरअसल यह हिन्दू धर्मावलम्बी जनता के सहज विश्वासों में एक फासिस्ट व्यवस्था के

प्रति स्वीकृति की जमीन तैयार करने की सुनियोजित कोशिश के अलावा और कुछ नहीं था।”<sup>33</sup>

एक जघन्य तत्त्ववादी शक्ति के रूप में आर०एस०एस० के इस नये अवतार ने अब जीवन के सभी क्षेत्रों में साम्प्रदायिक घृणा फैलाने के साथ ही पुरानी सड़ी गली मान्यताओं को भी खुले आम बल पहुँचाने का काम शुरू कर दिया। पूरा राम मंदिर आन्दोलन ऐसे ही अंधविश्वासों और धार्मिक उन्माद के आधार पर चलाया गया था। जैसा कि कमलेश्वर लिखते हैं “बाबरी मस्जिद और राममंदिर के नाम पर अपनी राजनीतिक पकड़ बनाये रखने में ये लोग इसलिए कामयाब हैं, क्योंकि इस देश का हिन्दू या तो बहुत धर्म भीरु है या फिर वास्तविकता से अनभिज्ञ, जो इस देश में वैज्ञानिक सोच की जरूरत को लगातार नकारने में लगा हैं। मंदिर निर्माण भी इनके लिए एक अवसरवादी एजेन्डा है, जिसे हमारे देश की धर्मप्राण मगर गरीब, बेरोजगार और अशिक्षित जनता को बरगलाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है।”<sup>34</sup>

प्रभात की मान्यता है कि, “अंध राष्ट्रवाद तथा अल्पसंख्यक समुदायों के प्रति वैमनस्य संघ परिवार की हिन्दू साम्प्रदायिकता के प्रमुख चरित्र हैं। अगर लोक संस्कृति में ये गुण पनप रहें हो तो हिन्दू साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलना लाजिमी है।”<sup>35</sup>

‘हिन्दुत्व’ के नाम पर गोवंश की रक्षा करने वाली इन हिन्दुत्ववादी शक्तियों ने गोहत्या के मुद्दे को पैदा करके अपनी राजनीतिक और धार्मिक आजीविका का साधन बनाने का हथकण्डा बनाया है। गुजरात तो मानों जैसे हिन्दुत्व की प्रयोगशाला ही बन गई है।

आर०एस०एस० शिवसेना, बजरंगदल, वि०हि०प० जैसी हिन्दुत्ववादी ताकतें आये दिन साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़काकर जहाँ एक ओर वैमनस्य और घृणा का वातावरण पैदा रही हैं वहीं नवयुवकों के मनोमस्तिष्क को दूषित करके यह अपना सैन्यवादी रूप और तेवर बरकरार रख रही हैं।

‘इन बंद कमरों में मेरी सांस घुटी जाती है

खिड़कियाँ खोलता हूँ तो जहरीली हवा आती है।’

किसी अज्ञात शायर की ये दो पंक्तियाँ आज की मनोदशा को पूरी तरह उजागर करती हैं। कमलेश्वर के शब्दों में कहें तो “हिन्दुत्ववादी संघी साम्प्रदायिक गिरोहों ने भारतीय लोकतंत्र को बंधक बना लिया है।”<sup>36</sup>

‘इस्लाम खतरे में है’ की तर्ज पर ‘हिन्दुत्व खतरे में है’ का नारा दिया जा रहा है और कहा जा रहा है कि अब खतरा ईसाइयों से है। सन् 1991 से 1993 के दौरान हिन्दू साम्प्रदायिकता अपने चरम पर पहुँच गई। जैसा कि कमलेश्वर लिखते हैं, “तत्कालीन भाजपा अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी का ‘रामरथ’ सोमनाथ से अयोध्या के लिये निकल चुका था। पूरा देश उस समय आशंकाओं से भर गया था। और 6 दिसम्बर, 1992 को अयोध्या स्थित बाबरी मस्जिद का ढाँचा ध्वस्त कर दिया गया था और फिर 12 मार्च, 1993 को मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्वों ने बम्बई में बम विस्फोटों का सिलसिला शुरू करके पूरे देश को साम्प्रदायिक दंगों की आग में झोंक दिया था।”<sup>37</sup>

आज हिन्दू साम्प्रदायिकता का जो चेहरा दिखाई पड़ता है वह राजनीति से और राजनीति में ही जन्मा है। 1922 में ही सावरकर

हिन्दुत्ववादी राजनीति का सूत्रपात कर चुके थे। किन्तु संघ परिवार और भाजपा ने हिन्दुत्व की जिस परिकल्पना को अपनाया है और जिसे अपना सिद्धान्त बनाया है वह सावरकर द्वारा 1922 में दिये गये हिन्दुत्व शब्द और उसकी परिभाषा से अलग है। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में अनुदार, असहिष्णु हिन्दुत्ववादियों का उदय एक बहुत ही खतरनाक स्थिति है। हिन्दू शब्द और धर्म का राजनीतिकरण किया गया और सत्ता प्राप्ति के लिए धर्म का राजनीतिकरण किया गया और सत्ता प्राप्ति के लिए धर्म को हिन्दुत्व के नाम पर वैमनस्य, विद्वेष एवं नस्लभेद का साम्प्रदायिक हथियार और औजार बनाया गया।

प्रो० इरफान हबीब के शब्दों में, “भाजपा संघ—परिवार द्वारा संचालित यह हिन्दुत्व का उभार सुधार के या राष्ट्रीय विकास तथा प्रगति के किसी भी सकारात्मक कार्यक्रम पर आधारित नहीं है बल्कि अपनी अन्तर्वस्तु में शुद्धतः नकारात्मक है। हिन्दुत्व की इस मुहिम के निशाने पर सिर्फ मुसलमान ही नहीं हैं बल्कि यह मुहिम हिन्दू परम्परा के उन महान् सिद्धान्तों को भी निशाना बनाती है तथा चुनौती देती है जो रामायण के जरिए चली आ रही लोक परम्परा में भी मूर्त है। इस अभियान के पीछे मुख्य मकसद यही है कि भारतीय जनतन्त्र को विकृत किया जाए तथा तोड़ा मरोड़ा जाए और मध्ययुगीन ढंग का धर्मराज्य कायम किया जाए। यह अभियान एक आधुनिक, सम्पन्न भारत का निर्माण करने की तमाम आकांक्षाओं के मर्मस्थल पर आघात करता है।”<sup>38</sup>

हिन्दुत्ववादी शक्तियों ने सभी प्रतीकों और नायकों को जिनकी वीरता की कहानियाँ उनके अनुयायियों में प्रेरणा पैदा कर सकती हैं,

मध्यकाल से चुना। उन्होंने भारतवर्ष के प्राचीन गौरव के पतन का कारण मध्यकालीन मुस्लिम शासन को माना। इस तरह उन्होंने मुस्लिम विरोधी भावनाएँ ही पैदा कर साम्प्रदायिक सौहार्द के वातावरण को दूषित किया है। जबकि वास्तविकता यह है कि हम किसी भी काल को गौरवमय नहीं मान सकते क्योंकि सभी काल सत्ता संघर्षों से भरे पड़े हैं। इस सत्ता संघर्ष की चपेट में हिन्दू—मुसलमान बराबर—बराबर आये हैं। रजनी पाम दत्त के इस विचार से सहमत हुआ जा सकता है कि “भारत की हिन्दू—मुसलमान जनता के दो अलग लक्ष्य नहीं हो सकते और न हैं। मुसलमानों की गरीबी और गुलामी तथा हिन्दुओं की गरीबी और गुलामी अलग—अलग चीजें नहीं हैं बल्कि वे समूचे भारत की गरीबी और गुलामी हैं। भारत के हजारों लाखों गाँवों में हिन्दुओं और मुसलमानों की आबादी का एक बहुत बड़ा हिस्सा एक जैसी जमींदारी प्रथा के बोझ के नीचे पिस रहा है, एक जैसे सूदखोर महाजनों की लूट का शिकार हो रहा है, एक जैसे साम्राज्यवाद के दमन का शिकार हो रहा है और इन दोनों वर्गों के बीच फूट डालने की कोशिशें वस्तुतः शोषण की इस व्यवस्था को बरकरार रखने की कोशिशें हैं।”<sup>39</sup>

### मुस्लिम—साम्प्रदायिकता

भारत में मुस्लिम शासकों का आगमन यहाँ की बेशुमार धन संपदा को लूटने हेतु हुआ था किन्तु यहाँ राजनीतिक एकता का अभाव देखकर वे शासक बन गये। कालान्तर में उनमें और अन्य भारतीयों में कोई अंतर नहीं रहा। वे भी संपूर्ण रूप से भारतीय जनमानस में घुलमिल गये। पर

एक विशेष बात यह रही कि वे अपने को शासक श्रेणी का मानने के कारण स्वयं को श्रेष्ठ एवं कुलीन समझते थे।

हिन्दू और मुसलमानों के बीच एक दूरी तो थी लेकिन उनमें साम्प्रदायिक सौहार्द की भावना विद्यमान थी। उनमें कभी कोई साम्प्रदायिक तनाव और दंगा नहीं हुआ। जैसा कि प्रो० मुहम्मद हबीब लिखते हैं “यह विचित्र बात है कि मध्यकालीन इतिहास के राजनैतिक या ऐतिहासिक साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम द्वन्द्व का कोई छोटे से छोटा प्रमाण नहीं मिलता, लेकिन इसका कारण यह नहीं है कि हिन्दू इसके लिए तैयार न थे, नहीं। वह तो अपनी रणप्रियता के लिए बदनाम थे, लेकिन उस काल की किसी लड़ाई में भी हम सेनाओं को साम्प्रदायिक आधार पर लड़ते नहीं पाते। अफगानी सिपाहियों का एक दस्ता तराइन की लड़ाई में रायपिथौरा के नीचे लड़ा था। मुसलमानों की एक पैदल सेना ने पानीपत की लड़ाई में मराठों की मदद की थी। असली हिन्दू-मुस्लिम लड़ाई तो वास्तव में कभी हुई ही नहीं।”<sup>40</sup>

किन्तु अंग्रेजों ने ‘फूट डालो और शासन करो’ के अपने अचूक अस्त्र से मुसलमानों को हिन्दुओं के खिलाफ भड़काना शुरू कर दिया। फलस्वरूप मुस्लिम लीग जैसे साम्प्रदायिक संगठनों ने मुस्लिम राष्ट्रवाद पर जोर देना शुरू किया वहीं दूसरी ओर हिन्दू महासभा और आर०एस०एस० जैसे हिन्दुत्ववादी संगठनों ने हिन्दू राष्ट्रवाद के दृष्टिकोण को अपनाया। इन दोनों ही साम्प्रदायिक तत्वों द्वारा दो राष्ट्रों के घातक सिद्धान्त को भारतीय राजनीति में पूरी शक्ति व छल बल के साथ उछाला गया।

सन 1885 में कांग्रेस की स्थापना हुई, जिसमें हिन्दू, मुसलमान,

पारसी सभी धर्मों के लोग शामिल थे। कालान्तर में कांग्रेस ने एक राष्ट्रवादी संगठन का रूप ले लिया। “पर सर सैय्यद अहमद खाँ ने कांग्रेस को कभी पसन्द नहीं किया। वे इसकी स्थापना के समय से ही निरन्तर इसका विरोध करते रहे। मुस्लिम साम्प्रदायिकता का भूत उन पर पूरी तरह से सवार था। उन्होंने कांग्रेस के प्रति अपनी घृणा और नाराजगी कभी नहीं छिपाई। कांग्रेस के नेता बदरुद्दीन तैय्यद जी को उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा था— “मैं इस तरह की कांग्रेस का विरोध करूँगा क्योंकि इसका मूल उद्देश्य ही भारत एक राष्ट्र है, गलत है।”<sup>41</sup>

बाद में इलाहाबाद से निकलने वाले दैनिक अखबार ‘पायनियर’ में छपे अपने एक लेख में उन्होंने अपने विचारों का और खुलासा किया। इसमें उन्होंने कांग्रेस के साथ-साथ हिन्दुओं के प्रति भी अपना विद्वेष प्रकट किया। हिन्दू और मुस्लिम अलग-अलग राष्ट्र हैं, इस सिद्धान्त को सबसे पहले सर सैय्यद अहमद खाँ ने रखा था। पर ऐसा सोचने वाले सर सैय्यद अहमद खाँ अकेले नहीं थे। बंगाल के सर अमीन अली एवं अन्य कई राज्यों के कुलीन मुस्लिम यहाँ तक कि बदरुद्दीन तैय्यद जी भी उनके विचारों से सहमति रखते थे। अतः मुस्लिम साम्प्रदायिकता बड़ी तेजी से संगठित रूप लेती चली गई। ब्रिटिश शासकों ने इस साम्प्रदायिकता को पूरी तरह से न केवल बढ़ावा दिया वरन् संरक्षण भी दिया।

1905 में बंगाल-विभाजन के उपरान्त मुस्लिम साम्प्रदायिकता ने अपना मुखर रूप दिखाया। चूँकि 1905 में लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल विभाजन को लेकर भड़के राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने के लिए सरकार ने और कोई उपाय न देखकर बंगाल के कुलीन मुस्लिम साम्प्रदायिक

तत्त्वों को भड़काकर हिन्दू-मुस्लिम दंगे करवाये। इन दंगों की पहल मुसलमानों से करवायी गई। यद्यपि इन दंगों से काफी पहले गुजरात में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो चुका था, यद्यपि वह अकेला ही था। लेकिन 1905 में जो दंगे हुए उनकी निरन्तरता बनी रही अर्थात् उनका सिलसिला वहीं खत्म नहीं हो गया था।

लार्ड मिन्टों की प्रेरणा और समर्थन से विभिन्न मुस्लिम संगठनों के प्रतिनिधियों की एक बैठक 1906 में ढाका में हुई जहाँ मुस्लिम लीग की स्थापना की गई। इसके उद्देश्य निम्नलिखित थे—

1. भारतीय मुसलमानों में अंग्रेजी सरकार के प्रति राजभक्ति की भावना को बढ़ाना और यदि सरकार के किन्हीं विचारों के विषय में कोई गलत धारणा उठे तो उसे दूर करना।
2. भारतीय मुसलमानों के राजनैतिक तथा अन्य अधिकारों की रक्षा करना और उनकी आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को मर्यादापूर्ण शब्दों में सरकार के सम्मुख रखना।

इस प्रकार आरंभ से ही मुस्लिम लीग एक सांप्रदायिक सभा थी जिसका उद्देश्य केवल मुसलमानों के राजनैतिक तथा अन्य हितों की रक्षा करना था।<sup>42</sup>

सर आगा ख़ाँ के नेतृत्व में मुस्लिम लीग का एक प्रतिनिधिमण्डल 01 अक्टूबर, 1906 को शिमला में तत्कालीन वायसराय लार्ड मिन्टों से मिला। उन्होंने वायसराय को जो ज्ञापन दिया उसमें और कई माँगों के अलावा मुसलमानों के और अधिक प्रतिनिधि दल की माँग भी थी। इसके बाद मुस्लिम लीग अपने आपको मुसलमानों का एक मात्र प्रतिनिधित्व होने



का दावा करने लगी। इस प्रकार मुस्लिम लीग के अन्तर्गत मुस्लिम साम्प्रदायिकता संगठित रूप से पोषित होती रही जिसे ब्रिटिश शासकों द्वारा उचित वातावरण प्रदान किया जाता रहा। क्योंकि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच विद्वेष का बीज बोना ब्रिटिश सरकार के लिए जरूरी था और ब्रिटिश सरकार किसी भी कीमत पर अपने अचूक अस्त्र 'फूट डालो और राजकरो' की नीति पर अडिग थी।

अब मुसलमानों के हित के नाम पर मुस्लिम लीग के नेता खुलकर हिन्दुओं का विरोध करने लगे। वे जानबूझकर अपने सम्प्रदाय को राष्ट्र की मुख्य धारा से अलग रखना चाहते थे। कांग्रेस अपना धर्मनिरपेक्ष चरित्र बनाये हुए थी इसलिए मुस्लिम लीग ने कांग्रेस का विरोध और तेज कर दिया। मुस्लिम लीग हमेशा कांग्रेस पर हिन्दुओं की संस्था होने का आरोप लगाती रही।

मुस्लिम लीग की माँग पर 1909 में अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता के नाम पर मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्र की माँग स्वीकार कर हिन्दू और मुसलमानों बीच गहरी खाई पैदा कर दी। गीतेश शर्मा लिखते हैं, "बिना किसी संघर्ष और आन्दोलन के मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के लिए इन विशेषाधिकारों को मनवाकर साम्प्रदायिकता को एक सम्मानित दर्जा दिला दिया। वहीं सरकार द्वारा मुसलमानों के लिए घोषित अलग निर्वाचन क्षेत्र की बात को कांग्रेस ने स्वीकार कर साम्प्रदायिकता को स्वीकृति दे दी।"<sup>43</sup>

इस प्रकार सदियों से चला आ रहा भाईचारे का संबंध और

साम्प्रदायिक सद्भाव घृणा और विद्वेष में बदल गया और यह भावना निरन्तर बलवती होती चली गई।

1913 में सर आगा ख़ाँ के त्याग-पत्र के बाद मुस्लिम लीग का नेतृत्व मोहम्मद अली जिन्ना के हाथ में आ गया जो स्वतन्त्रता प्राप्ति तक रहा। जिन्ना साहब उदारवादी मुस्लिम नेता थे। अतः अब कांग्रेस और मुस्लिम लीग में सद्भावना बढ़ने लगी और दोनों के अधिवेशन कई वर्षों तक एक ही स्थान पर हुए। 1916 में दोनों के वार्षिक अधिवेशन लखनऊ में हुए तथा 'लखनऊ समझौता' भी सम्पन्न हुआ। इसके अनुसार मुस्लिम लीग ने स्वशासन की माँग को तथा कांग्रेस ने लीग की पृथक साम्प्रदायिक चुनाव क्षेत्रों की माँग को स्वीकार किया।

1921 में कांग्रेस ने मुस्लिम लीग से एक समझौता किया जिसके अनुसार मुस्लिम लीग कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन में शामिल होगी और कांग्रेस मुसलमानों के खिलाफत आन्दोलन को असहयोग आन्दोलन के साथ जोड़ेगी। खिलाफत आन्दोलन तुर्की खलीफाओं के धार्मिक और राजनैतिक वर्चस्व को बनाये रखने के उद्देश्य से चलाया गया था।

कांग्रेस की धारणा थी कि इस समझौते से हिन्दू-मुस्लिम एकता को बल मिलेगा और मुस्लिम लीग कांग्रेस की राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता की नीतियों से सहमत होगी। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। क्योंकि मुस्लिम लीग ने असहयोग आन्दोलन में भाग तो लिया पर वह कांग्रेस की नीतियों से कभी सहमत नहीं हुई। उसका उद्देश्य भारत की स्वाधीनता नहीं बल्कि तुर्की में मुस्लिम साम्राज्य की सुरक्षा था। बाद में असहयोग आन्दोलन को रोक देना पड़ा, जिसके साथ ही मुस्लिम लीग और कांग्रेस का समझौता

भी समाप्त हो गया। इस समझौते से हिन्दू-मुस्लिम एकता की जो लहर उठी थी, वह 1924 में देश के विभिन्न भागों में हुए हिन्दू-मुस्लिम दंगों से दब गई।

1935 के भारत शासन अधिनियम के तहत पहले चुनाव 1937 में हुए जिसमें मुस्लिम लीग को मामूली सी सफलता मिली। मुसलमानों के 485 आरक्षित स्थानों में से उसे केवल 110 सीटें ही मिलीं। यहाँ तक कि मुस्लिम बहुल प्रान्तों—पंजाब, उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त, बंगाल और सिंध में भी उसे अन्य मुस्लिम दलों से मात खानी पड़ी। मुस्लिम लीग को कुल मुस्लिम वोटों का केवल 4.6 प्रतिशत भाग ही मिल सका। जिन्ना साहब ने इसे मुस्लिम लीग के विरुद्ध कांग्रेस की सबसे बड़ी चाल बताया। उन्होंने कांग्रेस के विरुद्ध कई आरोप लगाये और कांग्रेस को हिन्दुओं की संस्था बतलाया जो अल्पसंख्यकों को दबाना चाहती है। अतः मुस्लिम लीग के बढ़ते हुए प्रभाव ने स्वाधीनता से पूर्व ही अलग देश पाकिस्तान की माँग पर जोर देना प्रारंभ कर दिया।

कभी 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा— मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' जैसा राष्ट्रवादी गीत लिखने वाले सर मोहम्मद इकबाल ने 'सर्व इस्लाम' (Pan Islamism) की भावना से प्रेरित होकर 1930 के अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए यह घोषणा की कि हम पंजाब, उत्तर-पश्चिम राज्य सिंध और बलूचिस्तान को एक राज्य के रूप में देखना चाहते हैं। उन्होंने कहा, 'ब्रिटिश शासन में या स्वाधीन भारत में, इस भारतीय मुस्लिम राज्य में कम से कम मुझे तो उत्तर-पश्चिम भारत के मुसलमानों का भविष्य

दिखाई देता है।<sup>44</sup>

इस तरह के मुस्लिम राज्य की कल्पना को 'पाकिस्तान' नाम देने का श्रेय कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक अनुस्नातक विद्यार्थी चौधरी रहमत अली को जाता है जिन्होंने सन 1927 में लंदन में अपने एक पर्चे 'अभी या कभी नहीं' में स्पष्ट लिखा कि पाकिस्तान मुसलमानों का एक पृथक राष्ट्र है जिसका क्षेत्रफल और जनसंख्या फ्रांस जितनी है। हम पृथक राज्य की मान्यता की माँग करते हैं।

कालान्तर में मोहम्मद अली जिन्ना ने मार्च 1940 को मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में स्पष्ट घोषणा की कि 'हिन्दू और मुसलमान पृथक-पृथक जातियाँ हैं। इस तरह जिन्ना साहब ने द्विराष्ट्रवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित कर हिन्दू-मुस्लिम अलगाव को और बढ़ावा दिया। उन्होंने 23 मार्च, 1940 को ब्रिटिश सरकार से लाहौर प्रस्ताव पास करवा कर मुसलमानों के लिए पृथक राष्ट्र पाकिस्तान की माँग की। मुस्लिम लीग के नेता अच्छी तरह जानते थे कि साम्प्रदायिकता उनका सबसे बड़ा हथियार है और इसके सहारे ही वह मुसलमानों का पृथक राज्य स्थापित कर सकते हैं।

पाकिस्तान की माँग गाँधीजी द्वारा विवशता में खून-खराबा होने के डर से ही स्वीकार की गई किन्तु विभाजन के समय साम्प्रदायिकता का जो तांडव नृत्य हुआ, वह सर्वविदित है।

स्वतन्त्रता के बाद कुछ वर्षों तक मुस्लिम साम्प्रदायिकता को सिर उठाने का मौका नहीं मिला। पर बाद में मुसलमानों के धार्मिक और राजनीतिक अधिकारों के नाम पर मुसलमानों के साम्प्रदायिक संगठन

उभरकर सामने आने लगे। मुस्लिम लीग जो मृतप्रायः हो चुकी थी, इण्डियन मुस्लिम लीग के के नाम से पुनर्जीवित हो उठी। कश्मीर में जनमत संग्रह मुक्ति मोर्चा तथा कश्मीर मुक्ति मोर्चा ने पैर पसारने शुरू कर दिये।

मजलिसे मुशावरत, जमाते इस्लामी जैसे कट्टर धार्मिक और राजनैतिक संगठन खुलकर मुसलमानों में साम्प्रदायिक विद्वेष भरने लगे। कभी शरीयत के नाम पर, कभी उर्दू भाषा के प्रश्न पर, कभी धार्मिक स्थानों की रक्षा के नाम पर, कभी धर्म परिवर्तन के नाम पर ये साम्प्रदायिक तत्व सक्रिय हो उठते हैं और मुसलमानों को 'इस्लाम खतरे में है' जैसे नारों द्वारा हिंसा के लिए उकसाते रहते हैं।

उमर खालिदी ने लिखा है कि, "इस्लामिक मान्यता है कि मुसलमानों की नुमांइदगी किसी मुसलमान को ही करनी चाहिए। यह आग्रह उदार लोकतंत्र में जनप्रतिनिधित्व की धारणा के खिलाफ बैठता है। साम्प्रदायिक एकता की इस कोशिश से अलग मतदाता मण्डल या अलग प्रतिनिधित्व की माँगें निकलती हैं जो हिन्दू-मुस्लिम तनाव का स्रोत बन जाती हैं।"<sup>45</sup>

सिमी (स्टूडेंट्स इस्लामिक मूवमेंट ऑफ इंडिया) जैसे संगठन भी साम्प्रदायिक पर्चे बाँटकर घनघोर साम्प्रदायिकता का विष फैलाने का कार्य करते हैं। यद्यपि यह मुस्लिम छात्रों का संगठन है लेकिन शिक्षा या शिक्षाजगत् के सवालों से इसका कोई लेना देना नहीं है। कमलेश्वर कहते हैं, "यह उन छात्रों का उग्रवादी संगठन है जिन्हें कथित रूप से मुसलमानी उसूलों के प्रसार और जेहाद के लिए तैयार किया गया है— ये पूरी दुनिया का इस्लामीकरण करना चाहते हैं। इनकी स्पष्ट घोषणा है कि जेहाद

हमारा रास्ता है।”<sup>46</sup>

आज 21वीं सदी में भी भारत का मुसलमान कुछ अपवादों को छोड़कर धार्मिक कट्टरता से ग्रसित है। वह भारतीयता से ऊपर अपने धर्म को तरजीह देता है। जो कि एक गलत धारणा है जिसे समूल नष्ट करके ही हम एक राष्ट्रीयता के लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। मुस्लिम साम्प्रदायिकता का मुकाबला हिन्दू साम्प्रदायिकता से नहीं किया जा सकता। धर्मनिरपेक्षता ही सच्चे अर्थों में इसका एक विकल्प है।

यह एक विडम्बना ही है कि महजब की छोटी-छोटी बातों को लेकर मुसलमान उत्तेजित हो मरने-मारने पर उतारू हो जाते हैं, पर रोजी-रोटी के जीने के हक के लिए इन्होंने कभी कोई संगठित प्रयास नहीं किया। अतः इस दिशा में प्रयास करना अधिक सार्थक सिद्ध होगा। मुस्लिम पर्सनल लॉ मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्वों का एक ब्रह्मास्त्र रहा है और वे बेहिचक इसका दुरुपयोग करते रहे हैं। इस संदर्भ में शाहबानों प्रकरण किसी से छिपा नहीं है।

## सिख साम्प्रदायिकता

हिन्दू और सिख प्रारंभ से ही एक-दूसरे के अविभाज्य अंग रहे हैं। इनमें कभी कहीं कोई विभाजक रेखा नहीं रहीं लेकिन कालान्तर में सिख एक अलग धर्म और जाति का रूप लेने लगा।

अंग्रेजों ने अपनी ‘फूट डालो और राज करो’ के अचूक अस्त्र से सिख धर्म को भी हिन्दू धर्म से अलगाने का कार्य किया। इस हेतु उन्होंने मेकलाफ नामक एक अंग्रेज विद्वान से ‘गुरु ग्रंथ साहब’ का अनुवाद

कराया, जिसमें सिख धर्म को हिन्दुओं से एक सर्वथा भिन्न धर्म प्रमाणित करने का प्रयास किया गया। इसी तरह अंग्रेजों ने एक कार्य और किया वह था आनन्द मैरेज कानून का पास करना। इस कानून द्वारा उन्होंने सिखों की विवाह पद्धति को हिन्दुओं से अलग किया। 1887 में एक अंग्रेज डब्ल्यू ओवेन कोल के द्वारा ब्रिटिश शासकों ने मुख्य खालसा दीवान की स्थापना करवायी। इसके पीछे उनका मुख्य उद्देश्य था सिखों को हिन्दुओं से अलग करना तथा उनमें अंग्रेजपरस्ती की भावना भरना।

आर्य समाज के शुद्धिकरण के आन्दोलन ने भी सिखों में एक भय पैदा कर दिया जिसकी वजह से सिखों की धार्मिक कट्टरता को और बल मिला। फलस्वरूप सिखों में भी धर्मसुधार आन्दोलन की लहर दौड़ी। अतः नव०, 1920 में उन्होंने अकाली दल की स्थापना की। यहीं से सिख सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण का विकास हुआ। इस समय धर्म और राजनीति में घालमेल हुआ।

खुशवंत सिंह लिखते हैं “सत्ता से हटने के बाद अकाली दल ने सिखों से भेदभाव का झूठा नारा लगाया, सिखों की साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़काया। उन्होंने कभी पंजाबी हिन्दुओं को विश्वास नें नहीं लिया और साथ ही भिण्डरावाले को पनपने का पूरा मौका दिया। भिण्डरावाले ने पहले निरंकारियों और फिर अपने आलोचकों और निर्दोष हिन्दुओं पर हमला शुरू किया जिससे समूचे देश के हिन्दुओं में सिखों के खिलाफ दुर्भावना फैलती गई।”<sup>47</sup>

## खालिस्तान आन्दोलन

1940 में पाकिस्तान प्रस्ताव पारित होने के उपरान्त मुसलमानों के लिए एक पृथक राष्ट्र की माँग जोर पकड़ने लगी। किप्स मिशन के द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भी अस्पष्ट रूप से पाकिस्तान की माँग को स्वीकार कर लिया था। अतः इससे प्रोत्साहित होकर सिख सम्प्रदाय ने भी 'आजाद पंजाब' की माँग प्रारंभ कर दी, जिसे तत्कालीन अकाली दल के नेता मास्टर तारासिंह ने अत्यन्त उकसाया। उन्होंने भी मुसलमानों की तरह यह कहना प्रारंभ कर दिया कि 'सिख भी एक राष्ट्र' हैं। इस पृथक सिख राज्य के आन्दोलन को 'खालिस्तान' कहा गया है।

अकाली दल द्वारा मार्च, 1946 में पृथक सिख राज्य का प्रस्ताव पारित कर दिया गया फलस्वरूप पंजाब में भीषण दंगे हुए जिससे पश्चिमी पंजाब की हिन्दू एवं सिख जनसंख्या को अत्यधिक त्रासदी झेलनी पड़ी। जनसंख्या का जबरन हस्तान्तरण हुआ।

हमारे राजनीतिज्ञों ने भी अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए हिन्दू और सिखों में अलगाव की स्थिति को जन्म देना प्रारंभ किया। अतः कहना शायद निरापद हो कि सिख साम्प्रदायिकता देश की आजादी के बाद की देन है। अन्ततोगत्वा 16 जून, 1980 को बलवीर सिंह संधू ने स्वर्ण मंदिर में खालिस्तान की स्थापना की घोषणा की।

अकाली दल ने भाषा के साथ धर्म को जोड़ दिया। पंजाबी जो कि पंजाब के लोगों की भाषा थी उसे 'गुरुमुखी' नाम देकर उसे धार्मिक रंग दे दिया। इसका हिन्दुत्ववादी ताकतों ने लाभ उठाया और हिन्दुओं को पंजाबी के बजाय हिन्दी को अपनी मातृभाषा के रूप में लिखने हेतु



उकसाया और यहीं से हिन्दुओं और सिखों के बीच दूरी पैदा होनी शुरू हुई। इस दूरी का लाभ राजनेताओं ने अपने-अपने राजनीतिक हितों के लिए उठाया।

1978 में सिखों में एक नेता उभरकर आया—भिण्डरावाला। भिण्डरावाला का उदय कोई अकस्मिक नहीं था। उसे एक सुनियोजित षड्यन्त्र के द्वारा ज्ञानी जैलसिंह और संजय गाँधी की मदद से अकालियों के मुकाबले खड़ा किया गया था। “भिण्डरावाला सिख युवकों में हिन्दुओं के विरुद्ध विष वमन कर सिखों में एक नयी मानसिकता को उभारा। तथ्यों को तोड़ मरोड़कर, गलत ढंग से पेश कर एक तरफ वह सिखों के अहम् को तुष्ट करता था तो दूसरी तरफ उनमें हिन्दुओं के प्रति द्वेष और नफरत भरता रहता था।”<sup>48</sup>

इस प्रकार कांग्रेस की मदद से ही भिण्डरावाला ऊपर उठा जो कालान्तर में उसी के लिए एक बड़ी चुनौती और खतरा बन बैठा।

### ऑपरेशन ब्लूस्टार

6 जून, 1984 को तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने स्वर्ण मंदिर में सैन्य कार्यवाही करवायी जिसमें भिण्डरावाले के समर्थकों सहित हजारों निर्दोष लोगों की हत्याएँ हुईं और अकाल तख्त के विध्वंस से समूचा सिख समुदाय अलग-थलग हो गया।

सिख स्वर्ण मंदिर पर हुई सैन्य कार्यवाही से आहत हुए। अतः उन्होंने इस कार्यवाही का बदला श्रीमती इंदिरा गाँधी की हत्या करके लिया। सिख साम्प्रदायिकता का इसे चरम उत्कर्ष माना जा सकता है।

चूँकि श्रीमती गाँधी के हत्यारे उसी के दो सिख अंगरक्षक थे, जो धार्मिक उन्माद के बहकावे में आकर सिख होने के नाते प्रतिशोध की भावना से ही इस जघन्य काण्ड को अंजाम दे सके। 31 अक्टूबर से लेकर 03 नवम्बर, 1984 तक दिल्ली एवं देश के विभिन्न भागों में हिन्दुओं और सिखों के बीच व्यापक स्तर पर साम्प्रदायिक दंगे हुए।

इन्दिरा गाँधी की हत्या के बाद विशेषकर दिल्ली में जो खुला कत्लेआम हुआ उसे खुशवन्त सिंह के शब्दों में यँ बयान किया जा सकता है “हजारों सिखों ने अपनी दाढ़ियाँ और केश काट डाले। सिखों के लिए इससे ज्यादा शर्मिन्दगी की बात और क्या होंगी? सैकड़ों युवा सिखों को पेट्रोल डालकर आग लगा दी गई। मारने का एक अधिक परिष्कृत तरीका यह था कि कार के टायर में पेट्रोल डालकर आग लगा दी जाए और इस जलती हुई माला को शिकार के गले में डाल दिया जाए। शहर की बाहरी बस्तियों में पड़ोसी गाँवों के छोकरीयों ने छितरे-छितरे सिखों के घरों में जाकर मर्दों को मार डाला, जो लूट सकते थे लूटा और बाकी चीजों को आग लगा दी। जवान औरतों के साथ सामूहिक बलात्कार हुए और कुछ के अपहरण हुए। दिल्ली से जाती या दिल्ली की ओर आती रेलगाड़ियों और बसों को रोका गया और सिख यात्रियों को बाहर घसीटकर जिन्दा जला दिया गया। हताहतों में कितने ही वर्दियाँ पहने सेना के अफसर भी थे। सिखों की तरफ से प्रतिरोध न के बराबर हो रहा था क्योंकि दिल्ली में सिखों की संख्या यहाँ की कुल आबादी का केवल 7 प्रतिशत ही थी।”<sup>49</sup>

मधुपूर्णिमा किश्वर इन्दिरा गाँधी की हत्या को कातिलाना हुक्म करार देते हुए लिखती हैं, “31 अक्टूबर, 1984 को इन्दिरा गाँधी की

दर्दनाक हत्या के बाद हुए साम्प्रदायिक दंगे एक विशाल ज्वालामुखी के विस्फोट जैसे थे। इस धमाके की भयानकता ने दोनों समुदायों को हिलाकर रख दिया।<sup>50</sup>

रमणिका गुप्ता कहती हैं, “आठवें दशक में पंजाब जल उठा था और सम्प्रदायवाद का एक नया भवावह संस्करण आतंकवाद के दैत्य के रूप में पूरे देश को दहशतजदा कर गया। इसका अंत इन्दिरा गाँधी की हत्या के रूप में हुआ जिसकी प्रतिक्रिया में देश भर में सिखों के खिलाफ दंगे भड़काये गये।”<sup>51</sup>

इसके बावजूद हिन्दू-सिख एकता की प्रक्रिया शीघ्र आरम्भ हो गयी। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सिख साम्प्रदायिकता आबादी के बाद की देन है जिसे हमारे राजनेताओं ने पैदा किया है। विशेष रूप से इसके लिए कांग्रेस जिम्मेदार है जिसने सिख विरोधी और हिन्दू-भावनाएँ भड़कायी हैं।

### साम्प्रदायिकता का ईसाई संदर्भ

सर्वप्रथम 16वीं शताब्दी में पोर्चुगीज नामक ईसाई मिशनरी भारत आये। वे ईसाई धर्म के कैथोलिक सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उनका उद्देश्य यहाँ ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार करना था।

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में डॉ० अलेक्जेंडर डफ आये उन्होंने ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार किया और यह प्रक्रिया आज भी जारी है। कुछ हिन्दुत्ववादी शक्तियों का मानपा है कि ये ईसाई मिशनरी अपने धर्म का प्रचार करने के अलावा यहाँ के गरीब तबकों को प्रलोभन देकर या

जोर देकर धर्म परिवर्तन कर रहे हैं। अतः हिन्दुत्ववादी ताकतों द्वारा 'हिन्दुत्व खतरे में है' का नारा दिया जा रहा है और कहा जा रहा है कि अब यह खतरा ईसाइयों से है। उनके द्वारा यह दुष्प्रचार भी किया जा रहा है कि ईसाई हिन्दू विरोधी हैं, देशद्रोही हैं जो छल-बल से इस देश का ईसाइकरण कर रहे हैं। इस तरह के झूठे और घटिया प्रचार वाले पर्चे जो लाखों की तादाद में बाँटे जा रहे हैं। वि०हि०प०, बजरंग दल इत्यादि साम्प्रदायिक दलों द्वारा ईसाई मिशनरियों द्वारा संचालित स्कूलों में तोड़-फोड़ की घटनाएँ आये दिन घट रही हैं। इतना ही नहीं ये लोग बाईबिल की होली जलाकर भी साम्प्रदायिक दंगों की आग में घी का काम रहे हैं।

धर्मान्तरण के नाम पर हिन्दुत्ववादियों ने पूरे देश भर में ईसाइयत के खिलाफ मुहिम छेड़ दी मुद्दा यह बनाया गया कि ये ईसाई मिशनरी दलितों और आदिवासियों को लोभ में फँसाकर पैसा या खाना देकर जबरन ईसाई बना रहे हैं। जबकि वर्तमान समय में धर्म परिवर्तन जबरन नहीं किया जा सकता। धर्म परिवर्तन के संदर्भ में रमणिका गुप्ता के इस विचार से पूरी तरह सहमत हुआ जा सकता है कि "हिन्दुत्ववादी शक्तियाँ अपनी कमजोरी छिपाने के लिए, हिन्दू धर्म के भेदभाव भरे प्रावधानों को कायम रखने के लिए दूसरों का विरोध करती हैं।"<sup>52</sup>

दरअसल, इस ईसाई विरोधी अभियान के कई पहलू हैं—राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक। राजनीतिक पहलू के दो पक्ष हैं पहला है, वोट की राजनीति के तहत हिन्दुओं को इकट्ठा करना और दूसरा है, भाजपा के सत्ता में आने के बाद आकाश छूती महुँगाई—खासकर प्याज, आलू, नमक आदि के चलते दिल्ली, राजस्थान में भाजपा की करारी हार से

उसकी गिरती हुई साख को फिर उसी संजीवनी बूटी से जिन्दा करने की जरूरत के तहत धर्मान्तरण को मुद्दा बनाकर ईसाइयों पर निशाना साधने की रणनीति तैयार करना। रमणिका गुप्ता के शब्दों में, “कुछ समय पहले सोनिया गांधी को ही ईसाई कहकर हिन्दुओं को खासकर सवर्ण तबकों को भड़काने का कार्य किया गया। अतः यह भाजपा के थिंक टैंक की सोची-समझी साजिश है।”<sup>53</sup>

राम पुनियानी लिखते हैं, “संघ परिवार अल्पसंख्यक विरोधी हिंसा के लिए सर्वाधिक वैधता धर्म परिवर्तन के मामले से प्राप्त करता है।”<sup>54</sup>

धर्मान्तरण के बहाने ईसाई पादी फादर स्टैंस और उनके दो मासूम बच्चों को जिन्दा जलाया गया तथा गुजरात में उनकी शिक्षण-संस्थाओं को तोड़ा-फोड़ा गया। अतः स्वाधीनता के 60 वर्ष बाद भी देश के समक्ष राष्ट्रीय एकता के लिए हिन्दुत्ववादी शक्तियों द्वारा एक बहुत बड़ी चुनौती खड़ी कर दी गई है।

धर्मान्तरण की समस्या के निदान के रूप में रमणिका गुप्ता का यह विचार बड़ा सटीक लगता है कि, “आखिर दलित जब शिक्षा प्राप्त करने के लिए या भोजन के लिए धर्मान्तरण करते हैं— ईसाई मिशनरियों के कहने पर तो भाजपा, वि०हि०प० या शिवसेना ने जो बड़े-बड़े पूँजीपतियों, थैलीशाहों और सामंतों की ही पार्टी हैं, क्यों नहीं उसी रवैये को अपना कर दलितों की शिक्षा और स्वास्थ्य का अभियान चलाया? इनको दलितों के लिए स्कूल खोलने के लिए किसने रोका था? भोजन देने से किसने मना किया था? दरअसल, ये तो आजकल भी केवल अपनी संख्या गिनाने और वोट के संदर्भ में ही दलितों को हिन्दू कहते हैं अन्यथा ये उन्हें अब भी

मनुष्य नहीं मानते। समानता का तो सवाल ही नहीं उठता।”<sup>55</sup>

यह हास्यास्पद ही लगता है कि जिन करोड़ों दलितों को हिन्दू मतावलम्बियों में मनुष्यत्व का अधिकार भी नहीं दिया और उन्हें छूना भी पाप समझा, उनके गले में भी हिन्दुत्व का पट्टा इन्होंने बाँध रखा है।

साम्प्रदायिकता के उपर्युक्त रूपों के अलावा प्रो० बिपिनचन्द्र ने आधुनिक भारत में इसके तीन रूप और माने हैं— “(1) साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता (2) उदार साम्प्रदायिकता (3) कट्टर साम्प्रदायिकता या फासीवादी साम्प्रदायिकता।”<sup>56</sup>

### 1. साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता

साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता के अन्तर्गत राष्ट्रीयता ही प्रधान होती है। समुदाय और विशेष सामुदायिक हितों की मूल अवधारणाओं को साम्प्रदायिक राष्ट्रवादी स्वीकार करते हैं किन्तु उनकी यह भी मान्यता है कि एक वृहत्तर राष्ट्र और राष्ट्रीय हितों के अन्दर ही उनका एकीकरण संभव है। वे इस बुनियादी विचारधारा के शिकार होते हैं कि समुदायिक हितों और व्यापक राष्ट्रीय हितों के बीच कोई अन्तर्विरोध नहीं है। 1920 से पहले जिन्ना ने अपने राष्ट्रवादी दौर में इसी तरह का रुख अपनाया। उन्होंने 1920 में भारतीयों से कहा कि वे धर्म को राजनीति से अलग रखें और धर्मनिरपेक्षता को अपनाएँ। उन्होंने मुस्लिम सम्प्रदायवादियों की इस धारणा का भी खण्डन किया कि भारत में स्वराज आने से हिन्दूराज हो जायेगा। उन्होंने पृथक चुनाव क्षेत्रों की धारणा का न तो सक्रिय रूप से समर्थन ही किया और न ही विरोध।”<sup>57</sup>

अपनी विचारधारा और राजनीतिक व्यवहार में अनेक हिन्दू नेता वस्तुतः साम्प्रदायिक राष्ट्रवादी थे। वे अपने आपको राष्ट्रवादी हिन्दू नहीं कहते थे। क्योंकि वे बहुसंख्यक समुदाय से थे। अतः उनकी साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता सीधी-सरल राष्ट्रीयता जैसी ही थी। दूसरी तरफ अन्य साम्प्रदायिक राष्ट्रवादी खुलेआम अपने को राष्ट्रवादी मुसलमान, राष्ट्रवादी सिख या राष्ट्रवादी ईसाई कहते थे।

## 2. उदार साम्प्रदायिकता

उदार सम्प्रदायवादी मूलतः साम्प्रदायिक राजनीति में विश्वास रखने वाले और हिस्सा लेने वाले होते हैं लेकिन साथ ही वे कुछ निश्चित उदारवादी, जनतांत्रिक मानवतावादी और राष्ट्रवादी मूल्यों में आस्था भी रखते हैं। वे इसे मान्यता देते हैं कि भारत का एक राष्ट्र के रूप में विकास होना चाहिए चूँकि “वे जानते थे कि अन्ततः भारत को एक राष्ट्र के रूप में ही देखा जाता है और उसे ऐसा ही बनाया जाना है। उनका कहना था कि भारत स्पष्ट रूप से भिन्न धर्मों पर आधारित समुदायों से बना है और जिनके अपने अलग और विशिष्ट हित हैं, जो उनके बीच साँझे नहीं हैं और जिनमें प्रायः पारस्परिक टकराव भी होता है। किन्तु उनकी यह भी मान्यता थी कि इन विभिन्न हितों को समेकित विकासशील राष्ट्रीय हितों के अन्तर्गत क्रमशः समाहित करके उनके बीच सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।”<sup>58</sup>

अतः साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन देने के बावजूद उदार सम्प्रदायवादियों की कोई भी माँग ऐसी नहीं थी जो राष्ट्रीय एकता के लिए सीधे कोई

खतरा उत्पन्न करती हो। 1920 के दशक में तो उदार सम्प्रदायवादी एक-दूसरे के वार्षिक अधिवेशनों में भी सम्मिलित होते थे। मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा इस दौरान मुख्यतः उदारवादी थी। 1924 के मुस्लिम लीग के अधिवेशन में मोहम्मद अली जिन्ना ने घोषणा की कि “मुसलमानों को संगठित करने के पीछे उनका लक्ष्य हिन्दुओं से झगड़ा करना नहीं अपितु मातृभूमि के लिए उनके साथ सहयोग करना है।”<sup>59</sup>

इसी प्रकार 1925 में हिन्दू महासभा के अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए लाला लाजपतराय ने हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात की।

प्रमुख उदार सम्प्रदायवादी हैं— सर सैय्यद अहमद खां, अल्ताफ हुसैन हाली, अली बंधु, मोहम्मद अली जिन्ना (1937ई० से पहले) तथा 1922 के बाद मदन मोहन मालवीय, लाला लाजपत राय आदि।

### 3. कट्टर साम्प्रदायिकता या फासीवादी साम्प्रदायिकता

कट्टर साम्प्रदायिकता फासीवादी लक्षणों से युक्त थी जिसमें भय एवं घृणा को हथियार के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। फासीवादी साम्प्रदायिकता के उद्भव पर विचार करते हुए प्रो० बिपिन चन्द्र लिखते हैं— “1937 के बाद ही कट्टर साम्प्रदायिकता को अधिकाधिक जनाधार मिलने लगा और वह जनमानस को अपने पक्ष में करने लगी। उदार साम्प्रदायिकता का यह परिवर्तन मूलतः 1937-38 में होना आरंभ हुआ जब मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के रूप में हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही तरह के साम्प्रदायिक संगठनों की विचारधारा एवं राजनीति फासीवादी और अतार्किक रूप धारण करने लगी।”<sup>60</sup>



फासीवादी साम्प्रदायिकता का पहला चरण अक्टूबर, 1937 में मुस्लिम लीग के लखनऊ अधिवेशन के साथ ही आरंभ हुआ। उसी वर्ष विनायक दामोदर सावरकर के नेतृत्व में हिन्दू महासभा ने भी उसी दिशा में कदम बढ़ाया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तो आरंभ से ही फासीवाद का आधार लेकर चला था किन्तु 1937 के बाद उसने महाराष्ट्र के बाहर भी अपने पैर फैलाने का प्रयास किया। अब संप्रदायवादी अधिकाधिक रूप से अपने राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध युद्ध और शत्रुता की भाषा प्रयुक्त करने लगे।

प्रो० बिपिन चन्द्र लिखते हैं, “हिन्दुओं और मुसलमानों के हितों के पूर्वक्षोपायों की आवश्यकता पर बल देने स्थान पर उनके अस्तित्व को ही खतरे में माने जाने लगा और उन्हीं के पूर्वक्षोपायों की आवश्यकता बताई जाने लगी। मुसलमान, मुसलमानी संस्कृति एवं इस्लाम, हिन्दू, हिन्दू संस्कृति एवं हिन्दुत्व के ही दमन किये जाने एवं उन्हें समाप्त कर दिये जाने के खतरे का शोर मचाने लगा।”<sup>61</sup>

यहूदी पूँजीवाद के फासिस्ट सिद्धान्त के आधार पर मुस्लिम लीग ने ‘बनिया सेंटर’ और ‘बनिया साम्राज्यवाद’ की बात कही और मुस्लिम समुदाय को, जो कारीगर थे, हिन्दू पूँजीपतियों की दया पर आश्रित बताया।

मार्च, 1941 में सिंध के एक लीगी नेता एम०एच० गाज़दर ने कराची में मुस्लिम लीग की एक सभा में कहा, “अगर हिन्दू ठीक तरह पेश नहीं आते तो उनका भी उसी प्रकार सफाया करना पड़ेगा जिस प्रकार जर्मनी में यहूदियों का उन्मूलन किया गया था।”<sup>62</sup>

इस प्रकार फासीवादी साम्प्रदायिकता में हिंसा का वातावरण तैयार करने के साथ ही अपने विरोधियों के खिलाफ प्रत्यक्ष रूप से हिंसा का सहारा लिया जाता है। अतिवादी मुसलमान संप्रदायवादियों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को एकमात्र हिन्दुओं की संस्था मानना शुरू कर दिया और इस बात की भी घोषणा की कि भारत में किसी भी प्रकार के जनतांत्रिक शासन को तात्पर्य होगा हिन्दुओं का राज। अतः अब दोनों सम्प्रदायों के मध्य शत्रुता एवं घृणा का वातावरण तैयार हो गया। दोनों पक्षों के सम्प्रदायवादी हिटलर के नक्शें कदम पर चलने लगे। वे हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सक्रिय रूप से घृणा, साम्प्रदायिक तनाव और हिंसा का वातावरण फैलाने लगे। प्रमुख फासिस्ट सम्प्रदायवादियों में प्रमुख हैं— 1937 के बाद श्यामाप्रसाद मुखर्जी, एन०सी० चटर्जी, सिकन्दर हयात खान, चौधरी खालिक उज्जमाँ, खिज़्र हयात तिवान आदि।

### निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिकता का आधार राजनैतिक, धार्मिक, भाषा, बोली कुछ भी हो सकता है। अपने ही वर्ग, जाति, धर्म या सम्प्रदाय के लोगों को लाभ पहुँचाने की प्रवृत्ति साम्प्रदायिक भावना कही जा सकती है। इस भावना के वशीभूत होकर व्यक्ति दूसरे वर्ग या जाति विशेष के व्यक्तियों से वैर—विरोध की भावना रखने लगता है और बढ़ते—बढ़ते यह वैर—विरोध साम्प्रदायिक दंगों के रूप में पनपने लगता है। और बढ़ते—बढ़ते यह वैर—विरोध साम्प्रदायिक दंगों के रूप में पनपने लगता है।

## संदर्भ

1. गीतेश शर्मा : सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगे, कलकत्ता, 1985, पृ० 53
2. बिपिन चन्द्र : आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता, दिल्ली, 1996, पृ० 24
3. गीतेश शर्मा : सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगे, कलकत्ता, 1985, पृ० 64
4. डॉ० नगेन्द्र (संपा०) : मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य-खण्ड), दिल्ली, 1965, पृ० 48
5. रामचन्द्र वर्मा (संपा०) : संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, काशी, 2014विं० (1958ई०), पृ० 964
6. श्यामसुन्दर दास (संपा०) : हिन्दी शब्द सागर, दसवाँ भाग, वाराणसी, 1973, 5040
7. ओम् प्रकाश गाबा : समाज विज्ञान कोश, दिल्ली, 1984, पृ० 44-45
8. बिपिन चन्द्र : आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता, दिल्ली, 1996, पृ० 1
9. प्रभा दीक्षित : सांप्रदायिकता का ऐतिहासिक संदर्भ, दिल्ली, 1980, पृ० भूमिका XI
10. गोपीनाथ कालभोर : धर्मनिपेक्षता और राष्ट्रीय एकता, जयपुर, 2000, पृ० 170
11. कर्ण सिंह सोमरा : सांप्रदायिक सद्भाव और राजनीतिक चेतना, जयपुर, 1992, पृ० 44
12. गीतेश शर्मा : सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगे, कलकत्ता, 1985, पृ० 18
13. अभय कुमार दुबे (संपा०) : बीच बहस में सेकुलरवाद, दिल्ली, 2005, पृ० 484
14. वही, पृ० 485
15. अरुण माहेश्वरी : नुक्कड़ जनम संवाद-‘आर०एस०एस० का सच’, जुलाई-दिसम्बर, 2001, पृ० 75
16. वी०डी०सावरकर : हिन्दुत्व, दिल्ली, 2005, पृ० 11
17. वही, पृ० 42
18. वही, पृ० 79-80
19. वही, पृ० 96
20. शम्सुल इस्लाम : भारत में अलगाववाद और धर्म, दिल्ली, 2006, पृ० 196
21. अरुण माहेश्वरी : नुक्कड़ जनम संवाद-‘आर०एस०एस० का सच’, जुलाई-दिसम्बर, 2001, पृ० 75

22. वही, पृ० 76
23. गीतेश शर्मा : सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगे, कलकत्ता, 1985, पृ० 88
24. वही
25. वही
26. वही, पृ० 89-90
27. एस०एम० चांद : महात्मा गाँधी और सांप्रदायिक एकता, ब्यावर (राज०), 1994, पृ० 87
28. वही, पृ० 88
29. गीतेश शर्मा : सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगे, कलकत्ता, 1985, पृ० 89
30. कमलेश्वर : हिन्दुत्व बनाम हिन्दुत्व, दिल्ली, 2004, पृ० 18
31. प्रभात : कृति संस्कृति संधान— 'हिन्दू सांप्रदायिकता : प्रक्रिया तथा कारण', अंक— 1, जन०—मार्च, 2003, पृ० 55
32. वही, पृ० 56
33. अरुण माहेश्वरी : नुक्कड़ जनम संवाद—'आर०एस०एस० का सच', जुलाई—दिसम्बर, 2001, पृ० 76
34. कमलेश्वर : हिन्दुत्व बनाम हिन्दुत्व, दिल्ली, 2004, पृ० 5-6
35. प्रभात : कृति संस्कृति संधान— 'हिन्दू सांप्रदायिकता : प्रक्रिया तथा कारण', अंक— 1, जन०—मार्च, 2003, पृ० 62
36. कमलेश्वर : हिन्दुत्व बनाम हिन्दुत्व, दिल्ली, 2004, पृ० 21
37. वही, पृ० 58
38. इरफान हबीब : लोक लहर, 17 जनवरी, 1993
39. रजनी पाम दत्त : आज का भारत, दिल्ली, 1977, पृ० 468
40. उद्धृत द्वारा मुहम्मद हबीब : उत्तर गाथा, अंक 6-7, जनवरी, 1981, पृ० 15
41. गीतेश शर्मा : सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगे, कलकत्ता, 1985, पृ० 96
42. वी०एल० ग्रोवर एवं यशपाल : आधुनिक भारत का इतिहास, एक नवीन मूल्यांकन, दिल्ली, 1999, पृ० 422
43. गीतेश शर्मा : सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगे, कलकत्ता, 1985, पृ० 97-98
44. उद्धृत द्वारा, वही, पृ० 99
45. अभय कुमार दुबे (संपा०) : सांप्रदायिकता के स्रोत, दिल्ली, 1993, पृ० 48
46. कमलेश्वर : हिन्दुत्व बनाम हिन्दुत्व, दिल्ली, 2004, पृ० 115
47. खुशवन्त सिंह : उत्तर गाथा, अंक— 19, अक्टू—दिस०, 1984, पृ० 47-48

48. गीतेश शर्मा : सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगे, कलकत्ता, 1985, पृ० 120
49. खुशवन्त सिंह : मेरा लहूलुहान पंजाब, दिल्ली, 1993, पृ० 98
50. मधुपूर्णिमा किश्वर : राष्ट्रवाद की चाकरी में धर्म, दिल्ली, 2005, पृ० 21
51. रमणिका गुप्ता : सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे, दिल्ली, 2004, पृ० 28
52. वही, पृ० 18
53. वही
54. रामपुनियानी : सांप्रदायिक राजनीति—तथ्य एवं मिथक, दिल्ली, 2005, पृ० 162
55. रमणिका गुप्ता : सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे, दिल्ली, 2004, पृ० 18
56. बिपिन चन्द्र : आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता, दिल्ली, 1996, पृ० 259
57. वही
58. वही, पृ० 261
59. वही, पृ० 262
60. वही, पृ० 265—66
61. वही, पृ० 266
62. वही, पृ० 270

## द्वितीय अध्याय

भारत में साम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक  
परिप्रेक्ष्य

## भारत में साम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

साम्प्रदायिकता एक जटिल परिघटना है इसे सिर्फ समसामयिक सामाजिक और राजनीतिक संदर्भों में ही नहीं समझा जा सकता, इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी है। भारत में सांप्रदायिकता के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को निम्नलिखित चरणों में विवेचित किया जा सकता है—

### 1. मध्यकालीन भारत और साम्प्रदायिकता

भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से ही सहिष्णु और उदार रही है हर नये तत्व को अपने भीतर समेटने में सक्षम रही है जैसे, तुर्कों के आक्रमण के पूर्व भारत में अनेक जातियों ने प्रवेश किया और भारतीय संस्कृति की सर्वग्राहिणी शक्ति ने अनेक विदेशी शक्तियों को आत्मसात् भी किया। किन्तु तुर्कों ने इस्लामी संस्कृति को भारतीय संस्कृति पर हावी करने का भरपूर प्रयत्न किया। भारत विजय के पश्चात् अरबों और तुर्कों ने अनेक हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाया। इससे एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि वे न केवल लूटपाट या अपना राज्य स्थापित करना चाहते थे बल्कि यहाँ पर अपना धर्म और संस्कृति स्थापित करना चाहते थे। इस तरह भारत में दो पृथक समाज स्थापित हो गये जिनके धर्म और संस्कृति सर्वथा अलग अलग थे। ये दो पृथक समाज थे हिन्दू समाज और मुस्लिम समाज। लेकिन दोनों धर्मों में आपसी सद्भाव था। इस बात के उदाहरण भी हमारे इतिहास में मौजूद हैं कि धर्म तथा संप्रदाय की संकीर्ण मानसिकता

से ऊपर उठकर सर्वधर्म समभाव के लिए यहाँ सोचा—विचारा गया है। धार्मिक तथा साम्प्रदायिक उन्माद की निन्दा की गई है।

भारती इतिहास के मध्यकाल में आने पर उक्त स्थिति में गुणात्मक बदलाव दिखाई पड़ता है। शिवकुमार मिश्र के अनुसार, “पहले सांप्रदायिक तनाव का संदर्भ वैदिक अवैदिक जातियों, धर्म तथा उनसे सम्बद्ध लोग थे, ब्राह्मण, बौद्ध, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि थे। मध्यकाल में उसका संदर्भ हिन्दू और मुसलमान बनते हैं। इस्लाम की नई शक्ति का अभ्युदय तथा उसका भारत आगमन पहले से विद्यमान नाना धर्म, मतों, संप्रदायों को तथा जातियों को सकंते में डाल देता है और उन्हें इस्लाम के प्रभुत्व के खतरे के समक्ष संगठित करने को विवश करता है।”<sup>1</sup>

किन्तु मिश्रजी की यह मान्यता कि, इस्लाम के प्रभुत्व के खतरे के कारण सांप्रदायिकता का संदर्भ परिवर्तित हो गया, नितांत एकांगी दृष्टि है क्योंकि विविध धर्मों के मध्य संघर्ष अनादि काल से होते चले आये हैं, पर उन्होंने कभी भी सांप्रदायिकता का रूप ग्रहण नहीं किया।

सांप्रदायिकता की उत्पत्ति इतिहास के सांप्रदायिक इस्तेमाल से मानी जा सकती है। भारत में इतिहास लेखन का काम पाश्चात्य विद्वानों ने शुरू किया, उन्होंने भारत के इतिहास को न केवल काफी तोड़—मरोड़ कर लिखा वरन् सर्वप्रथम सांप्रदायिक आधार पर भारत के इतिहास का काल—विभाजन भी किया। इस संदर्भ में जेम्स मिल का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने सर्वप्रथम जातीय आधार पर भारत के इतिहास को हिन्दू सभ्यता, मुस्लिम सभ्यता और ब्रिटिश सभ्यता तीन कालों में बाँटा।<sup>2</sup> उनका



यह वर्गीकरण भ्रामक और असन्तुलित है। जेम्स मिल के इतिहास का एक पहलू यह भी था कि उन्होंने जहाँ हिन्दू सभ्यता को पिछड़ा हुआ और राष्ट्र विरोधी बताया है वहीं मुस्लिम सभ्यता के प्रति इनकी सहानुभूति अधिक रही। उनका उद्देश्य था, हिन्दू और मुसलमानों के बीच फूट डालकर ब्रिटिश शासन को अक्षुण्ण बनाये रखना। इस तरह अंग्रेजों ने इतिहास लेखन में सांप्रदायिकता का विष वृक्ष खड़ा किया जिसके कडुवे फल खाने को हम आज भी मजबूर हैं।

बाद में ब्रिटिश और भारतीय इतिहासकारों ने भी जेम्स मिल का अनुसरण किया। जबकि वास्तविकता तो यह थी कि, "मध्यकाल में मुस्लिम जनता भी उतनी ही निर्धन, शोषित और दमन का शिकार थी, जितनी हिन्दू जनता और जमींदारों, जागीरदारों तथा शासकों में हिन्दू-मुसलमान दोनों थे, फिर भी इन लेखकों ने घोषित कर दिया कि उस दौर में सभी मुसलमान शासक थे और सभी हिन्दू शाषित।"<sup>3</sup>

इस तरह इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्या को बल मिला जिसके पीछे अंग्रेजों की साम्राज्यवादी और संप्रदायवादी दृष्टि काम कर रही थी। जैसा कि प्रो० बिपिन चन्द्र लिखते हैं "जिन बातों को प्रायः सांप्रदायिकता के अंतर्निहित कारण माना जाता है, इसके इतिहास लेखन में जो सांप्रदायिक धारणा दिखाई देती है वह ऐतिहासिक प्रक्रिया को उपनिवेशवाद के दृष्टिकोण से देखने का ही परिणाम है।"<sup>4</sup>

स्कूल-कॉलेजों में भारतीय इतिहास बुनियादी रूप से सांप्रदायिक दृष्टि से ही पढ़ाया जा रहा था और इससे सांप्रदायिकता के

उदय और विकास में भारी सहायता मिली। दुर्भाग्य यह रहा कि आरंभिक भारतीय इतिहासकारों ने भी इसी अवधारणा का अनुसरण करते हुए भारत के इतिहास को लिखा। यही कारण है कि सांप्रदायिक शक्तियाँ अपने आजकल के कृत्यों को वैधता प्रदान करने के लिए इसकी जड़ें मध्यकाल में तलाशती हैं। जैसे, बाबरी मस्जिद पर इस आधार पर दावा किया गया कि विदेशी आक्रान्ता बाबर ने उस स्थान पर स्थित रामजन्म भूमि मन्दिर को गिराकर उक्त मस्जिद का निर्माण करवाया। सांप्रदायिक शक्तियाँ यह भी मानती हैं कि मुस्लिम शासन हिन्दुओं पर अत्याचार और अपमान का युग था। अतः आज जब हिन्दुओं के पास राजनीतिक एकाधिकार है तो उन्हें बदला लेना चाहिए। जबकि वास्तविकता यह है कि लगभग सभी शासक चाहे वह हिन्दू हों अथवा मुसलमान, अपने राजनीतिक हितों से प्रेरित होते हैं, उनके धार्मिक विश्वास या तो कोई महत्व नहीं रखते या फिर गौण होते हैं। इस तरह का एकतरफा और सांप्रदायिक दृष्टिकोण इतिहास को केवल तोड़ता-मरोड़ता ही नहीं बल्कि धार्मिक भावनाओं को भी बढ़ावा देता है।

इस संदर्भ में असगर अली इंजीनियर की मान्यता से सहमत हुआ जा सकता है कि, “सांप्रदायिक रुझान वाले इतिहासकारों और निहित स्वार्थों वाले राजनेताओं ने हमारे मध्यकालीन इतिहास को सांप्रदायिक बना दिया है। जिसके विनाशकारी परिणाम हुए हैं। इस तरह के इतिहास ने हमारे अपने समय में (आधुनिक युग) हिन्दू-मुसलमान रिश्तों को बुरी तरह प्रभावित किया है।”<sup>5</sup>

प्रो० इरफान हबीब की मान्यता है कि, “यह कहना शायद निरापद हो कि हमारे देश में सांप्रदायिक विचारधारा को मध्यकाल के अध्ययन से जितनी खुराक मिली है, उतनी भारतीय इतिहास के किसी और काल के अध्ययन से नहीं। अनेक विद्वानों की दृष्टि में इस्लाम के आगमन से देश जैसे दो परस्पर संघर्षरत शिविरों में स्थायी रूप से विभाजित हो गया।”<sup>6</sup>

कुछेक सांप्रदायिक इतिहासकारों ने इतिहास की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। जैसा कि असगर अली इंजीनियर लिखते हैं, “कुछ सांप्रदायिक इतिहासकारों ने तो यहाँ तक कह दिया कि हमारा हिन्दू युग वास्तव में गौरवशाली था और हमारी सारी समस्याएँ मोहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के साथ ही शुरू हुईं। दूसरी तरफ मुसलमान सांप्रदायिक इतिहासकारों ने विचार दिया कि मुसलमानों से पहले के भारत में गर्व करने लायक कुछ था ही नहीं। मुसलमान शासकों ने ही भारत को सांस्कृतिक, राजनीतिक स्थिरता प्रदान की। यह कहने की जरूरत नहीं है कि दोनों तरह के विचार गलत हैं।”<sup>7</sup>

इतिहास के बारे में इस तरह के विचार घोर सांप्रदायिक हैं। क्योंकि इतिहास के किसी भी समय को स्वर्ण युग(गौरवशाली युग) नहीं कहा जा सकता। चूँकि सभी तथाकथित स्वर्ण युग संघर्षों और स्वार्थों के टकरावों से भरे पड़े हैं।

मध्यकालीन शासकों के बीच संघर्ष सत्ता को लेकर हुए जिनमें हिन्दू या मुसलमान जैसा कुछ नहीं था। इस सत्ता संघर्ष में केवल हिन्दू और मुस्लिम शासक शामिल नहीं थे बल्कि हिन्दू-हिन्दू के विरुद्ध और

मुस्लिम के विरुद्ध मुस्लिम शामिल थे। उदाहरणार्थ, जब बाबर ने इब्राहीम लोदी पर हमला किया तो राणा सांगा बाबर के साथ था और जब अकबर राणा प्रताप के विरुद्ध लड़ा तो राजा मानसिंह अकबर की ओर था और हाकिम खाँ सूरी राणा प्रताप की ओर। इसी तरह जब औरंगजेब और शिवाजी में युद्ध हुआ तो मिर्जा राजा जयसिंह औरंगजेब की सेना का सेनापति था और शिवाजी के तोपखाने का मुखिया एक पठान था। दोनों समुदायों के सांप्रदायिकतावादी इतिहास के इन तथ्यों को अनदेखा करते हैं।

मुगल सम्राट अकबर और राणा प्रताप के मध्य संघर्ष राजपूतों और मुगलों का संघर्ष न होकर मेवाड़ और केन्द्रीय सत्ता के बीच का संघर्ष था। जैसाकि एस०एम० चांद लिखते हैं, “यथार्थ में, यह कोई हिन्दू-मुसलमान का सवाल नहीं था, न यह हिन्दू और इस्लाम धर्मों का संघर्ष था। यह तो सीधा-सादा मुगल साम्राज्य और मेवाड़ राज्य के बीच संघर्ष था। यदि ऐसा न होता तो राणा प्रताप अपने एक सैन्य दल का नेतृत्व हाकिम खाँ सूर को न सौंपते, न बादशाह अकबर अपनी सारी सेना का नेतृत्व राजा मानसिंह को देता। यदि मेवाड़ का शासक कोई मुसलमान होता तो भी सम्राट अकबर यही करता। इसका कोई भी प्रमाण नहीं मिलता कि मेवाड़ के हमले के पीछे राजनैतिक के अलावा कोई और उद्देश्य था।”<sup>8</sup>

एस०एम० चाँद की उक्त मान्यता से सहमत हुआ जा सकता है कि हिन्दू और मुसलमान शासकों के बीच लड़ाइयाँ धार्मिक विद्वेष के कारण नहीं होती थीं वरन् शासन क्षेत्र के विस्तार को लेकर होती थीं। अतः ये लड़ाइयाँ विशुद्ध रूप से राजनीति से प्रेरित होती थीं।

शिवाजी के सच्चे अनुयायी होने का दम भरने वाले हिन्दू संप्रदायवादी बार—बार यह दुष्प्रचार करते हैं कि शिवाजी का उद्देश्य भारत से मुस्लिम राज और इस्लाम को समाप्त करना था। जबकि वास्तविकता इससे कोसों दूर है। शिवाजी की जल सेना का सेनापति एक मुसलमान था और इसके अतिरिक्त और भी कितने ही मुसलमान उनके यहाँ उच्च पदों पर थे। फिर कैसे कहा जा सकता है कि शिवाजी मुसलमान विरोधी थे। शिवाजी में धर्म संबंधी विशेष भाव कदापि नहीं था। एस०एम० चांद शिवाजी की धार्मिक नीति के विषय में लिखते हैं, “जिस प्रकार एक विशाल वृक्ष पर अनेक पक्षी बसते हैं उसी प्रकार एक राजा के आश्रित भिन्न—भिन्न धर्मावलम्बी अपने—अपने धर्म संबंधी विचारों का पालन करते हैं। शिवाजी इसी नीति के अनुसार अपने राज्य में किसी के धर्म संबंधी विचारों में हस्तक्षेप नहीं करते थे, वरन् दूसरों के धर्म संबंधी विचारों का भी आदर—सत्कार करते थे।”<sup>9</sup>

इसी प्रकार राणा प्रताप और शिवाजी आदि वीर—मिथक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान जानबूझकर खड़े किये गये जिन्होंने मुगल सत्ता के विरुद्ध संघर्ष किया था। ऐसे वीर—मिथकों के माध्यम से जनसाधारण को भावनात्मक स्तर पर झकझोरा गया और जानबूझकर दो समुदायों के बीच घृणा फैलायी गयी। इन वीर—मिथकों का ऐतिहासिकता और वस्तुनिष्ठता से कोई सरोकार नहीं था। क्योंकि सारे प्रमुख चरित्र नायकों का चयन उस लम्बी सूची से नहीं किया गया जिन्होंने किसी न किसी कारण अंग्रेजों से जमकर लोहा लिया था। निःसन्देह इन वीर—मिथकों

के चयन में भी सांप्रदायिकता ही झलकती है। रोमिलाथापर हरवंश मुखिया प्रभृति विद्वानों की मान्यता है कि, "सारे प्रमुख चरित्र नायक राणा प्रताप, शिवाजी और गुरु गोविन्द सिंह मध्यकालीन भारत के थे और उन्होंने मुगल सत्ता से लोहा लिया था। इन वीर मिथकों ने धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता पर किसी अन्य वैचारिक हेतु से कुठाराघात नहीं किया है। एक ही झटके में और एक प्रकार के अन्तर्मत तरीके से ये वीर मिथक द्विराष्ट्र सिद्धान्त या बुनियादी सांप्रदायिक दृष्टिकोण के पक्ष की पुष्टि कर देते थे। आखिर किस परिभाषा से वे राष्ट्रीय चरित्र नायक हैं और उनका संघर्ष राष्ट्रीय संघर्ष है? इसलिए कि वे विदेशियों के खिलाफ लड़ रहे थे? मुगल विदेशी क्यों कर थे? इसलिए कि वे मुसलमान थे? राणा प्रताप, शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह के राष्ट्रवाद में एकता का क्या सूत्र है? यही कि वे हिन्दू या गैर-मुस्लिम थे। इस तरह वीर मिथक स्वतः सांप्रदायिकता पैदा करते थे।"<sup>10</sup>

मध्यकालीन इतिहास से ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे यह ऐतिहासिक सच्चाई सामने आ जाती है कि भारत में कभी भी न तो शुद्ध हिन्दू राज्य ही स्थापित करने का योजनाबद्ध प्रयत्न किया गया और न ही शुद्ध मुस्लिम राज्य का ही। अतः आज जो अंध-संप्रदायवादी हिन्दू राज अथवा मुस्लिम राज की बातें करते हैं, वे शासन सत्ता पर अधिकार करने के उद्देश्य से जनसाधारण को गुमराह कर रहे हैं। वास्तविक हिन्दू धर्म अथवा इस्लाम के मूल सिद्धान्तों से उनका दूर का वास्ता भी नहीं है।

अतः सांप्रदायिकता आधुनिक काल की परिघटना है, मध्यकाल की नहीं जैसा कि भँवर भादानी लिखते हैं "सांप्रदायिकता का विचार मुख्यतः आधुनिक विचारधारा की उपज है जो कि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के दौरान ही विकसित हुआ था। इस दृष्टिकोण के इतिहासकार धर्म को ही सारी ऐतिहासिक घटनाओं के लिए उत्तरदायी मानते हैं।"<sup>11</sup>

यह सही है कि भारत में मुसलमानों के आगमन के पश्चात् भारतीय समाज स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजित हो गया था— हिन्दू समाज और मुस्लिम समाज। लेकिन दोनों धर्मों में आपसी सद्भाव था, क्योंकि दोनों संस्कृतियाँ लम्बे समय तक एक साथ रहीं और दोनों का एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित हुआ तो वे एक-दूसरे से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकीं। जहाँ भारतीय संस्कृति ने कुछ बातें इस्लामिक संस्कृति से ग्रहण की तो वहीं इस्लामिक संस्कृति ने भी अनेक बातें भारतीय संस्कृति से ग्रहण की और इस प्रकार दोनों संस्कृतियों के समन्वय के फलस्वरूप एक नवीन मिली-जुली(गंगा-जमुनी) संस्कृति का उदय हुआ।

अतः सांप्रदायिकता के जन्म के लिए मध्यकाल को जिम्मेदार मानना गलत होगा। मध्यकाल के लोग सांप्रदायिक की अपेक्षा धार्मिक अधिक थे। एक सच्चा धार्मिक व्यक्ति सांप्रदायिक नहीं हो सकता और एक सांप्रदायिक व्यक्ति धार्मिक नहीं हो सकता। दरअसल, मध्यकाल में हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य विद्वेष था ही नहीं। दोनों धर्मावलम्बी एक साझा संस्कृति के बराबर हिस्सेदार थे। अतः सांप्रदायिकता की उत्पत्ति के लिए मध्यकाल को जिम्मेदार मानना एकपक्षीय दृष्टि होगी। हाँ, इतना अवश्य

कहा जा सकता है कि सांप्रदायिकता मध्यकाल से खुराक अवश्य लेती रही है लेकिन इसे मध्यकाल की परिघटना नहीं कहा जा सकता।

## 2. अंग्रेजी शासन और सांप्रदायिकता

मध्ययुगीन गंगा-यमुनी हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति 19वीं शती के उत्तरार्द्ध में विखण्डित होने लगती है। इस समय हम हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सीधे-सीधे टकराव की स्थिति पाते हैं। 12वीं शताब्दी में सांप्रदायिक संघर्षों का जो रूप प्रकट हुआ वह मूलतः ब्रिटिश साम्राज्यवाद की देन है। अंग्रेज इतिहास की एक प्रगतिशील शक्ति के रूप में भारत आये थे। उनका उद्देश्य यहाँ रहना नहीं बल्कि यहाँ की लूट से अपना औद्योगिक विकास करना था। इसीलिए अपनी आर्थिक जरूरतों के मुताबिक उन्होंने भारतीय सामंतवाद को उलट कर यूरोपीय सामंतवाद का जामा पहनाया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने यहाँ से कच्चा माल सस्ते दामों में खरीद कर इंग्लैण्ड में तैयार माल को यहाँ पर महँगी कीमत पर बेचना शुरू किया। इतना ही नहीं, अन्य यूरोपीय देश जो भारत में अपना व्यापार करना चाहते थे उनसे व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा से सुरक्षा के लिए कम्पनी ने अपनी सैन्य शक्ति को भी मजबूत कर लिया और यहाँ की सुप्त राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाकर अपना राज्य भी स्थापित कर लिया। इस तरह ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना और विकास के साथ ही भारत का सम्पूर्ण परिदृश्य ही बदलता चला गया।

अब ब्रिटिश शासन का मुख्य उद्देश्य भारत के लघु एवं कुटीर



उद्योगों का विनाश कर भारतीय जनता को ब्रिटेन पर निर्भर रहने को विवश करना हो गया तत्कालीन आर्थिक परिदृश्य पर प्रकाश डालते हुए रजनी पाम दत्त लिखते हैं, “सन् 1787 में 30 लाख रुपये मूल्य की ढाका की मलमल इंग्लैण्ड भेजी गई। 1917 में यह बिलकुल बन्द हो गया। असंख्य और औद्योगिक आबादी को रोजगार देने वाली कताई और बुनाई की कला अब लुप्त हो गई है।... पतन की यह स्थिति ढाका में ही नहीं बल्कि सभी जिलों में है।”<sup>12</sup>

इस प्रकार देशी उद्योगों की बर्बादी और रोजगार के अन्य साधनों के अभाव में लाखों की संख्या में कारीगर खेती की ओर तेजी से मुड़े। फलस्वरूप कृषि पर आबादी का दबाव बढ़ गया। ब्रिटिश सरकार का यह शोषक रूप भारतीय जनता के लिए असह्य हो गया। जैसा कि गोपीनाथ कालभोर लिखते हैं, “अंग्रेजों की कारगुजारी से हिन्दू और मुस्लिम रियासतें खतरे में पड़ने लगी और रियासतों की जनता भूखी, प्यासी, अकाल से पीड़ित होने लगी तब पुनः भारतीय मुगल साम्राज्य के अंतिम नवाबों तथा रियासतों के राजाओं ने एकजुट होने का प्रयत्न कर अंग्रेजों से लोहा लेना चाहा।”<sup>13</sup>

इतिहास की इस प्रसवकालीन घटना ने भारतीय जनमानस को इतना मथा कि उसका रोष 1857 के महाविप्लव के रूप में प्रकट हुआ। “1857 के विद्रोह में हिन्दुओं और मुसलमानों ने साथ-साथ कंधे से कंधा मिलाकर उस एक मात्र विदेशी सरकार से युद्ध किया जिसके हाथों सारा भारत तकलीफ उठा रहा था। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ने अपना

क्रोध उसी विदेशी शासन पर उतारा।”<sup>14</sup> इस महाविप्लव में हिन्दू—मुसलमान ही क्यों सभी रियासती राजा, नवाब, ताल्लुकेदार, किसान, मजदूर, सिपाही, कारीगर, सेठ, साहूकार आदि सभी वर्गों और धर्मों के लोगों ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष किया।

इस महाविप्लव में हिन्दुओं से ज्यादा मुसलमानों ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि इस प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर ने किया। अतः “विद्रोह के दबा दिये जाने के बाद अंग्रेज खास तौर पर मुसलमानों के प्रति कठोर थे क्योंकि उन्होंने यह नतीजा निकाला था कि विद्रोह का नेतृत्व मुसलमानों ने किया था और वे ही इसके लिए पहले जिम्मेदार थे। अनुमान किया जाता है कि विद्रोह के दौरान और ठीक उसके बाद के दिनों में केवल दिल्ली में 27 हजार मुसलमानों को मौत की सजा दी गई थी। बहुत साल तक अंग्रेज मुसलमानों को संदेह की निगाह से देखते रहे।”<sup>15</sup>

1857 के स्वतन्त्रता संग्राम में जब विविध वर्गों और धर्मों के लोग मिलकर लड़े तो अंग्रेजों को इस बात का आभास हो गया कि अगर इस देश में एकता रही तो यहाँ ज्यादा दिन ब्रिटिश हुकूमत नहीं टिक सकती। अतः उन्होंने ‘फूट डालो और शासन करो’ की नीति अपनायी जिसके माध्यम से उन्होंने जानबूझकर भारतीय समाज में विभाजन उत्पन्न किया, सांप्रदायिक विद्वेष पैदा किया क्योंकि “एक संगठित जनता को बहुत दिनों तक गुलामी की जंजीरों में बाँधे नहीं रखा जा सकता। अतः दमन और नियंत्रण के सख्त कदमों के अतिरिक्त, अंग्रेजों ने कोशिश की कि अगर

संभव हो तो राष्ट्रीयता के ज्वार को पूरे तौर पर सुखा दिया जाये। उन्होंने फैसला किया कि जनता को असंगठित रखने, उन्हें आपस में झगड़ने और प्रतिस्पर्द्धा करते रहने के लिए, वे सब कुछ करेंगे जो कर सकते थे। विभिन्न धर्मों के नाम पर लोगों को बाँटने और भारतीय राजनीति में सांप्रदायिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने का निर्णय किया।<sup>16</sup>

बंगाल-विभाजन(1905) इसी नीति का परिणाम था। प्रकट रूप में कहा गया कि एक अलाभकारी प्रांत को बेहतर प्रशासन देने के लिए ऐसा किया जा रहा है लेकिन वास्तविक उद्देश्य था आमूल परिवर्तन चाहने वाले बंगाली राष्ट्रवादियों, पर नियंत्रण करना। इस समय वस्तुतः महत्वपूर्ण राजनीतिक चाल थी पश्चिमी और पूर्वी बंगाल के मुख्यतः हिन्दू राजनीतिज्ञों के बीच दरार डालना। तत्कालीन गृह सचिव एच०एच० रिजले ने लिखा, “एकजुट बंगाल एक शक्ति है, विभाजित बंगाल विभिन्न दिशाओं में बिखर जायेगा। यह बिलकुल सच है और यही इस योजना की एक विशेषता है।”<sup>17</sup>

16 अक्टूबर को (जिस दिन यह विभाजन प्रभावी हुआ) राष्ट्रीय शोक का दिन घोषित किया गया। आम हड़ताल हुई। लोगों ने उपवास किया। वे वन्दे-मातरम् के नारे लगाते तथा देशभक्ति के गीत गाते हुए नंगे पांव-गंगा-स्नान के लिए गये। सारे बंगालियों के बंधुत्व के प्रतीक रूप हिन्दुओं और मुसलमानों ने एक दूसरे की कलाइयों पर राखी बाँधी।<sup>18</sup>

इस समय तक हिन्दू और मुसलमानों में एकता की भावना विद्यमान थी। सांप्रदायिकता की भावना तो न के बराबर थी, जैसा कि रजनी पाम दत्त लिखते हैं, “अंग्रेजों का शासन कायम होने से पहले भारत में उस

तरह के हिन्दू-मुस्लिम झगड़े कभी नहीं दिखाई दिये जैसे झगड़े ब्रिटिश शासन-काल में और खास तौर से इसके अंतिम दिनों में देखने को मिले। किसी एक रियासत का किसी दूसरी रियासत के साथ संघर्ष भी हुआ और कभी-कभी यह भी देखने में आया कि एक रियासत का राजा हिन्दू है और दूसरी रियासत का मुसलमान लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ कि इन संघर्षों ने हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का रूप लिया हो। मुसलमान शासक हिन्दुओं को बिना किसी हिचकिचाहट के अपने यहाँ ऊँचे से ऊँचे पदों पर नियुक्त करते थे और हिन्दू शासक भी मुसलमानों के प्रति इसी तरह का रवैया अपनाते थे।<sup>19</sup>

अब अंग्रेजों ने स्पष्ट रूप से देख लिया कि भारतीय जनता में गहरा असंतोष है और अगर जनता को विभाजित नहीं किया गया तो अंग्रेजों का भारत में शासन करना मुश्किल हो जायेगा। अतः अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनायी। प्रो० बिपिन चन्द्र लिखते हैं, आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता के विकास के लिए ब्रिटिश शासन और 'फूट डालो और राज करो' की उसकी नीति खास तौर से जिम्मेदार है।... उसने सांप्रदायिकता का इस्तेमाल राष्ट्रीय आन्दोलन के विस्तार को रोकने, उसे कमजोर करने तथा भारतीय जनता को राष्ट्र के रूप में उभरने न देने के लिए किया। इसके लिए औपनिवेशिक शासकों ने बहाना यह बनाया कि अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए सांप्रदायिक विभाजन जरूरी है।<sup>20</sup>

ब्रिटिश सरकार ने भारत में सांप्रदायिकता को पालने-पोसने हेतु कई तरीके अपनाये जैसे, उसने हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों को

लगातार ऐसे अलग-अलग समुदायों का दर्जा दिया, जिनकी सामाजिक, राजनीतिक पहचान में कुछ भी साझा नहीं था। बताया गया कि भारत न तो एक राष्ट्र है, न राष्ट्र के रूप में उसका विकास हो रहा है और न वह विभिन्न जातीयताओं का समुच्चय है— उसका गठन तो धर्म पर आधारित ऐसे समुदायों से हुआ है, जिनके हित आपस में टकराते हैं। सांप्रदायिकतावादियों को सरकारी संरक्षण और रियायतें दी गईं। सांप्रदायिक पत्रों, व्यक्तियों और आंदोलनों के प्रति असाधारण सहिष्णुता दिखलाई गई। सांप्रदायिक माँगों को तुरंत स्वीकार कर लिया जाता था और इस तरह सांप्रदायिक संगठनों को राजनीतिक मजबूती दी जाती थी तथा लोगों पर उनकी पकड़ बनी रहती थी।

उदाहरण के लिए, 1885 से 1905 तक कांग्रेस अपनी एक भी माँग मंजूर नहीं करा सकी, जबकि मुस्लिम लीग ने 1906 में वाइसराय के समक्ष अपनी सांप्रदायिक माँगें रखी ही थीं कि उन्हें मान लिया गया। इसी तरह 1932 में अंग्रेजों ने, जिसे 'कम्युनल अवार्ड' कहा जाता है, उसके माध्यम से उसकी तमाम मुख्य सांप्रदायिक माँग मंजूर कर ली। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मुस्लिम सांप्रदायिकतावादियों को पूरी छूट दी गई कि वे अपनी राजनीतिक जमीन मजबूत करें। इतना ही नहीं ब्रिटिश सरकार सांप्रदायिक संगठनों और नेताओं को उनके तथाकथित समुदायों के प्रामाणिक प्रवक्ता के रूप में तत्काल स्वीकार कर लेती थी, जबकि राष्ट्रवादी नेताओं को एक छोटे से वर्ग या विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधि माना जाता था। सांप्रदायिक आधार पर बनाये गये चुनाव क्षेत्रों ने भी सांप्रदायिक राजनीति के विकास

में महत्वपूर्ण औजार का काम किया।

ब्रिटिश सरकार ने सांप्रदायिकता के खिलाफ कोई कार्यवाही नहीं की बल्कि सरकार ने सांप्रदायिक नेताओं, बुद्धिजीवियों और सरकारी कर्मचारियों को तरह-तरह की उपाधियों, लाभ के पदों आदि से विभूषित किया। सांप्रदायिक दंगों से निपटने के मामले में भी ब्रिटिश अधिकारियों एवं कर्मचारियों ने अपेक्षाकृत निष्क्रियता और गैर-जिम्मेदारी का परिचय दिया। जैसा कि प्रो० बिपिन चन्द्र लिखते हैं, “दंगों को रोकने में फुर्ती नहीं दिखाई जाती थी। राष्ट्रीयतावादी तथा जन-प्रतिवाद के अन्य आन्दोलनों को रोकने के लिए तो निवारक कदम उठाये जाते थे। पर सांप्रदायिक तनाव को बढ़ने दिया जाता था।”<sup>21</sup>

ब्रिटिश सरकार ने 1857 में भारत के तीन बड़े शहरों— कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना की। इनमें अंग्रेजी भाषा में साहित्य, राजनीति और पश्चिमी दर्शन आदि का अध्ययन प्रारंभ हुआ। ब्रिटिश सरकार का विचार था कि भारतीय नवयुवक अधिक से अधिक अंग्रेजी भाषा पढ़ें और उनमें मतभेद पैदा हों। क्योंकि भारत के इतिहास को विशेष रूप से मध्यकालीन इतिहास को न केवल काफी तोड़-मरोड़ कर लिखा गया था वरन् सबसे पहले जातीय आधार पर भारतीय इतिहास का काल-विभाजन कर सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया। रोमिला थापर के शब्दों में, “औपनिवेशिक दौर में भारतीय समाज का जो काल-विभाजन पेश किया गया उसने दो राष्ट्र के सिद्धान्त को बढ़ावा दिया। इसमें हिन्दुओं और मुसलमानों को दो ऐसे समुदायों के रूप में पेश किया गया,

जिनका रूख एक-दूसरे के प्रति आम तौर पर शत्रुतापूर्ण रहता आया है। मुस्लिम सांप्रदायिकता को औपनिवेशिक सत्ता ने न सिर्फ बढ़ावा दिया, बल्कि उसका इस्तेमाल भी किया।<sup>22</sup>

ब्रिटिश सरकार ने हिन्दू और मुसलमानों में अलगाव पैदा करने के लिए हिन्दुओं को अपने निकट आने दिया जिससे मुस्लिम अपने को उपेक्षित महसूस करने लगे। हिन्दुओं की अंग्रेजों से बढ़ती हुई नजदीकी का प्रभाव मुसलमानों पर पड़ा और इस नजदीकी का परिणाम सांप्रदायिकता के रूप में सामने आया। हिन्दुओं ने अंग्रेजी शिक्षा पद्धति से पूरा लाभ उठाया और उनके हृदय में राष्ट्रीय स्वतंत्रता के विचार घर करने लगे। दूसरी ओर भारत के मुसलमान अभी भी आर्थिक और शैक्षिक दृष्टि से हिन्दुओं के मुकाबले काफी पिछड़े हुए थे। जैसा कि रजनी पाम दत्त लिखते हैं, "सन् 1882 में हंटर कमीशन की रिपोर्ट ने यह पता लगाया कि विश्वविद्यालय की शिक्षा के मामले में औसतन मुसलमानों का अनुपात केवल 3.65 प्रतिशत है। आज भी मुसलमानों की तुलना में हिन्दुओं में साक्षर लोगों की संख्या ज्यादा है। इसलिए भारतीय बुजुर्ग वर्ग का उदय होने के साथ-साथ ऐसे भेदभावों के लिए परिस्थितियाँ तैयार हो गईं जो बहुत आसानी से सांप्रदायिक रूप धारण कर सकती थीं।"<sup>23</sup>

इस कारण अंग्रेजों ने दोनों संप्रदायों में मतभेद पैदा करने के लिए अब मुसलमानों को विशेष अधिकार एवं रियायतें देना प्रारंभ कर दिया। ब्रिटिश सरकार के समर्थन से ही ढाका में दिसम्बर, 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। "यह भारतीय मुसलमानों का प्रथम सांप्रदायिक राजनीतिक

संगठन था। मुस्लिम लीग की स्थापना के उद्देश्य रखे गये—

- (1) भारतीय मुसलमानों में ब्रिटिश राज्य के प्रति राज-भक्ति उत्पन्न करना और यदि ब्रिटिश सरकार की नीति के बारे में उनमें कोई गलत धारणा हो, तो उसे दूर करना।
- (2) मुसलमानों की माँगों को ब्रिटिश सरकार के सामने रखना और उनके हितों की रक्षा करना।
- (3) उपर्युक्त उद्देश्यों के विरुद्ध न जाते हुए मुसलमानों एवं अन्य जातियों में यथा संभव मेल-मिलाप पैदा करना।<sup>24</sup>

मुस्लिम लीग का चरित्र सरकार परस्त, सांप्रदायिक और अनुदारतावादी था। उसका संघर्ष औपनिवेशिक सत्ता से नहीं बल्कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और हिन्दुओं से था। मुसलमानों का एक शिष्ट मण्डल आगा ख़ाँ के नेतृत्व में वायसराय लॉर्ड मिंटो से मिला और उसने मुसलमानों के लिए कुछ विशेष रियायतों तथा सांप्रदायिक चुनावों की माँग की। वायसराय ने सहानुभूति दिखाई और सिद्धांत रूप में शिष्ट मण्डल की माँगों के साथ सहमति प्रकट की। मुस्लिम शिष्ट मण्डल का लॉर्ड मिंटो से यह मिलन मौलाना मुहम्मद अली के शब्दों में 'सिखाया-पढ़ाया तमाशा' था।<sup>25</sup>

1909 के मार्ले-मिंटो सुधारों के द्वारा सांप्रदायिक आधार पर पृथक मतदाता मण्डल बनाकर ब्रिटिश सरकार ने सांप्रदायिक राजनीति के फैलाव को और मजबूती प्रदान की। क्योंकि इस पद्धति के तहत मुस्लिम मतदाताओं के लिए अलग चुनाव क्षेत्र बना दिये गये, जहाँ सिर्फ मुस्लिम उम्मीदवार ही खड़े हो सकते थे और मतदान का अधिकार भी मुसलमानों



को ही था। चूँकि “इन चुनाव क्षेत्रों में सभी मतदाता एक ही धर्म को मानने वाले थे, अतः उम्मीदवारों को अन्य धर्मावलम्बियों की चिंता नहीं करनी होती थी। वे जमकर सांप्रदायिक आधार पर चुनाव प्रचार करते थे, जिससे मतदाताओं को सांप्रदायिक ढंग से सोचने और अपनी सामाजिक, आर्थिक तकलीफों को सांप्रदायिक ढंग से व्यक्त करने का प्रशिक्षण मिलता था।”<sup>26</sup>

विधायिकाओं, सरकारी नौकरियों, शिक्षण-संस्थाओं आदि में सीटों के आरक्षण की पद्धति भी अपनायी गयी जिससे मुस्लिम सांप्रदायिकता को और बढ़ावा मिला। प्रतापसिंह के शब्दों में, “भारत में नवजागरण के फलस्वरूप विभिन्न संप्रदायों और जातियों के लोग अपनी पृथक शिक्षण संस्थाएँ खोलने लगे। कुछ शिक्षण संस्थाओं की प्रकृति ऐसी थी जिससे सांप्रदायिक भावना को प्रोत्साहन मिला। मुसलमानों ने देवबन्द में दारुल-उलूम खोला, आर्य समाजियों ने गुरुकुल स्थापित किए और सनातनियों ने ऋषि कुलों की नींव डाली। इन संस्थाओं ने विभिन्न संप्रदायों को निकट लाने की अपेक्षा एक-दूसरे से पृथक अथवा दूर करने में सहयोग दिया।”<sup>27</sup>

इस प्रकार 1909 के अधिनियम (मार्ले-मिंटो सुधार) में पृथक निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार करके भारतीय राजनीति में सांप्रदायिकता के विष-वृक्ष का बीजारोपण कर दिया गया। 1909 के अधिनियम के अन्तर्गत मुसलमानों और गैर-मुसलमानों की मताधिकार संबंधी योग्यताओं में भी बड़ा अन्तर रखा गया। उदाहरणार्थ, 3000 रुपये वार्षिक आय पर कर देने वाले मुसलमान को मताधिकार प्राप्त था जबकि 3 लाख की

आमदनी पर कर देने वाले किसी हिन्दू, पारसी या ईसाई को यह अधिकार नहीं था। इसी तरह वह प्रत्येक मुसलमान जिसे स्नातक पास किये हुए 5 वर्ष हो गये हैं, मत दे सकता था जबकि अन्य जातियों के व्यक्ति, जिन्हें 30 वर्ष भी क्यों न हो गये हो, मत देने के अधिकारी नहीं थे। इस तरह इस अधिनियम द्वारा प्रतिनिधित्व के संबंध में मुसलमानों को खास रियायतें दी गई। उन्हें केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधान परिषदों में उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक सदस्यता प्रदान की गई। क्योंकि मुसलमानों को परिषदों में उचित प्रतिनिधित्व देने के उद्देश्य से ही अधिनियम द्वारा सांप्रदायिक चुनाव प्रणाली का प्रारंभ किया गया। 1909 के सुधारों ने भारत विभाजन के बीज बो दिए।

प्रतापसिंह के शब्दों में, "ब्रिटिश कूटनीति की यह भारी सफलता थी कि उसने अपनी चालाकी और मक्कारी से भारत के लगभग 6 करोड़ 20 लाख मुसलमानों को भारतीय जन-जीवन की धारा से पृथक कर दिया था।"<sup>28</sup>

इसी के समानान्तर हिन्दू सांप्रदायिकता का भी जन्म हुआ। हिन्दू सांप्रदायिकतावादी शक्तियों ने भारतीय इतिहास की औपनिवेशिक व्याख्या को स्वीकार कर मध्ययुगीन मुस्लिम शासन के अत्याचारों और मुसलमानों के हिन्दुओं पर किये गये जुल्मों का प्रचार करना शुरू कर दिया। बिपिन चन्द्र लिखते हैं, "संयुक्त प्रान्त और बिहार में उन्होंने हिन्दी को सांप्रदायिक रंग दे डाला और कहना शुरू किया कि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है और उर्दू मुसलमानों की। 1890 के दशक के पूर्वार्द्ध में पूरे भारत में गो-वध

विरोधी प्रचार किया जाने लगा और मजे की बात यह है कि सारा प्रचार मुसलमानों के खिलाफ था।<sup>29</sup>

दरअसल, हिन्दी—उर्दू भाषा का विवाद भी ब्रिटिश सरकार ने दोनों समुदायों में विद्वेष पैदा करने के लिए कराया ताकि हिन्दू और मुसलमानों में फूट पड़ सके। सन् 1900 में ब्रिटिश सरकार ने एक कानून बनाकर कहा कि सरकारी कार्यालयों व न्यायालयों में देवनागरी लिपि में लिखी हुई हिन्दी की अर्जियों व दस्तावेजों को स्वीकार किया जाये तथा कार्यालयों व न्यायालयों द्वारा प्रसारित आदेश, घोषणा—पत्र और सूचनाएँ उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं में प्रसारित किये जायें। इस कानून का मुस्लिम समुदाय ने कड़ा विरोध किया और हिन्दुओं ने इसका समर्थन किया और यह कहना प्रारंभ किया कि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है और उर्दू मुसलमानों की।

हिन्दू संप्रदायवादी शक्तियों ने भी मुसलमानों की देखा देखी विधायिकाओं और सरकारी नौकरियों में 'हिन्दू' सीटों की माँग की। "1923 में हिन्दू महासभा का भी पुनर्जन्म हुआ। उसने खुले आम मुस्लिम विरोधी भावनाएँ उभारना शुरू कर दिया। हिन्दू महासभा का घोषित उद्देश्य था हिन्दू जाति की रक्षा और हिन्दू राष्ट्र की उन्नति।"<sup>30</sup>

हिन्दू और मुसलमान, दोनों तरह के संप्रदायवादी अपने—अपने समुदाय के डर का मनोविज्ञान फैलाने लगे और यह प्रचार भी किया जाने लगा कि उन्हें किस तरह उनके हकों से वंचित रखा गया है। इसी दौर में हिन्दुओं के बीच संगठन और शुद्धि आन्दोलन तथा मुसलमानों में तंजीम

और तबलीग आन्दोलन चले, जिनका उद्देश्य सांप्रदायिक था। अतः 1923-24 के दौरान उत्तर भारत के अनेक शहरों में व्यापक पैमाने पर सांप्रदायिक दंगे हुए।

हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव और अलगाव की अनुगूँज तत्कालीन साहित्यिक और सांस्कृतिक परिदृश्य में भी सुनायी देती है। इस अनुगूँज को समझने के लिए राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' और हाली की 'मुसद्दस' को लिया जा सकता है। 'भारत-भारती' ने जहाँ समस्त हिन्दू जाति की सांस्कृतिक आकाँक्षाओं की पूर्ति की है वहीं हाली के 'मुसद्दस' में समग्र मुस्लिम जाति के उत्थान और उत्कर्ष की प्रेरणा दिखाई देती है। तभी तो सर सैय्यद अहमद ने लिखा है 'जब खुदा पूछेगा कि तू क्या लाया, मैं कहूँगा कि हाली से मुसद्दस लिखवा लाया हूँ और कुछ नहीं।' खुदा आपको जजाये खैर दे और कौम को इससे फायदा बख्शे।"<sup>31</sup>

इसी बीच 1919 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा सांप्रदायिक चुनाव पद्धति का विस्तार करके अंग्रेजों ने सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने में कोई कसर नहीं रखी। इस अधिनियम के द्वारा मुसलमानों के लिए प्रचलित सांप्रदायिक चुनाव पद्धति को न केवल बनाये रखा गया वरन् पंजाब के सिखों के लिए भी सांप्रदायिक चुनाव पद्धति की व्यवस्था की गई आदि-आदि। इस संदर्भ में प्रतापसिंह का मत है कि, "वास्तव में यह सब कुछ राष्ट्रीय एकता के प्रतिकूल था। सांप्रदायिक चुनाव पद्धति के विस्तार से भारतीयों के पारस्परिक भेदभाव पूर्वापेक्षा अधिक तीव्र हो गये और राष्ट्रीय शक्ति क्षीण होने लगी।"<sup>32</sup>

अंग्रेज तो हर प्रकार से सांप्रदायिकता को प्रोत्सहन देना चाहते थे अतः इस तर्क की आड़ में कि भारतीय स्वयं आपस में कोई समझौता नहीं कर पा रहे हैं, ब्रिटिश सरकार ने 16 अगस्त, 1932 को विभिन्न संप्रदायों के प्रतिनिधित्व के बारे में एक पंचाट प्रकाशित किया जो 'सांप्रदायिक पंचाट' के नाम से जाना जाता है। सांप्रदायिक पंचाट अथवा 'मैक्डोनल्ड पंचाट' की मुख्य बातें इस प्रकार थीं—

- (1) प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं की संख्या दुगुनी कर दी गई।
- (2) अल्पसंख्यक वर्गों के लिए, जिनमें मुसलमान, सिख तथा भारतीय ईसाई सम्मिलित थे, पृथक निर्वाचन की व्यवस्था की गई।
- (3) अछूतों को भी हिन्दुओं से अलग निर्वाचन अधिकार देने की घोषणा की गई। इस प्रकार हरिजन अछूतों को हिन्दुओं से अलग करने का प्रयत्न किया गया।
- (4) प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं में महिलाओं के लिए 3 प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिये गये।
- (5) भू-स्वामियों के लिए सुरक्षित स्थानों पर पृथक निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था की गई।
- (6) श्रम, व्यवसाय, उद्योग आदि संगठनों को भी व्यवस्थापिकाओं में विशेष स्थान दिये गये।
- (7) विभिन्न प्रान्तों में प्रतिनिधित्व के संबंध में गुरुभार(weightage) की व्यवस्था की गई, पर उसे विशेष रीति से लागू किया गया।<sup>33</sup>

इस प्रकार इस पंचाट में पृथक निर्वाचन पद्धति का अतिशय विस्तार

किया गया। स्पष्ट था कि यह सांप्रदायिक पंचाट भारतीय राष्ट्रवाद को निर्बल करने के लिए और भारत के संप्रदायगत तथा वर्गगत मतभेदों को उग्र बनाने के लिए किया गया था। यह योजना केवल प्रान्तीय मण्डलों में ही लागू की जानी थी, केन्द्रीय विधान मण्डल के निर्णय का प्रश्न अनिर्णीत छोड़ दिया गया था। अतः सांप्रदायिक पंचाट भारतीय राष्ट्रवाद को कमजोर करने की अंग्रेजों की एक सोची-समझी चाल थी।

जैसा कि प्रो० बिपिन चन्द्र लिखते हैं, “अलग निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था का राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया पर बड़ा अनिष्टकारी प्रभाव पड़ा। इसने सांप्रदायिकता के प्रसार के लिए एक बाकायदा राजनीतिक साधन उत्पन्न कर दिया। इसने एक ऐसा राजनीतिक परिवेश उत्पन्न करने में सहायता की जिसमें सांप्रदायिक तत्व फल-फूल सकते थे। इसने हिन्दुओं और मुसलमानों की अलग-अलग राजनीतिक सत्ताओं के रूप में देखने की आदत को बढ़ावा दिया और उसे सुदृढ़ किया। कुल मिलाकर, इसने सांप्रदायिक भावना को भड़काया, उसे जारी रखा और सांप्रदायिक चेतना को तीव्र किया।”<sup>34</sup>

इस प्रकार पृथक निर्वाचन क्षेत्रों ने चुनाव और विधायिकाओं को सांप्रदायिक टकराव का अखाड़ा बना दिया। क्योंकि पृथक निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था ने न केवल मुसलमानों अपितु हिन्दुओं में भी सांप्रदायिकता की भावना को सशक्त बनाया।

इस नयी चुनाव प्रणाली की व्यवस्था(1935 के अधिनियम) के तहत 1937 में आम चुनाव हुए जिसमें मुस्लिम उम्मीदवारों को अपेक्षित जीत

हासिल नहीं हुई। 482 आवंटित सीटों में से मात्र 109 पर ही मुस्लिम लीग को जीत हासिल हुई। उसे कुल मुस्लिम वोट का सिर्फ 4.8 प्रतिशत मिला। अतः अब सर सैयद अहमद और उनके समर्थकों ने यह कहना शुरू किया कि “अगर अंग्रेज भारत से चले जायेंगे तो हिन्दू अपनी संख्या बल के कारण मुसलमानों पर हावी हो जायेंगे और उनके हितों का गला घोट देंगे।”<sup>35</sup>

अब जिन्ना ने लाहौर अधिवेशन(मार्च, 1940) में स्पष्ट घोषणा की कि हिन्दू और मुसलमान पृथक-पृथक जातियाँ हैं। कालान्तर में जिन्ना की हठधार्मिता और कांग्रेस की तुष्टीकरण की नीति के कारण अखण्ड भारत का विभाजन हुआ। माउण्टबेटन योजना के आधार पर ब्रिटिश संसद द्वारा भारत स्वतंत्रता अधिनियम, 18 जुलाई, 1947 को पारित किया गया जिसके आधार पर भारत का विभाजन भारत-पाक के रूप में दो राष्ट्रों में हो गया।

इस प्रकार हिन्दू और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिकता, संकीर्णता और घृणा का जो बीज अंग्रेजों ने बोया था उसकी चरम परिणति भारत विभाजन के रूप में हुई। देश-विभाजन के कारण पूरे देश में सांप्रदायिक दंगे हुए जिनमें अपार जन-धन की हानि हुई। शरणार्थियों की समस्या भी सामने आयी। आज भी दोनों देश इस समस्या से जूझ रहे हैं।

एस०एम० चांद के शब्दों में, “हमें आजादी तो मिली—एक साम्राज्य का समस्त पाशविक बल का आततायी बोझा हमारे सिर पर से हट गया—पर उसके साथ धर्म के आधार पर देश का अप्राकृतिक बँटवारा भी

हमको मिला। आजादी और विभाजन के इस अनोखे मिश्रण से अंध सांप्रदायिकता व फासिज्म की समस्याएँ हमारे सामने खड़ी हो गईं, जिनके परिणामस्वरूप उस समय के लिए हमारी राष्ट्रीयता का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया था। धार्मिक भावनाओं का ऐसा अंधड़—सा उमड़ता चला कि हम एक ओर तो सांप्रदायिक दंगों के कुचक्र में उलझते चले गये और दूसरी ओर अपनी भारतीय राष्ट्रीयता की शुद्ध भावना को भी तोड़ने—मरोड़ने में लग गए।”<sup>36</sup>

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता की वृद्धि के लिए ब्रिटिश शासन और ब्रिटिश नीति विशेष रूप से उत्तरदायी रही है। अंग्रेजों ने सांप्रदायिकता से फायदा उठाया। अतः उन्होंने उसे बढ़ावा दिया और उसे वे उस भयावह परिणाम तक तक पहुँचाने में सहायक हुए जहाँ 1946–47 में वह पहुँची।

सन् 1946 के अगस्त के महीने में कलकत्ता में भयंकर सांप्रदायिक दंगे हुए। उसके पश्चात् पूर्वी बंगाल के नोआखाली जिले में सांप्रदायिक मुस्लिम लीगी तत्वों ने मारकाट की जिसमें अल्पसंख्यक हिन्दुओं की बहुत क्षति हुई। फिर नोआखाली के इस घटनाक्रम का बदला लेने के नाम पर बिहार में हिन्दू सांप्रदायिक तत्वों ने वहाँ के निर्दोष मुसलमानों पर हिंसात्मक हमले शुरू कर दिये और प्रांतभर में दूर—दूर तक दंगों की आग भड़क उठी।

ऐसी भीषण स्थिति में महात्मा गाँधी ने शांति अभियान किए। कलकत्ता की मारकाट को शांत करने के लिए वहाँ स्वयं महात्मा गाँधीजी



गये और कहा कि, “भाई—भाई की यह लड़ाई डराने—धमकाने या हिंसा से काम लेने से खत्म न होगी। यह तो असली समझौते, दोस्ती के साथ बातचीत और पंचायती फैसले से खत्म हो सकती है।... मैं हर एक मुसलमान को या गैर—हिन्दू को अपना सगा भाई समझता हूँ। मैं ऐसा इसलिए नहीं कहता कि मैं उसे खुश करना चाहता हूँ बल्कि इसलिए कि वह भी भारत माता का बेटा है, जिसका मैं बेटा हूँ।”<sup>37</sup>

महात्मा गाँधी ही अकेले ऐसे इन्सान थे जो इस भयानक और भड़काने वाली कार्यवाहियों व दूषित वातावरण में शांत और बेदाग रह सके। अक्टूबर, 1946 में नोआखाली में दंगे हुए, उस समय गाँधीजी दिल्ली में थे, उन्हें दंगों की खबर मिलते ही, वे तुरन्त नोआखाली चल दिये वहाँ उन्होंने हिन्दू—मुस्लिम दंगों को खत्म करने के लिए दोनों समुदायों के लोगों को संदेश देते हुए कहा, “वह बदले की भावना छोड़ दें। अगर वह लड़ते रहे तो हिन्दू धर्म—इस्लाम धर्म दोनों खत्म हो जायेंगे। .. वह उन लोगों के बीच दुःखी होकर आये हैं। भारत माता ने कौन सा पाप किया है कि उसके बच्चे—हिन्दू और मुसलमान आपस में लड़ रहे हैं।”<sup>38</sup> बहरहाल, 3 जून, 1947 को सरकारी ऐलान के जरिये हिन्दुस्तान की आजादी की घोषणा कर दी गई और साथ अखण्ड भारत का विभाजन भी कर दिया गया। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं ने देश का बंटवारा स्वीकार कर लिया। अतः आजादी के साथ ही सांप्रदायिकता भी दबे पाँव आयी। दोनों देशों की सीमा तय करने के लिए रेडक्लिफ आयोग की नियुक्ति की गई लेकिन सीमा क्षेत्र के निर्धारण का काम जिस ढंग से

किया गया उससे आपसी तनातनी बहुत अधिक बढ़ गई और जिन दंगों और झगड़ों को रोकने का प्रयास गाँधीजी कर रहे थे वह और भी ज्यादा बढ़ गये। 3 जून से 15 अगस्त, 1947 के बीच का समय गहरी तनातनी का था। अब दंगे केवल सांप्रदायिक ही नहीं रह गये थे बल्कि उनका रूप शुद्ध राजनैतिक हो गया था, इसलिए उनकी भयंकरता बढ़ गई। यही कारण है कि देश में आज भी संकीर्ण व सांप्रदायिक राष्ट्रीयता का प्रचार छुपे या खुले रूप से बराबर चालू है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ब्रिटिश सरकार ने भारत में अपना राज कायम रखने के लिए जनता में फूट डालकर सांप्रदायिकता को हमेशा बढ़ावा देकर अपनी विभाजन नीति को साकार रूप दिया।

### 3. स्वातंत्र्योत्तर भारत में सांप्रदायिकता

देश का विभाजन आधुनिक भारत की सबसे बड़ी त्रासदी है। क्योंकि इसने समाज में ऐसी कड़वाहट को जन्म दिया जिसके हम अब तक भी शिकार हैं। जैसा कि असगर अली इंजीनियर लिखते हैं, “हिन्दू संप्रदायवादी आज भी भारत में रह रहे मुसलमानों की वफादारी पर उंगली उठाते हैं और उन पर पाकिस्तान के प्रति वफादार होने का आरोप लगाते हैं। बहुसंख्यक समुदाय की भावना को भड़काने के लिए ‘मुसलमान जाये पाकिस्तान या कब्रिस्तान’ का नारा आज भी बहुत से धार्मिक—राजनीतिक जुलूसों में लगता है।”<sup>39</sup>

स्वातंत्र्योत्तर भारत में सांप्रदायिकता ने अपना उग्र रूप दिखाया।

1962 के जबलपुर दंगों ने पूरे राष्ट्र को झकझोर दिया। यह स्वतंत्र भारत में पहला बड़ा सांप्रदायिक दंगा था। जबलपुर में एक बड़े मुस्लिम बीड़ी व्यापारी के पुत्र का हिन्दू लड़की से प्रेम हो गया। लड़का, लड़की को लेकर भाग गया और इसी प्रश्न पर जबलपुर के हिन्दुओं द्वारा दंगों की शुरुआत की गई। जबलपुर के बीड़ी व्यवसाय पर मुसलमानों का लगभग अधिपत्य था। यह बात हिन्दू बीड़ी व्यवसायियों को बर्दाश्त नहीं थी। उन्होंने इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाया। हिन्दुओं की, उक्त घटना को लेकर उत्तेजित किया गया।

जबलपुर दंगों के बाद तो ऐसा कोई वर्ष या महीना नहीं गया जब देश के किसी न किसी भाग में दंगे न हुए हो। सातवें और आठवें दशक में तो दंगों की जैसे बाढ़ सी आ गयी। अस्सी के दशक में सांप्रदायिकता की समस्या ने एक नया मोड़ लिया। इस दौर में कुछ नये सांप्रदायिक संगठनों का उदय हुआ। साथ ही विश्व हिन्दू परिषद ने उग्र सांप्रदायिक रूप धारण किया विशेष रूप से तमिलनाडु राज्य के मीनाक्षीपुरम में धर्मांतरण की घटना के बाद उसका रूप अत्यन्त उग्र हो गया। इसके बाद ही जब रामजन्मभूमि बाबरी मस्जिद विवाद पैदा हुआ तो बजरंग दल भी राजनीतिक पटल पर उभरा। शिवसेना जैसी बम्बई तक सीमित आधार वाली पार्टी ने भी अपना जाल काफी विस्तृत कर लिया है। पहले इसने मराठवाड़ा में अपना राजनीतिक जाल फैलाया और इसके बाद महाराष्ट्र के दूसरे भागों में और अब हिन्दीभाषी क्षेत्रों सहित देश के अन्य भागों में अपनी शाखाएँ बनाने की कोशिश कर रही है।

विश्वहिन्दू परिषद्, बजरंग दल और शिवसेना आदि सांप्रदायिक संगठनों ने मुख्य रूप से बेरोजगार युवाओं को अपनी ओर आकर्षित किया है। वहीं दूसरी ओर जमात-ए-इस्लामी और सिमी जैसे संगठनों ने भी बेरोजगार मुस्लिम युवाओं को अपनी ओर आकर्षित किया। अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में बेरोजगारी की समस्या ने भी सांप्रदायिकता की समस्या को विस्तार देने में अपनी भूमिका निभायी है।

यदि फ्रायड की मनोवैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग करें तो कहना होगा कि हिन्दू और मुस्लिम सांप्रदायिकतावादी शक्तियों ने युवा वर्ग की आर्थिक व सामाजिक हताशा को अपने स्वार्थों के लिए दोहन करने की कोशिश की है।

आज राजनीति के मुद्दे बदल गये हैं। उसमें भ्रष्टाचार और शोषण के साथ ऐसा तालमेल बिठाया है जिसके कारण उसका विष समाज की समस्त शिराओं में व्याप्त हो गया है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में हुए प्रमुख सांप्रदायिक दंगों से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है कि सांप्रदायिक तनाव का मुख्य कारण धर्म नहीं है जैसा कि आमतौर पर माना जाता है वरन् वोटों की राजनीति है— कुत्सित राजनीति। धर्म सिर्फ निहित स्वार्थों का शक्तिशाली हथियार है जिसके माध्यम से वह अपना घटिया खेल खेलते हैं। जैसा कि असगर अली इंजीनियर लिखते हैं, “सांप्रदायिकता का आधारभूत कारण राजनीति है न कि धर्म, धर्म तो केवल इसका उपकरण या हथियार है। जहाँ सांप्रदायिकता का संबंध राजनीति से है वहीं धर्म का आस्था से है। महात्मा गाँधी और मौलाना अबुल आजाद जैसे

सच्चे धार्मिक व्यक्ति कभी सांप्रदायिक नहीं हुए। इसी तरह मुहम्मद अली जिन्ना और वीर सावरकर जैसे सांप्रदायिक व्यक्ति की कभी धर्म में सच्ची आस्था नहीं बनी। इन्होंने धर्म को सिर्फ एक राजनीतिक औजार माना। धर्म में गहरी आस्था रखने वाला व्यक्ति किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए इसका इस्तेमाल नहीं करने देगा।<sup>40</sup>

### सिख-हिन्दू सांप्रदायिकता

हिन्दू और सिख समुदाय आरंभ से एक रहे हैं, इसका कारण ये रहा कि 'गुरु गंथ साहिब' के सारे सिद्धांत हिन्दू संतों की वाणियों से अनुप्राणित हैं। लेकिन 1919 में अंग्रेजों ने सिखों को भी मुसलमानों की तरह कानून के तहत अलग दर्जा देकर सिखों को कानून की नजर में हिन्दुओं से अलग कर दिया। लेकिन इसके बाद भी भारतीय समाज में सिख सांप्रदायिकता जैसी कोई चीज पैदा नहीं हुई। सिख सांप्रदायिकता वस्तुतः स्वतंत्रता के बाद की देन है। इस सांप्रदायिकता का क्रूरतम रूप हमें 1984 में दिल्ली में हुए सिख-हिन्दू दंगों के रूप में देखने को मिला यद्यपि इससे पूर्व पंजाबी सूबे की माँग उठ चुकी थी—सिखों के एक वर्ग द्वारा खालिस्तान अलग से बनाने का आन्दोलन आरंभ हो गया था। इस आन्दोलन ने हिन्दू-सिखों के बीच घृणा और आक्रोश के बीज बो दिए। इसी आन्दोलन के तहत सिखों ने एक समुदाय ने उग्रवाद का रूप धारण कर लिया।

सिख सांप्रदायिकता को अकाली नेतृत्व ने तो बढ़ावा दिया ही, इन्दिरा गाँधी और उनकी कांग्रेस ने भी खूब उभारा। जैसा कि गीतेश शर्मा

लिखते हैं, “क्या विडम्बना है कि जिस राष्ट्रविरोधी और अलगाववादी आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव को राजीव गाँधी ने 1984 के चुनाव अभियान में मुख्य मुद्दा बनाकर वोटों के लिए जनता की भावनाओं को उभारा, यहाँ तक कि उस वक्त पूरा का पूरा विपक्ष इस मामले में राजीव गाँधी के साथ हो गया— उसी राष्ट्रविरोधी आनन्दपुर प्रस्ताव को पंजाब समझौते के दौरान राजीव गाँधी ने ही विचारार्थ सरकारिया कमीशन को सौंप दिया। अवसरवादी राजनीति की यह कलाबाजी हमारी आदर्शहीन, पतनोन्मुख राजनीति का एक और ज्वलन्त उदाहरण सामने रखती है।”<sup>41</sup>

इन्हीं स्थितियों का परिणाम दो सिख अंगरक्षकों द्वारा इन्दिरा गाँधी की हत्या और उसके बाद हुए दंगों में देखने को मिला। 31 अक्टूबर, 1984 को दो सिख अंगरक्षकों ने स्वर्ण मन्दिर में ‘ऑपरेशन ब्लू स्टार’ की प्रतिक्रिया में धार्मिक उन्माद के बहकावे में आकर इन्दिरा गाँधी की हत्या कर दी। फलस्वरूप 31 अक्टूबर से लेकर 3 नवम्बर तक दिल्ली में एवं देश के विभिन्न भागों में हिन्दू—सिखों के बीच व्यापक स्तर पर सांप्रदायिक दंगे हुए।

दिल्ली में हुए ये दंगे पूरी तरह नियोजित थे और तत्कालीन सरकारी तंत्र दंगाइयों का पूरा समर्थन कर रहा था। स्वतंत्रता के पश्चात् इतना बड़ा और भयानक नरसंहार किसी दंगे में नहीं हुआ। इन दंगों ने हिन्दू और सिखों को आमने—सामने कर दिया लेकिन हिन्दू और सिखों की समान धार्मिक भावनाओं के कारण इन दंगों के घाव जल्दी ही भर गये यद्यपि उनकी कसक अभी भी बाकी है तथा पीड़ित सिख समुदाय अभी भी इन दंगों के दुष्परिणामों को भूले नहीं हैं।

स्वतंत्रता के उपरांत दंगों की प्रकृति में भी बदलाव आया है। अब सांप्रदायिक दंगे केवल हिन्दू-मुसलमानों तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि हिन्दू सिख, सवर्ण-हरिजन, शिया-सुन्नी, हिन्दू-ईसाई में भी फैल गये हैं। ऐसा शायद ही कोई दिन जाता हो जबकि देश के किसी कोने में छोटे या बड़े पैमाने पर दंगे न होते हों। स्थिति यहाँ तक बदतर हो गई है कि मुस्लिम मौहल्लों में हिन्दू और हिन्दू मौहल्लों में मुसलमान अपने को असुरक्षित महसूस करते हैं। शहर हो या गाँव, हर जगह सांप्रदायिक और धार्मिक आधार पर टोले-मौहल्ले होने लगे। जैसे, हिन्दू टोला, मुसलमान मौहल्ला, हरिजन बस्ती, आदिवासी बस्ती आदि-आदि।

देश की आजादी के 60 वर्षों पश्चात् भी मन्दिर-मस्जिद-गुरुद्वारों के नाम पर सांप्रदायिक दंगे बंद नहीं हुए। एक ओर व्यक्ति के ईमान और नैतिकता का हर रोज जनाजा निकल रहा है तो दूसरी ओर मंदिर-मस्जिद-गुरुद्वारों के लिए सिर फुटव्वल बढ़ रही है। मजहब का मुखौटा लगाकर ईंटों और पत्थरों के लिए आज का तथाकथित मजहबी व्यक्ति एक-दूसरे की जान का प्यासा हो गया है। अतः वर्तमान संदर्भों में सांप्रदायिकता केवल हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष के रूप में ही नहीं है, इसका प्रसार सर्वत्र हो चला है।

### निष्कर्ष

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सांप्रदायिकता आधुनिक विचारधारा है जो अतीत की विचारधाराओं, संस्थाओं और ऐतिहासिक पृष्ठभूमियों के कुछ पहलुओं और तत्वों का इस्तेमाल अपने क्षुद्र स्वार्थों के

लिए करती है। वर्तमान में सांप्रदायिकता इतना विकराल रूप ले चुकी है कि इसके सामने इसकी विरोधी शक्तियाँ बौनी हो गई हैं। सांप्रदायिकतारूपी कीटाणु राष्ट्रीयता की जड़ों में घुन की तरह लग गया है और दिन-प्रतिदिन उसे खोखला किए जा रहा है। इसका कारण यह है कि हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता की जड़ें बहुत गहरी हैं और उन्हें जानबूझकर रोपा गया था। 1857 से पूर्व मुस्लिम शासन के बावजूद हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता का वैसा क्रूर और घृणास्पद स्वरूप देखने को नहीं मिलता जितना अंग्रेजी शासन के दौरान देखने को मिलता है। यद्यपि 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में भारतवासियों को घोर विफलता झेलनी पड़ी तथापि इस विफलता ने अंग्रेजी सत्ता को यह अहसास करा दिया कि अगर भारत वर्ष में हिन्दू-मुस्लिम एकता अक्षुण्ण बनी रहती है तो अंग्रेजी शासन बहुत दिन तक नहीं चल सकता। यही अहसास वह प्रस्थान बिन्दू था जिसने अंग्रेजों को भारतवर्ष में हिन्दू-मुस्लिम अलगाव और सांप्रदायिकता को पनपाने पर विवश कर दिया। इसके लिए उन्होंने योजनाबद्ध प्रयास किये जिनमें उन्हें सफलता मिली। 1947 में भारत-पाक विभाजन उनकी इस योजना की क्रूरतम परिणति थी। धर्मनिरपेक्ष भारत वर्ष आज तक अंग्रेजों की इस योजना के दुष्परिणामों को हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिक दंगों के रूप में झेल रहा है।



## संदर्भ

1. शिवकुमार मिश्र : प्रेमचन्द विरासत का सवाल, 1981, पृ० 39
2. उद्धृत द्वारा गीतेश शर्मा : सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगे, कलकत्ता, 1985, पृ० 142
3. बिपिन चन्द्र : भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, दिल्ली, 1990, पृ० 331
4. बिपिन चन्द्र : आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता, दिल्ली, 1996, पृ० 18
5. अगसर अली इंजीनियर : भारत में सांप्रदायिकता—इतिहास और अनुभव, इलाहाबाद, मई 2003, पृ० 21
6. रमेश रावत (संपा० एवं अनु०) : भारतीय इतिहास में मध्यकाल— इरफान हबीब, दिल्ली, 1999, पृ० 11
7. असगर अली इंजीनियर : भारत में सांप्रदायिकता—इतिहास और अनुभव, इलाहाबाद, मई 2003, पृ० 22
8. एस०एम० चांद : स्वाधीनता संघर्ष और सांप्रदायिक फासिज्म, ब्यावर (राज०), 1993, पृ० 101
9. वही, पृ० 105
10. रोमिला थापर, हरवंश मुखिया, बिपिन चन्द्र : सांप्रदायिकता और इतिहास लेखन, उत्तरार्द्ध, अंक 22, अक्टू०, 1984, पृ० 245
11. भवर भादानी : इतिहास— सांप्रदायिक हमला, उत्तरगाथा, अप्रैल 1979, पृ० 25
12. रजनी पाम दत्त : आज का भारत, दिल्ली, 1977, पृ० 143—144
13. गोपीनाथ कालभोर : धर्मनिपेक्षता और राष्ट्रीय एकता, जयपुर, 2000, पृ० आमुख।
14. बिपिन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, बरुण दे : स्वतंत्रता संग्राम, दिल्ली, 1972, पृ० 76—77
15. वही, पृ० 77
16. वही।
17. सुमित सरकार : आधुनिक भारत, दिल्ली, 1993, पृ० 125
18. बिपिन चन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, बरुण दे : स्वतंत्रता संग्राम, दिल्ली, 1972, पृ० 66

19. रजनी पाम दत्त : आज का भारत, दिल्ली, 1977, पृ० 462
20. बिपिन चन्द्र : भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, दिल्ली, 1990, पृ० 327-28
21. वही, पृ० 329
22. मालिनी भट्टाचार्य (संपा०) : अयोध्या-कुछ सवाल, दिल्ली, 1994, पृ० 19
23. रजनी पाम दत्त : आज का भारत, दिल्ली, 1977, पृ० 465
24. प्रताप सिंह : भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन एवं चिन्तन, जयपुर, 1985, पृ० 255
25. वही, पृ० 245
26. बिपिन चन्द्र : भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, दिल्ली, 1990, पृ० 336
27. प्रताप सिंह : भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन एवं चिन्तन, जयपुर, 1985, पृ० 251
28. वही, पृ० 256
29. बिपिन चन्द्र : भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, दिल्ली, 1990, पृ० 335
30. वही, पृ० 338
31. डॉ० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर, दिल्ली, 1957, पृ० 189
32. प्रताप सिंह : भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन एवं चिन्तन, जयपुर, 1985, पृ० 262
33. वही, पृ० 269-70
34. बिपिन चन्द्र : आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता, दिल्ली, 1996, पृ० 206
35. बिपिन चन्द्र : भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, दिल्ली, 1990, पृ० 334
36. एस०एम० चांद : स्वाधीनता संघर्ष और सांप्रदायिक फासिज़्म, ब्यावर (राज०), 1993, पृ० 43
37. वही, पृ० 44
38. वही, पृ० 45
39. असगर अली इंजीनियर : भारत में सांप्रदायिकता-इतिहास और अनुभव, इलाहाबाद, मई 2003, पृ० 102
40. वही, पृ० 122
41. वही, पृ० 126-27

तृतीय अध्याय

समकालीन राजनीति और  
साम्प्रदायिकता

## समकालीन राजनीति और साम्प्रदायिकता

सन् 1947 में हिन्दू, मुस्लिम, सिख इत्यादि सभी वर्गों के साझे प्रयासों से भारत को अंग्रेजी शासन की लम्बी दसता से मुक्ति तो मिल गई किन्तु इसके साथ ही अखण्ड भारत का धर्म के आधार पर भारत-पाक के रूप में विभाजन भी हो गया। भारत विभाजन की यह घटना एक बहुत बड़ी त्रासदी थी। यह घटना किसी देश की भौगोलिक सीमाओं के घटने-बढ़ने की ही घटना नहीं थी बल्कि सदियों से साथ रह रही दो प्रजातियों के बीच सौहार्द के टूटने की घटना भी थी।

हेतु भारद्वाज इसे एक राजनीतिक परिघटना मानते हुए लिखते हैं, “देश विभाजन की घटना मात्र एक देश के दो हिस्सों में बँट जाने की घटना ही नहीं थी, बल्कि आदमी को भीतर से तोड़ने की एक भयानक दुर्घटना थी, जिसके कारण उस समय के आदमी को जीवित रहने के संघर्ष, स्वार्थों की टकराहट, अमानवीय राजनीति के क्षुद्र प्रमाण तथ मर्यादाओं का विघटन देखना पड़ा।”<sup>1</sup>

निश्चय ही यह एक राजनीतिक परिघटना थी। देश विभाजन के पश्चात् हुए साम्प्रदायिक दंगों में जो सरेआम कत्लेआम हुए, भीषण नरसंहार हुए उनमें मानवीय मूल्यों का विध्वंस हुआ। मनुष्य भाव समाप्त हो गया और मनुष्य पशुता की चरम सीमा तक पहुँच गया। राजेन्द्र यादव के शब्दों में, “पाकिस्तान में अगर ईंट-चूने के मकान-जमीनों का ध्वंस हुआ था तो इधर सारी मर्यादाओं, नैतिक मान्यताओं, अच्छे-बुरे की बड़ी-बड़ी इमारतें गिरने लगी हैं और अस्तित्व का संघर्ष एक बार फिर मनुष्य को आदिम स्तर पर उतर आने को मजबूर कर रहा है।”<sup>2</sup>

दुर्भाग्य यह रहा कि पाकिस्तान ने एक मुस्लिम राष्ट्र के रूप में स्वरूप ग्रहण किया जबकि भारत ने एक जनतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में अपना अस्तित्व स्थापित किया। भारत और पाकिस्तान का विभाजन घृणा और

विद्वेष के साथ हुआ था फलस्वरूप भीषण नरसंहार की घटनाएँ घटित हुईं। जो विद्वेष और घृणा 1947 में उभरी थीं वे आज भी यथावत् हैं दोनों सम्प्रदाय आज भी एक-दूसरे को शक की निगाह से देखते हैं, परस्पर अविश्वास बना हुआ है और यही भारत में पनपी साम्प्रदायिक समस्या का मूल भी हैं।

तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान का स्वरूप धर्मनिरपेक्ष रखना जरूरी था। इसलिए भारतीय संविधान में यह संकल्पना और प्रतिज्ञा की गई कि भारतीय गणराज्य में एक समतावादी समाज की स्थापना होगी तथा धर्म, जाति, पंथ के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायेगा।

इस सन्दर्भ में हेतु भारद्वाज की मान्यता है कि “हमने जिस संविधान को स्वीकार किया उसका ध्येय ही स्वतन्त्र भारत में एक समतावादी समाज की स्थापना करना था तथा जिन लोगों ने यह संविधान स्वीकार किया था वे लोग स्वतन्त्रता आन्दोलन में तपकर निकले लोग थे तथा उन्हें किसी प्रकार का सत्ता लोभ भी शायद नहीं था क्योंकि वे एक बहुत बड़े मूल्य की लड़ाई के विजेता थे और राजनीति उनके लिए देश सेवा का पर्याय थी। इसलिए जिस संविधान का ढाँचा उन्होंने दिया वह निश्चय ही सामान्य जन के पक्ष में खड़ा किया गया था।”<sup>3</sup>

इस प्रकार भारत की एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में कल्पना की गई थी। लेकिन इसे एक विडम्बना ही कहा जायेगा कि हमने अपने संविधान का स्वरूप तो धर्मनिरपेक्ष रखा लेकिन हमने अपने समाज के स्वरूप की कल्पना धर्मनिरपेक्ष नहीं की और न ही अपनी समाज व्यवस्था को धर्मनिरपेक्ष बनाने का कभी कोई प्रयास ही किया। लोकतांत्रिक व्यवस्था का यह सबसे बड़ा अन्तर्विरोध था। इस अन्तर्विरोध ने सांप्रदायिकता को जन्म दिया।

संविधान में मुसलमानों को अल्पसंख्यक का दर्जा देकर तत्कालीन सत्ताधारी दल कांग्रेस ने स्वयं को मुसलमानों का सबसे बड़ा हितैषी सिद्ध कर

दिया वस्तुतः कांग्रेस ने धर्मनिरपेक्ष समाज निर्माण की प्रतिज्ञा तो की थी किन्तु व्यावहारिक स्तर पर उसने मुस्लिम तुष्टीकरण की राजनीति को प्रश्रय दिया। दूसरी ओर जनसंघ जैसे राजनीतिक दलों ने कांग्रेस की इस नीति का विरोध ही नहीं किया बल्कि मुस्लिम समुदाय के विरुद्ध अभियान छेड़ा। जनसंघ के लिए मुसलमान अत्याचारी हैं और हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के संहारक हैं। इस भावना ने देश में साम्प्रदायिक राजनीति को प्रश्रय दिया।

इस प्रकार साम्प्रदायिकता एक शुद्ध राजनीतिक परिघटना है जिसे सत्ता लोलुप राजनेताओं ने अपने शुद्ध स्वार्थों की पूर्ति हेतु पाल-पोषकर बड़ा किया है और जिसके कडुवे फल खाने को हम मजबूर हैं। यह भारतीय राजनीति का धिनौना रूप है।

आज राजनीति के मुद्दे बदल गये हैं और सत्ता पर काबिज लोग व्यर्थ की बहसों में उलझे हुए हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में राजनीति की बदलती भूमिका पर विचार करते हुए अभय कुमार दुबे लिखते हैं, “स्वतन्त्रता के उपरान्त जातिवादी और साम्प्रदायिक राजनीति में घालमेल कर दिया गया। शुरू के लगभग 20 वर्षों के दौरान स्थानीय स्तर पर चुनाव प्रचार का स्वरूप जातिवादी था, क्योंकि अल्पसंख्यकों सहित सभी लोगों की पहचान जाति ही मानी जाती थी। लेकिन इसने समाज को उतना ही बाँटा जितना कि स्पष्टतः धार्मिक या सांप्रदायिक आधार पर चुनाव-प्रचार ने बाँटा है। परिणामतः जनतांत्रिक बहुलवाद के प्रति प्रतिबद्धता विकृत होकर सांप्रदायिकता के प्रति प्रतिबद्धता में बदल गई। अल्पसंख्यकों की तुलना में बहुसंख्यकों की संख्यात्मक ताकत पर जोर दिया जाने लगा। एक मायने में सांप्रदायिकता धर्मनिरपेक्ष राजनीति की ही उपज है। यह मूलतः आदर्शों से रहित धर्मनिरपेक्ष राजनीति है।”<sup>4</sup>

निरसंदेह संख्या के इस खेल ने साम्प्रदायिक राजनीति को बढ़ावा दिया है।

चुनाव प्रचार में अकसर उन्हीं उम्मीदवारों को उतारा जाता है, जहाँ उस उम्मीदवार की जाति के मतदाता सर्वाधिक हो। आज सभी राजनीतिक दल चुनाव में धर्म, जाति और सम्प्रदाय का खुलकर सहारा ले रहे हैं। जैसे, मुस्लिम बहुल क्षेत्र में मुस्लिम उम्मीदवार खड़ा करना, हिन्दू बहुल क्षेत्र में हिन्दू उम्मीदवार खड़ा करना, जाति के आधार पर उम्मीदवार खड़ा करना—यह सब आज हमारी राजनीति का अभिन्न अंग—सा बन गया है। निस्संदेह ऐसी स्थिति में सांप्रदायिक और जातीय अपील का खुलकर इस्तेमाल होगा। यही कारण है कि आज साम्प्रदायिक आधार पर लोगों को आकर्षित किया जाने लगा है और जोड़-तोड़ की राजनीति पहचानों की भी शुरुआत हुई। यह सबसे खतरनाक स्थिति है क्योंकि इससे जातीय भी साम्प्रदायिकता का रूप लेने लगती हैं।

साम्प्रदायिकता के पंक में डूबे हुए शासक वर्ग की पोल खोलते हुए कर्णसिंह सोमरा लिखते हैं, “स्वयं शासक वर्ग के हित विभिन्न समुदायों के साम्प्रदायिक संगठनों एवं साम्प्रदायिकता के साथ जुड़े हुए हैं। वह एक सम्प्रदाय के विरुद्ध दूसरे सम्प्रदायवाद को खड़ा कर देती है। चुनावों की राजनीति, उम्मीदवारों का मनोनयन, चुनाव अभियान, सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व आदि सभी लगभग प्रत्येक राज्य में साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देते हैं।”<sup>5</sup>

वस्तुतः साम्प्रदायिक समस्या के लिए आज की वोट प्रभावित राजनीति जिम्मेदार है। अधिकतम वोट पाने के लिए राजनीतिक दल और सत्ता पर काबिज लोग अनेक हथकण्डे अपनाते हैं। यहाँ तक कि धर्म को भी राजनीति में घसीट लाते हैं। गीतेश शर्मा हिन्दू और मुसलमानों के बीच दूरी की वजह धर्म और धर्म प्रभावित आज की राजनीति को मानने हैं।<sup>6</sup>

सत्ता पर काबिज राजनेताओं द्वारा जनअसंतोष और जनता की माँगों पर ध्यान न दिया जाकर उनकी भावनाओं को उभार कर साम्प्रदायिक माहौल पैदा

करने की कोशिश इसलिए की जाती है ताकि दूसरे मुद्दे गौण पड़ जायें। हेतु भारद्वाज की इस मान्यता से सहमत हुआ जा सकता है कि, “सारे राजनेता इन्हीं संकीर्णताओं में फँसे जातिवादी या सांप्रदायिक राजनीति को बढ़ावा दे रहे हैं। अतः देश की पूरी राजनीति फर्जी मुद्दों में उलझी है और कोई भी दल यह दावा नहीं कर सकता कि वह सामान्य जन की समस्याओं को संबोधित कर रहा है। हम गाँधीजी को भूल गये जिनके लिए राजनीति का अर्थ सबसे छोटे और पिछड़े आदमी के हित की बात करना था और उसके लिए अपने एजेण्डे को समर्पित करना था। पर सामान्यजन की समस्याएँ तो आज किसी राजनीतिक दल के एजेण्डे पर ही नहीं हैं।”<sup>7</sup>

कुल मिलाकर राजनीति आज निरन्तर ओछी होती जा रही है। राजनीतिक मूल्यों का संकट भी गहराता जा रहा है। बढ़ती अस्थिरता और नेतृत्व के गहराते संकट ने साम्प्रदायिक राजनीति को और भी अधिक उर्वर भूमि प्रदान की है। इस राजनीतिक प्रक्रिया के सांप्रदायिकीकरण में खुद शासक दल की प्रत्यक्ष भूमिका से इन्कार नहीं किया जा सकता लेकिन इसे एक विडम्बना ही कहा जायेगा कि यह सब सांप्रदायिक तत्वों से लड़ने व राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को अक्षुण्ण बनाये रखने के नाम पर हो रहा है।

अभय कुमार दुबे शासक दल के धर्मनिरपेक्ष चेहरे को बेनकाब करते हुए लिखते हैं, “पंजाब में सैनिक कार्यवाही के तुरन्त बाद श्रीमती इन्दिरा गाँधी गढ़वाल गईं और उन्होंने वहाँ खुलेआम कहा कि पंजाब में हिन्दू धर्म पर हमला हो रहा है। उन्होंने सिखों, मुसलमानों और दूसरे अन्य लोगों के हमलों से हिन्दू संस्कृति की रक्षा करने की जोरदार अपील की।”<sup>8</sup> निश्चय ही श्रीमती गाँधी की इस तरह की सांप्रदायिक अपील शासक दल द्वारा सांप्रदायिकता के खुले इस्तेमाल की वास्तविकता को उजागर करती है। इस तरह की अपील समुदायगत



विद्वेष को ही बढ़ावा दे सकती है, किसी भी संस्कृति की रक्षा नहीं कर सकती।

### साम्प्रदायिकता के कारण

भारतवर्ष में साम्प्रदायिकता की समस्या स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भी थी जो राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान अंग्रेज शासकों से खाद-पानी लेती हुई फलने-फूलने लगी। फलस्वरूप अखण्ड भारत का भारत और पाकिस्तान के रूप में विभाजन हुआ जो कि उसकी चरम परिणति थी। उस समय भी राजनीति इसके लिए जिम्मेदार थी और आधुनिक काल में भी राजनीति ही इसके लिए जिम्मेदार है। अतः भारत में साम्प्रदायिकता का विकास न केवल सत्तालोलुप राजनीतिज्ञों का परिणाम था वरन् इसकी जड़ें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति में थी।

कतिपय, सांप्रदायिकता के लिए उत्तरदायी कारणों को इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है—

1. साम्प्रदायिकता का आर्थिक परिप्रेक्ष्य— अधिकतर विद्वान इस मत पर सहमत हैं कि साम्प्रदायिकता का मूल कारण आर्थिक विषमता, बेकारी, गरीबी और भुखमरी है। आजादी के बाद हिन्दुओं और मुसलमानों का एक विशेष मध्यम वर्ग पैदा हुआ जिसमें व्यापारी, ठेकेदार, शिक्षित मध्यम वर्ग और छोटे मिल मालिक शामिल थे, उनके व्यक्तिगत स्वार्थ टकराये जाने लगे। उदीयमान मध्य वर्ग में अलग-अलग व्यापारिक गुटों के बीच साम्प्रदायिक विरोध का आधार पहले से ही मौजूद था क्योंकि मुसलमान लोग ज्यादा पिछड़े हुए थे।

व्यापार और दुकानदारी को सम्पन्न मुसलमान बनिया-वक्कालों का काम समझते थे और उससे घृणा करते थे। रजनी पाम दत्त के शब्दों में, “मुसलमानों का ऊपरी वर्ग, जिसका मुख्य आधार बड़े जमींदारों में था, व्यापारिक एवं औद्योगिक पूँजीपति वर्ग की उन्नति को देखकर खुश नहीं हुआ क्योंकि उसे ऐसा

लगता था कि यह उन्नति हिन्दुओं की या 'हिन्दू बनियों' की उन्नति है। इसे वे बड़ी खतरनाक स्थिति मानते थे।<sup>9</sup>

सन् 1947-48 से लेकर 1961 तक सांप्रदायिक दंगे लगभग नहीं थे क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम सभी लोगों का एक मध्य वर्ग आर्थिक नींव तलाश रहा था। तीसरी पंचवर्षीय योजना (सन् 1964-65) के दौर में हमारी अर्थव्यवस्था डगमगाने लगी। आर्थिक व्यवस्था के डगमगाने के पीछे प्रमुख कारण भारत पर हुए बाह्य आक्रमण थे। 1962 में पहले चीनी आक्रमण हुआ और अभी उस झटके से देश बाहर निकल भी नहीं पाया था कि 1965 में पाकिस्तान से युद्ध छिड़ गया, जिससे आर्थिक प्रगति में बाधा उत्पन्न हुई।

सन् 1966-67 में पड़े सूखे ने आर्थिक दृष्टि से और ज्यादा कमजोर बना दिया। ऐसी स्थिति में साम्प्रदायिक तत्वों को बढ़ावा मिला। इन्होंने हमारी धर्मप्राण जनता की भावनाओं से खिलवाड़ करना प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार जब हम साम्प्रदायिकता के मूल कारणों की पड़ताल करते हैं तो पाते हैं कि साम्प्रदायिकता का जन्म होता है घृणा से और घृणा के मूल में धार्मिक कट्टरता नहीं होती वरन् होती है ऊँच-नीच की भावना, जिसका जन्म होता है आर्थिक विषमता से। यही भेद, यही विषमता एक-दूसरे के प्रति घृणा पैदा करती है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में दो प्रमुख सम्प्रदायों—(हिन्दू और मुसलमान) के अभिजात्य वर्ग के बीच राजनीतिक सत्ता और आर्थिक प्रतिस्पर्धा को लेकर भी साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं। 1962 में जबलपुर में हुए साम्प्रदायिक दंगे इसका स्पष्ट प्रमाण है। जबलपुर दंगा हिन्दू और मुस्लिम बीड़ी निर्माताओं के बीच आर्थिक प्रतिस्पर्धा का परिणाम था। यही कारण था कि हिन्दू बीड़ी निर्माता की बेटी और मुसलमान बीड़ी निर्माता के बेटे में प्यार हो गया और दोनों के शादी करने के फैसले ने धार्मिक उन्माद पैदा किया।

इसी प्रकार अलीगढ़ में ताला उद्योग ओर मुरादाबाद में तांबा उद्योग की प्रतिस्पर्धा के कारण भी साम्प्रदायिक तनाव पैदा हुए हैं। अतः स्पष्ट है कि दो परस्पर विरोधी समुदायों के आर्थिक हितों की टकराव ने भी साम्प्रदायिकता को जन्म दिया है।

बेरोजगारी की समस्या ने भी साम्प्रदायिकता की बढ़ोत्तरी में बहुत योगदान दिया है। विश्व हिन्दू परिषद् बजरंग दल, शिवसेना, जमात-ए-इस्लामी और सिमी (इस्लामिक स्टूडेंट ऑफ इंडिया) आदि साम्प्रदायिक संगठनों ने मुख्य रूप से बेरोजगार युवाओं को अपनी ओर आकर्षित किया है। असगर अली इंजीनियर के शब्दों में कहा जा सकता है कि, “ये संगठन बेरोजगार युवाओं को केवल काम ही नहीं देते बल्कि नेता बनने के अवसर भी प्रदान करते हैं। आगजनी और लूटपाट में बेरोजगार युवक मुख्य रूप से भाग लेते हैं। इसके उनके कुछ समय के लिए आर्थिक समस्याओं से राहत मिलती है और उनकी टेलीविजन, बीडियो, फ्रीजल हादि उपभोक्ता वस्तुएँ राने की अच्छा पूरी होती है। दिसम्बर, 1992 व जनवरी, 1993 के दंगों के दौरान दंगाइयों ने आमतौर पर ऐसी वस्तुएँ लूटीं।”<sup>10</sup>

इस तरह बेरोजगार युवा आर्थिक प्रलोभन में आकर अट्‌टर पंथियों के हाथ का खिलौना बन कर रह जाने हैं जिनका ये कट्‌टरपंथी बेजा इस्तेमाल करते हैं।

अब तक साम्प्रदायिक दंगे प्रायः उन्हीं शहरों में हुए हैं जहाँ हिन्दू-मुस्लिम आबादी लगभग बराबर है तथा उद्योगों पर दोनों ही समुदायों का आधिकार्य है जैसे अलीगढ़, मुरादाबाद, औरंगाबाद, जमशेदपुर, फिरोजाबाद, अहमदाबाद इत्यादि। असगर अली इंजीनियर भी साम्प्रदायिकता को शहरी परिघटना मानते हैं, उन्हीं के शब्दों में—“साम्प्रदायिकता एक शहरी परिघटना है जिसकी जड़ें छोटे व्यापारियों में है। इस वर्ग के पिछड़े समाज में परम्परागत रूढ़िवादी धर्म का काफी प्रभाव है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ओर जमात-ए-इस्लामी दोनों साम्प्रदायों का वास्तविक

आधार शहरी छोटा व्यापारी हैं। दोनों सम्प्रदायों के अभिजात वर्ग ने अपने गैर धार्मिक उद्देश्यों के लिए धार्मिक भावनाओं का सफलतापूर्वक दोहन किया।<sup>11</sup>

पूँजीवाद भी धर्म और साम्प्रदायिकता का इस्तेमाल अपने आर्थिक संकट के दौरान करता है। पूँजीवादी विश्व में विकास दर का प्रतिशत लगातार गिर रहा है। भारत में भी उत्पादन की दर आज लगभग जड़ है। बेरोजगारी और महँगाई बढ़ रही है। ऐसी अवस्था में पूँजीवाद शासन के पास जाति, धर्म, वर्ग, सम्प्रदाय के आधार पर अलगाववादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देकर जनता को बाँटने के सिवाय कोई हथियार नहीं रह जाता। यही कारण है कि भारत में आजादी के बाद साम्प्रदायिक दंगे लगातार बढ़ रहे हैं।

2. कुंठा और भय— कुंठा और भय भी साम्प्रदायिकता को जन्म देते हैं क्योंकि जब लोगों में असंतोष फैलता है तो वे सांप्रदायिक दंगे करने पर उतारू हो जाते हैं। 1930 और 1940 के दशकों में यह भावना विशेष रूप से उद्दीप्त हुई। क्योंकि भयानक आर्थिक मंदी और द्वितीय विश्व युद्ध से उत्पन्न अनियंत्रित मुद्रास्फीति और राजनीतिक अस्थिरता का माहौल इन्हीं दशकों में पैदा हुआ।

आर्थिक और सामाजिक असुरक्षा की भावना भारतीय समाज के कतिपय वर्गों जैसे, जमींदारों, किसानों और कारीगरों के मन में जन्मीं। लोगों ने कुंठा, असंतोष और सामाजिक संकट महसूस किया। उनको अपना वर्तमान और भविष्य असुरक्षित दिखाई देने लगा। प्रो० बिपिन चन्द्र के शब्दों में, “न केवल मुसलमान, सिख और ईसाई, जो धार्मिक रूप से अल्पसंख्यक थे, अपितु हिन्दू भी इस चिन्ता के उतने ही शिकार थे और भय तथा हिंसा की आशंका से आतंकित रहते थे। वंचित होने का, धमकाये जाने का, दबाये जाने का, हटाये जाने का, यहाँ तक कि समाप्त कर दिये जाने का—अपनी पहचान, यहाँ तक कि जीवन तक खो देने का—भय व्याप्त था।”<sup>12</sup>

साम्प्रदायिक तत्वों ने आम जनता के इस भय, असंतोष और चिन्ता का भरपूर लाभ उठाया। जहाँ एक ओर मुसलमान सम्प्रदायवादी बराबर हिन्दू प्रभुत्व की बात करते थे वहीं दूसरी ओर हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने भी हिन्दूओं के मन में मुसलमानों द्वारा दमन और प्रभुत्व तथा जबरन धर्मान्तरण का भय उत्पन्न करने का प्रयास किया।

साम्प्रदायिक दंगे भी आम तौर पर इस भय का परिणाम होते हैं कि दूसरा पक्ष हमें समाप्त कर देगा या हम पर शासन करेगा। गो-हत्या, मस्जिद के सामने संगीत, होली के अवसर पर मुसलमानों पर रंग फेंक देना, पीपल की डाल काट देना आदि छोटी-छोटी बातें साम्प्रदायिक तनाव पैदा कर देती हैं क्योंकि उनमें भय की भावना बद्धमूल रहती है।

3. कुत्सित राजनीति—सम्प्रदाय और धर्म के आधार पर बनीं राजनीतिक पार्टियाँ और संस्थाएँ भी साम्प्रदायिकता को जन्म देती हैं। हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, अकाली दल, जनसंघ आदि पार्टियाँ धर्म व सम्प्रदाय के आधार पर बनीं जो वोट पाने के लिए जनता में अलगाववाद की भावना भरती हैं। ये साम्प्रदायिक नेता साम्प्रदायिक राजनीति को आधार बना कर ही चुनाव जीतते हैं। इन तथाकथित साम्प्रदायिक नेताओं द्वारा झूठी अफवाहें फैलायी जाती हैं। फलस्वरूप साम्प्रदायिक तनाव पैदा होता है जो कि दंगों की जड़ होता है। इन दंगों में शहरी गरीब और अराजक तत्व हिस्सा लेते हैं जिन्हें राजनीतिक संरक्षण प्राप्त होता है। नरेश बंसल लिखते हैं, “अंग्रेजों द्वारा बोया गया द्वेष अब देश में विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुका है। शायद आज हमारे शासकों और राजनीतिक पार्टियों ने भी अंग्रेजों की नीति अपना ली है और धर्म के ठेकेदारों को अपने साथ मिलाकर धार्मिक या साम्प्रदायिक मुद्दे उठाते रहने हैं।”<sup>13</sup>

निश्चित ही आज हमारी राजनीति ओछी होती जा रही है—दलगत स्वार्थों

से ऊपर उठ ही नहीं पा रही है आये दिन हर विवाद को साम्प्रदायिक रंग देकर एक नई ही समस्या उत्पन्न कर देते हैं और जिसका शिकार होती है आम जनता।

आज अधिकांश राजनीतिक दल ऐसे हैं जो चुनाव में धर्म, जाति और सम्प्रदाय का खुलकर सहारा लेते हैं। मुस्लिम बहुल क्षेत्र से मुस्लिम उम्मीदार खड़ा करना, हिन्दू बहुल क्षेत्र से हिन्दू उम्मीदवार खड़ा करना, जाति के आधार पर उम्मीदवारों का चयन करना—यह सब हमारी अवसरवादी राजनीति का अभिन्न अंग—सा बनता जा रहा है। आज ऐसा कोई दल नहीं जो इस अपराध में लिप्त न हों। इस तरह धर्म और राजनीति के दो पाटों के बीच निरीह जनता पिस रही है। लेकिन धर्म इसका आधारभूत कारण नहीं है जैसा कि असगर अली इंजीनियर लिखते हैं, “साम्प्रदायिकता का आधारभूत कारण राजनीति है, न कि धर्म, धर्म तो केवल इसका उपकरण या हथियार है।”<sup>14</sup>

तथाकथित राजनेता अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु विविध हथकण्डों का इस्तेमाल करते हैं जैसे, साम्प्रदायिक दंगों के दौरान प्रशासन पर अनैतिक राजनीतिक दबाव डालकर साम्प्रदायिकता की आग को प्रज्वलित रखते हैं। क्योंकि इससे उनका स्वार्थ सधता रहता है। साम्प्रदायिक दंगों के दौरान अकसर यह देखने में आता है कि या तो कोई राजनीतिक गिरफ्तारी होती ही नहीं या हो भी जाती है तो चन्द घण्टों बाद उन्हें रिहा कर दिया जाता है। साम्प्रदायिक तत्वों का बहिष्कार करने और उन्हें दण्ड दिलाने की बजाय ये लोग दंगाइयों की रिहाई के लिए पुलिस व प्रशासन पर दबाव डालते हैं। इस प्रकार राजनेता अपना प्रभाव जमाने के लिए और सबसे बड़ी बात अपना वोट बैंक मजबूत करने के लिए धार्मिक उन्माद की अग्नि को प्रज्वलित रखते हैं जिसमें अपने स्वार्थ की रोटियाँ सेंकते रहते हैं।

अतः साम्प्रदायिक तनावों के लिए आज की कृत्स्न राजनीति जिम्मेदार है।

तथाकथित राजनेता अपनी राजनीतिक महत्वाकाँक्षाओं की पूर्ति के लिए हर घटना को साम्प्रदायिक रंग देकर अपने को जनता की निगाह में धर्म और जाति के असली रक्षक सिद्ध करने का ढोंग रचते हैं। समकालीन राजनीति की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करते हुए आशिस नंदी लिखते हैं, “कमान राजनेताओं के हाथ में रहती है और उन्हीं की आवाज पर साम्प्रदायिक हिंसा भड़काने वाले और उसे बढ़ावा देने वाले सहायक एजेण्टों की तरह काम करते हैं। साम्प्रदायिक हिंसा की यह प्रक्रिया सामान्य राजनीति का हिस्सा बन चुकी है। एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में राजनीतिक होड़ ने साम्प्रदायिक हिंसा में सबसे ज्यादा योगदान दिया है। इसके कारण साम्प्रदायिक हिंसा संगठित राजनीति के रूप में बदल गई है।”<sup>15</sup>

आशिस नंदी की यह मान्यता ठीक है कि राजनेता सांप्रदायिक तत्वों के लिए सहायक एजेण्टों का काम कर रहे हैं। यही कारण है कि देश आज साम्प्रदायिकता के नए दौर से गुजर रहा है। क्योंकि जब भी कोई दंगा होता है तो उसके प्रति राजनेताओं की प्रतिक्रिया बिलकुल मशीनी होती है—दंगे के बाद वे दंगाग्रस्त इलाकों में कोरी सहानुभूति एवं सांत्वना व्यक्त करने हेतु दौरा करते हैं पर ऐसा नहीं प्रतीत होता कि इस खून खराबे से उन्हें सच्चे अर्थों में कोई दुःख हुआ हो। उनकी नजर तो बस वोटों पर केन्द्रित होती है। लाशों में भी उन्हें वोट ही नजर आते हैं। इसलिए घटना का ज्यादा से ज्यादा राजनैतिक लाभ उठाना चाहते हैं। सत्तारूढ़ दल के नेता दुर्घटनाग्रस्त लोगों को मुआवजा देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर लेते हैं, तो विपक्षी दल के नेता घटनाओं का फायदा अपने पक्ष में करने को जमीन—आसमन के कुलाचें मिलाते रहते हैं। फलतः राजनीति की इस उठा पटक में अराजक तत्व शह पाते हैं और आम आदमी पिसता है।

गीतेश शर्मा राजनीति के इस अपराधीकारण पर टिप्पणी करते हुए ठीक ही लिखते हैं, “सजावार अपराधी को किसी न किसी राजनेता का संरक्षण प्राप्त रहता

है। परिणामस्वरूप वातावरण में कटुता बढ़ती है, लोगों में असंतोष होता है, जिसकी परिणति पुनः अगले दंगे में होती है। इस प्रकार दंगों का यह क्रम चलता रहता है। दंगे के शिकार लोगों को मुआवजा देने से थोड़ी राहत तो मिलती है लेकिन दंगे के दौरान दो सम्प्रदायों के बीच जो दूरी, वैमनस्य की जो दरार पड़ जाती है, वह इस राजनीतिक दुश्चक्र की वजह से और गहरी हो जाती है। हर नये दंगे से घाव हरे और गहरे होते चले जाते हैं।<sup>16</sup>

अतः संकीर्णता, आक्रामक क्षेत्रवाद, पृथक्तावाद तथा साम्प्रदायिकता के लिए काफी हद तक राजनीतिक नेता न केवल जिम्मेदार हैं वरन् दोषी भी हैं, उन्हें इस अपराध से मुक्त नहीं मान सकते।

तमिलनाडु में हिन्दी विरोधी भावना, बंबई में शिवसेना जैसे साम्प्रदायिक तत्वों का उभरना, पंजाब में सिख उग्रवाद का उदय, असम में विदेशी घुसपैठियों को लेकर पैदा हुआ साम्प्रदायिक तनाव, रामजन्मभूमि—बाबरी मस्जिद विवाद, गुजरात का गोधरा काण्ड आदि ऐसा मुद्दे हैं जिन्हें साम्प्रदायिक राजनीति ने ही जन्म दिया है।

(4) धर्म और साम्प्रदायिकता— धर्म भी साम्प्रदायिकता का एक प्रमुख कारण है, क्योंकि साम्प्रदायिकता का संबंध धर्म से है और भारत में इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। यही कारण है कि निहित स्वार्थी तत्वों द्वारा धर्मप्राण जनता को धर्म के नाम पर ही उकसाया जाता है। ज्यादातर दंगे किसी धार्मिक स्थान के विवाद को लेकर या धार्मिक जुलूस को लेकर हुए या फिर किसी धार्मिक अनुष्ठान को लेकर होते हैं। उदाहरणार्थ, जैसे—मुसलमान इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकते कि हिन्दुओं का धार्मिक जुलूस मस्जिद के सामने से बाजा बजाते हुए जाय। जब भी ऐसा हुआ है, मुसलमानों की ओर से धार्मिक जुलूस पर आक्रमण किया गया है और दंगे हुए हैं। होली के त्योहार पर अगर कोई गलती से भी मुसलमान पर रंग डाल दे तो



दंगा भड़क उठता है। क्योंकि मुसलमानों की ऐसी मान्यता है कि रंगों का त्योहार उनके धर्म के विरुद्ध है। इसी प्रकार गो-हत्या अथवा पीपल की डाल काट देने पर हिन्दू भड़क उठते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्प्रदायिक दंगों में हमेशा ही धार्मिक उन्माद ने, धर्मान्धता ने प्रमुख भूमिका निभायी है। निहित स्वार्थी तत्वों द्वारा धर्मोन्माद के कुहासे में धर्म के नाम पर अधर्म करने के लिए धर्मभीरु जनता को गुमराह किया जाता है।

राजनीतिक स्वार्थों और राजनीतिक महत्व के विभिन्न मुद्दों को धर्म के साथ जोड़कर हमारे राजनीतिज्ञों ने एक अंध साम्प्रदायिक उन्माद को उभरने और विकसित होने का अवसर प्रदान किया है जिसके दुष्प्रभावों से हम मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। हिन्दू-मुस्लिम दंगों के पीछे धार्मिक उन्माद होता है जो कि तथाकथित राजनेताओं और धर्म के ठेकेदारों की कारगुजारी से होते हैं। क्योंकि धार्मिक नेता अपनी रोजी-रोटी और प्रभाव बनाये रखने के लिए तथा राजनीतिक नेता वोट के लिए धार्मिक उन्माद के चूल्हे पर अपने स्वार्थ की रोटियाँ सेंकते रहते हैं।

यह सही है कि साम्प्रदायिक शक्तियाँ धर्म की दुहाई देकर अशिक्षित और धर्मभीरु जनता को साम्प्रदायिकता की आग में झोंक देती हैं। लेकिन यह भी निर्विवाद कहा जा सकता है कि धर्म और साम्प्रदायिकता नितान्त दो अलग-अलग अवधारणएँ हैं। हाँ, इतना जरूर है कि साम्प्रदायिक शक्तियाँ अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए धर्म का चश्मा लगाकर हमारी धर्मभीरु जनता को गुमराह करते हैं जिसकी परिणति दंगों के रूप में होती है।

अतः धर्म साम्प्रदायिकता का कारण नहीं है, वह तो उसका माध्यम मात्र है। प्रो० बिपिन चन्द्र के शब्दों में, 'सम्प्रदायवादी धर्म का इस्तेमाल इसलिए करते थे कि धार्मिक विभाजन की पहले से विद्यमान चेतना को प्रेरित करके राजनीतिक

विभाजन की एक अन्य ही प्रकार की चेतना को उत्पन्न किया जा सके। उन्होंने धर्म को केवल अपने राजनीतिक लक्ष्यों के लिए एक समूह एवं विभाजक सिद्धान्त के रूप में प्रयुक्त किया। इसके अतिरिक्त उनके लिए धर्म का कोई उपयोग न था।<sup>17</sup>

इस प्रकार धार्मिक भेद तो मुखौटा है जिसका प्रयोग साम्प्रदायिक शक्तियाँ अपने गैर धार्मिक सामाजिक अकांक्षाओं और संघर्षों को छिपाने के लिए करती हैं। राष्ट्रवादियों का एक बहुत बड़ा हिस्सा हिन्दू धर्म की विभिन्न विचार-सरणियों से अनुशासित था। धार्मिक प्रतीकों और मिथकों का उपयोग ये राष्ट्रवादी करते थे, लेकिन उनका मन्तव्य दूसरे धर्म के प्रति घृणा भाव पैदा करना नहीं था, बल्कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध नफरत फैलाना था। उदाहरणार्थ जैसे, तिलक ने भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में गणेश पूजा और शिवाजी उत्सव के रूप में हिन्दू पुट का इस्तेमाल किया। इन उत्सवों के पीछे तिलक का उद्देश्य जनता को एकत्रित करना था, जिससे संवाद स्थापित हो सके।

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि धर्म और साम्प्रदायिकता नितान्त विरोधी अवधारणाएँ हैं। धर्म जोड़ता है जबकि साम्प्रदायिकता तोड़ती हैं। अतः धर्म न तो साम्प्रदायिकता का कारण है और न ही उसका अन्तिम लक्ष्य, वह तो उसका औजार मात्र है।

आज प्रायः साम्प्रदायिकता को धर्म का पर्याय बनाकर पेश किया जाता है। यही कारण है कि लोग धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर जान की बाजी लगा देंगे पर रोटी के सवाल पर नहीं, जीने के बुनियादी अधिकारों के लिए नहीं। लोग भूखें मर जायेंगे पर विद्रोह नहीं करेंगे।

(6) विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका— साम्प्रदायिक दंगों को भड़काने व फैलाने में स्थानीय भाषा के छोटे समाचार-पत्रों ने भी जले पर नमक छिड़कने का

ही काम किया है। क्योंकि इनमें छपने वाली सामग्री का इस्तेमाल साम्प्रदायिकता, जातिवाद एवं कट्टरवादी क्षेत्रीयता की भावना उत्पन्न करने और फैलाने के लिए किया गया। प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं का उद्देश्य अपना व्यापार बढ़ाना और पैसा कमाना रहता है। अतः जो पत्र जिस वर्ग द्वारा प्रकाशित होता है वह उस वर्ग की खुल कर वकालत करना है। अतः स्वाभाविक है कि उसका दृष्टिकोण संकुचित एवं साम्प्रदायिक होगा। धार्मिक व साम्प्रदायिक जुनून पैदा करने में वह अपना व्यक्तिगत लाभ देखता है।—इससे उसकी बिक्री बढ़ती है व जिस वर्ग का वह समर्थन करता है—उसका विशेष रूप से संरक्षण मिलता है।

पत्रकारिता का यह पतन निश्चय ही चिन्ता का विषय है क्योंकि ऐसे समाचार-पत्र जो एक जाति का पक्ष लेकर दूसरों के खिलाफ विष उगलने का काम कर रहे हैं। ये पाठकों को प्रेम करना नहीं, घृणा करना ही सिखाते हैं।

देश के पत्रकार वर्ग पर आरोप लगाते हुए गीतेश शर्मा ठीक ही लिखते हैं कि, “देश का पत्रकार वर्ग भी अपनी परीक्षा में खरा नहीं उतरा। देश के विभिन्न राज्यों, सम्प्रदायों, जातियों और उपजातियों के बीच भावनात्मक, रागात्मक संबंध और सद्भाव पैदा करने में पत्रकार वर्ग अधिक कारगर भूमिका निभा सकता था। जो जिम्मेदारीपूर्ण भूमिका अदा करनी चाहिए थी, वह उसने नहीं की। उद्देश्यपरक पत्रकारिता की अपेक्षा करते हुए राष्ट्रीय एकता, अखण्डता एवं सद्भाव कायम करने के लिए उसने किसी प्रकार की आचार संहिता का पालन नहीं किया।”<sup>18</sup>

गीतेश शर्मा का उक्त आरोप बिलकुल सही है, क्योंकि देश में जब भी साम्प्रदायिक दंगे हुए, देश के तथाकथित राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं ने चटखारे लेकर नमक मिर्च लगाकर विस्तारपूर्वक भावुकतापूर्ण हत्याओं और बर्बरता का चित्रण कर अल्पसंख्यकों के मन में आक्रोश और हिंसा का संचार ही किया। अल्पसंख्यकों के मनोमस्तिष्क में बहुसंख्यकों के प्रति रोष, द्वेष व उत्तेजना पैदा करने की कोशिश

की। दूसरी ओर ये अल्पसंख्यकों के कुछ कार्यों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर मोटी सुर्खियों में छाप कर बहुसंख्यकों की भावनाओं को उभारते रहे और नफरत का जहर बेचकर अपनी बिक्री बढ़ाते रहे।

अतः मीडिया भी साम्प्रदायिक सद्भाव से बेखबर है, पर केवल आरोप लगा देने भर से समस्या हल नहीं हो जायेगी इसके लिए बौद्धिक चिन्तन धारा को इस ओर मोड़ना होगा तभी स्वस्थ पत्रकारिता का विकास होगा। साम्प्रदायिकता का जहर उगलने वाले समाचार-पत्रों पर रोक लगानी होगी।

6. इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या— इतिहास का साम्प्रदायिक विवेचन भारत में पनपी साम्प्रदायिक समस्या की एक मुख्य कड़ी है। क्योंकि दोनों साम्प्रदायिक शक्तियाँ (हिन्दू और मुस्लिम) भारत के इतिहास की मुख्यतः मध्यकालीन इतिहास की व्याख्या अपने-अपने ढंग से करते हैं फलस्वरूप भय, तनाव, पूर्वाग्रह और घृणा का न केवल माहौल ही पैदा करते हैं वरन् अफवाहों का बाजार भी गर्म करते हैं।

भारत में इतिहास लेखन की परम्परा की शुरुआत सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वानों ने की। इस संदर्भ में जेम्स मिल का नाम उल्लेखनीय है। जेम्स मिल ने द हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश में भारतीय इतिहास का काल-विभाजन जातीय आधार पर किया जैसे, हिन्दू युग, मुस्लिम युग और ब्रिटिश युग। दिलचस्प बात यह रही कि उन्होंने ब्रिटिश युग की जगह ईसाई युग नामकरण नहीं किया। अतः इसे साम्प्रदायिक दृष्टि ही कही जा सकती है।

ब्रिटिश इतिहासकार यह दिखाना चाहते थे कि भारतीय जनता पर मुस्लिम शासकों ने बहुत अत्याचार किये हैं। अतः मुसलमान उत्पीड़क थे, हिन्दुओं के विनाशक थे, अंग्रेजों ने तो क्रूर शासकों से जनता को मुक्त किया है ऐसी भावना बलवती की गई। शिक्षा-संस्थाओं में भारतीय इतिहास इसी रूप में पढ़ाया-सिखाया जा रहा था। दुर्भाग्य यह रहा कि आरंभिक भारतीय इतिहासकारों ने भी साम्राज्यवादी

इतिहासकारों की इसी नीति का अनुसरण करते हुए भारत के इतिहास को लिखा। परिणामस्वरूप हम गलत इतिहास पढ़-पढ़कर एक-दूसरे के प्रति तरह-तरह की गलतफहमियाँ पाले हुए हैं और उन्हें किसी भी तरह दिल से नहीं निकालना चाहते।

साम्प्रदायिक ताकतों ने मध्यकालीन भारतीय इतिहास को हिन्दू-मुस्लिम टकराव की एकलम्बी कहानी के रूप में देखा। वी०डी० सावरकर ने 1923ई० में 'हिन्दुत्व' में लिखा—“महमूद जगनवी ने सिंधुस्थान की सीमा रेखा सिंधु सरिता का सीमोल्लंघन कर इस पर आक्रमण किया। नेत्र मलता हुआ हिन्दुस्तान जागा। जीवन-मरण का संग्राम प्रारंभ हो गया।...जिस दिन मूर्तिभंजक मलेच्छों ने भारत की देव-धरा की देहरी लौंघी उसी दिन वस्तुतः हिन्दुस्तान के अखण्ड, अभेद्य और एक होने का अवसर उपस्थित हो गया था। यद्यपि मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में भी मुस्लिम सेनाओं ने सिंधु सरिता को लौंघा था, पर उसका आघात गहरा नहीं हुआ, हृदय पर उसने प्रहार भी तो नहीं किया था। सच्चा संग्राम तो गजनवी के साथ ही आरंभ हुआ (और समाप्त कब हुआ? अब्दाली के साथ) वर्षानुवर्ष बीत चले, शताब्दियाँ गुजर गईं किन्तु यह संग्राम चलता ही रहा। अरब स्थान जो कुछ था, वैसा न रहा, ईरान नष्ट हो गया, मिस्र, श्याम, अफगानिस्तान, बलोचिस्तान तारातरी वज्रनाडा से गजनी पर्यान्त सभी राष्ट्र अपनी संस्कृति सहित इस्लाम की तलवार के आगे नतमस्तक हो गये।”<sup>19</sup>

हालांकि ऐसा कहना बिल्कुल गलत है कि इस्लाम तलवार के बल पर फैला क्योंकि तलवार के बल से कोई धर्म नहीं फैलता और कुछ दिनों के लिए फैल भी जाय तो दीर्घकाल तक टिक नहीं सकता। दरअसल, भारत में इस्लाम के फैलने का कारण सवर्ण हिन्दुओं का दलित जातियों पर अत्याचार था। ऐसे समय में “इस्लाम ने नये सिद्धान्तों के साथ पदार्पण किया। वहाँ ऊँच-नीच का भेद न

था, छोटे—बड़े, ऊँचे—नीच की कैद न थी। इस्लाम की दीक्षा लेते ही मनुष्य की सारी अशुद्धियाँ, सारी अयोग्यताएँ मानो धुल जाती थी। वह मस्जिद के इमाम के पीछे खड़ा होकर नमाज पढ़ सकता था, बड़े से बड़े सैयदजादे के साथ एक दस्तरखान पर बैठकर भोजन कर सकता था। इसलिए नीचों ने इस नये धर्म का बड़े हर्ष से स्वागत किया और गाँव के गाँव मुसलमान हो गये।<sup>20</sup>

अतः इस्लाम तलवार के बल से नहीं अपितु अपने धर्म तत्वों की व्यापकता के बल से फैला जिसे कुछ संकीर्ण साम्प्रदायिक तत्वों ने गलत प्रचारित कर हिन्दू—मुसलमानों में द्वेष पैदा कर अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति ही की।

कुछ साम्प्रदायिक शक्तियाँ मध्यकालीन लड़ाइयों को हिन्दू—मुस्लिम लड़ाइयों के रूप में देखती हैं। जबकि हिन्दू—मुस्लिम शासकों में पहले भी लड़ाइयाँ हुई हैं पर वह लड़ाइयाँ धार्मिक द्वेष के कारण नहीं अपितु प्रतिस्पर्द्धा के कारण थी उसी तरह जैसे हिन्दू राजा आपस में लड़ा करते थे। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मध्यकालीन हिन्दू—मुस्लिम लड़ाइयों में हिन्दू सिपाही मुसलमानों की ओर होते थे और मुसलमान सिपाही हिन्दुओं की ओर। अतः यह कहना ठीक है कि साम्प्रदायिक शक्तियों ने भारतीय इतिहास की विशेष रूप से प्राचीन भारत और मध्यकालीन भारतीय इतिहास की गलत व्याख्या कर हिन्दू—मुस्लिम संबंधों को प्रभावित किया है।

7. शिक्षा का भगवाकरण— भारतवर्ष में साम्प्रदायिकता के अनेक कारणों में एक कारण शिक्षा का भगवाकरण भी है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ बचपन से ही शाखाओं में अबोध बच्चों को आमंत्रित करता आया है साथ ही उन्होंने देशभर में विद्याभारती, शिशु मंदिर और आदर्श विद्या मंदिर खोल दिए हैं जिनमें विशुद्ध रूप से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की हिन्दुत्ववादी विचारधारा को प्रचारित किया जा रहा है। इन संस्थाओं में जो पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता है उसमें हिन्दूधर्म की श्रेष्ठता, हिन्दू संस्कारों का प्रचार, कर्मकाण्ड की शिक्षा, भारत के अतीत की गौरव गाथा,

संकीर्ण धर्मान्धता, वैदिक गणित और वैदिक ज्योतिष शास्त्र आदि को महत्व दिया जाता है। वस्तुतः राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने मुस्लिम मदरसों और उलेमाओं के संस्थानों के उत्तर में अपने शिक्षण संस्थान खोले हैं।

सत्ता के बदलते ही उसका असर शिक्षा पर पड़ने लगता है। भारत में जब केन्द्र में भाजपा की सरकार आयी तो उसका असर एन०सी०ई०आर०टी० पाठ्यपुस्तकों में स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा। तत्कालीन केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री मुरलीमनोहर जोशी तथा एन०सी०ई०आर०टी० के निदेशक श्री जगमोहन सिंह राजपूत की जुगलबन्दी ने इस संस्था को भगवाकृत करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इस संस्था की स्थापना के बाद यह पहला अवसर था जब एन०सी०ई०आर०टी० में राजनैतिक हस्तक्षेप बढ़ा और पाठ्यपुस्तकों में साम्प्रदायिकता को प्रश्रय देने वाली सामग्री सम्मिलित की गई। जिन-जिन राज्यों में भाजपा सरकार सत्ता में आयी उनमें पहला शिकार वहाँ की शिक्षा हुई। जैसे राजस्थान में हिन्दी, इतिहास और समाज शास्त्र की पुस्तकों में साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने वाली सामग्री परोसी गई। भाजपा शासित राज्यों में सत्ताधारियों का एक ही लक्ष्य रहा कि पाठ्यक्रम के माध्यम से संघ की विचारधारा का प्रचार-प्रसार हो। जैसा कि नलिनी तनेजा ने लिखा है, “पाठ्यक्रम सुधार के नाम पर पाठ्यपुस्तकों को साम्प्रदायिक लाइनों पर दोबारा लिखने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। और ये स्कूली शिक्षा के स्तर पर ऐसे पैमाने पर किये जा रहे हैं कि सारी धर्मनिरपेक्ष व्याख्याओं को नष्ट कर देंगे। एक पूरी पीढ़ी ऐसी सामूहिक स्मृतियों के साथ बड़ी होगी जिनमें साझा संस्कृति का नाम मिट गया होगा और जिनके दिमाग में ऐसे विचार और सूचनाएँ होंगी जिनका सच्चाई से कोई वास्ता न होगा।”<sup>21</sup>

नलिनी तनेजा की पाठ्यपुस्तकों को लेकर यह चिन्ता वाजिब है क्योंकि इससे ऐसे बच्चों की संख्या में भारी वृद्धि हुई है जो इस घटिया स्तर के और

जहरीले ज्ञान के शिकार बनाये जा रहे हैं। इन राज्यों में इन पुस्तकों का भी खूब विरोध हुआ लेकिन यह तो प्रकट हो ही गया कि भाजपा ने जहाँ भी अवसर मिला शिक्षा का भगवाकरण करने में कोई कमी नहीं छोड़ी। अतः संघ परिवार का फांसीवादी कार्यक्रम शिक्षा का साम्प्रदायीकरण करना भी रहा है। इस संदर्भ में नलिनी तनेजा ने ठीक ही लिखा है कि, “जिस तरह की शिक्षा विद्या भारती स्कूलों में दी जा रही है, वह राष्ट्रविरोधी और सांप्रदायिक है तथा संविधान के सिद्धांतों का उल्लंघन करती है। यह वैज्ञानिक सोच को नकारती है और अंधविश्वासों को बढ़ावा देती है। यह पिछड़ी सामाजिक प्रथाओं जैसे जाति, बाल-विवाह और सती की हिमायत करती है और अल्पसंख्यकों के प्रति मन में घृणा का संचार करती है।”<sup>22</sup>

8. स्वायत्तशासी संस्थाओं का साम्प्रदायिकीकरण— संघ परिवार ने न केवल स्कूली पाठ्यक्रमों का साम्प्रदायिकीकरण किया है वरन् स्वायत्तशासी निकायों का भी साम्प्रदायिकीकरण किया। जबसे केन्द्र में भाजपा नेतृत्व की सरकार आयी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने प्रमुख शैक्षिक संस्थाओं और नियामक निकायों पर कब्जा जमा लिया है, खास तौर से उन पर जो पाठ्यक्रम निर्धारित करने और समाजशास्त्र में शोध के लिए धन देने के लिए उत्तरदायी है। यह कब्जा महत्वपूर्ण संस्थाओं और सलाहकार समितियों को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समर्थकों से भरकर और हिन्दुत्व की प्राथमिकताओं के अनुकूल फंड की दिशा को बदलकर किया जा रहा है। जैसे भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् (आई०सी०एच०आर०) पर अब भगवा समर्थकों का प्रभुत्व है। उसी प्रकार भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग (ए०एस०आई०) भारतीय समाजशास्त्रीय शोध परिषद् (आई०सी०एस०एस०आर०) जैसे स्वायत्तशासी निकाय भी हिन्दुत्व के एजेण्डे को पूरा करने के लिए लामबन्द दिखाई दिए। क्योंकि इस कार्य के लिए भाजपा सरकार द्वारा इन्हें खुले हाथ अनुदान दिया गया।



संस्कृत शिक्षा को प्रोत्साहित करने हेतु पूरे देश के चुनिन्दा विश्वविद्यालयों में संस्कृतभाषी केन्द्र खोलने का विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू०जी०सी०) द्वारा लिया गया निर्णय और संस्कृत को राष्ट्रीय पाठ्यक्रम के प्रारूप के जरिए प्राथमिक और मौलिक शिक्षा में अनिवार्य बनाना इस चीज़ का संकेत देता है कि सरकार शिक्षा का पूर्ण रूप से भगवाकरण कर रही है। 'संस्कृतभारती' जो आर०एस०एस० से संबद्ध संगठन है जिसने भाषी संस्कृत की कक्षाएँ नियमित रूप से लगायी और छात्रों को सांप्रदायिकता का जहर पिलाया। स्वायत्तशासी संस्थाओं के साम्प्रदायिकीकरण का नमूना प्रस्तुत करते हुए नलिनी तनेजा ने लिखा है 'सरस्वती नदी की सभ्यता के मानचित्रण का एक प्रोजेक्ट आर०एस०एस० से संबद्ध इतिहासकारों को दिया गया है। इस प्रोजेक्ट को पूरा करने का काम पुरात्व से संबंधित एक निजी ट्रस्ट को दिया गया है जिसे चलाने वाले कोई और नहीं, बल्कि बाबरी मस्जिद के मलबे के नीचे राम मंदिर की दुहाई देने वाले एस०पी० गुप्ता हैं। शोध की दिशा और फंड की व्यवस्था का सीधा संबंध हिन्दुत्ववादी चिन्ताओं की मुक्ति से जोड़ा जा रहा है, मसलन आप सिंधुघाटी की सभ्यता को आर्य सभ्यता के रूप में दिखाएँ, इत्यादि।'<sup>23</sup>

इस प्रकार संघ परिवार द्वारा स्वायत्तशासी संस्थाओं का भी खूब साम्प्रदायिकीकरण कर अपने हिन्दुत्ववादी कार्यक्रम को पूरा करने में दुरुपयोग किया गया।

### समकालीन राजनीति और साम्प्रदायिकता

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त विशेष रूप से आठवें दशक में राजनीति का अपराधीकरण बड़े स्तर पर हुआ है। अब सुव्यवस्थित पार्टी संगठनों और निचले स्तर से राजनीति की शुरुआत कर संसद तक पहुँचे अनुभवी राजनीतिज्ञों का

स्थान माफिया किस्म के संगठनों व नेताओं ने ले लिया है। इनके पास गुण्डों का एक गिरोह होता है जो अवैध शराब, विदेशी वस्तुओं की तस्करी या अवैध हथियारों के गैर—कानूनी धन्धों में लिप्त हैं। इनका इस्तेमाल ये राजनेता चुनाव के समय या अपने राजनीतिक विरोधियों का सफाया करने जैसे घृणित कार्यों में करते हैं।

वस्तुतः सांप्रदायिकता का मुख्य कारण आज की ओछी होती जा रही राजनीति है जिसका कोई निश्चित एजेण्डा नहीं है। असगर अली इंजीनियर भी सांप्रदायिकता को एक राजनीतिक परिघटना मानते हुए लिखते हैं, “सांप्रदायिकता मूल रूप से राजनीतिक परिघटना है जो देश की राजनीतिक स्थिति के अनुसार घटती— बढ़ती रहती है।”<sup>24</sup>

वर्तमान समय में हमारे राजनीतिक परिवेश में आये बदलाव की ओर संकेत करते हुए अभयकुमार दुबे लिखते हैं— “पहचानों की बहुलता और विविधता के इस्तेमाल में इस परिवर्तन से जुड़े चार अन्य बिन्दू भी हैं। पहला, राजनीति से विचारधारा को अलग करना और महज पद पर रहने की चिन्ता में बढ़ोतरी। इसका परिणाम है राजनीति का नृवंशीकरण जिसमें संख्या का हिसाब किताब सांप्रदायिक या धार्मिक आधार पर किया जाता है। दूसरा, जनआन्दोलन व जन उभारों के खिलाफ हमलों में बढ़ोतरी। तीसरा, निचले स्तरों पर राजनीति का लम्पटीकरण है और चौथा बिन्दू यह है कि हम पूँजीवाद की नई अवस्था से गुजर रहे हैं।”<sup>25</sup>

इसलिए आज असली मुद्दा हमारे राजनीतिक जीवन के बढ़ते अपराधीकरण और अपराधियों को राजनीतिक मशीनरी से मिलने वाले संरक्षण का है। अतः इस गठजोड़ को तोड़ना आज सबसे जरूरी हो गया है। इस सांप्रदायिक चुनाव पर आधारित जनतन्त्र में राजनेताओं द्वारा वोट हथियाने के लिए उग्र राष्ट्रवादी भावनाओं को भड़काकर साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया जा रहा है। इस

संदर्भ में अभयकुमार दुबे का विचार है—“ऐसे जनतन्त्र की नज़र में लोगों की हैसियत सिर्फ़ वोटर की होती है। ऐसे वोटरों की गिनती भर की जाती है या उन्हें एक खास पक्ष में झुकने के लिए मजबूर कर दिया जाता है। यानी उनकी भूमिका बहुत ही सीमित हो जाती है। चुनाव के इस खेल का उद्देश्य है उनकी बहुसंख्या को किसी भी प्रकार अपने पक्ष में कर लेना यानी जनतन्त्र बहुसंख्यावाद बन जाता है और समाज में बढ़ते ध्रुवीकरण के माहौल में यह बहुसंख्यावाद अल्पसंख्यकों के बीच झड़प का रूप ले लेता है। सांप्रदायिकता की राजनीति इसी बहुसंख्यावाद की उपज है।”<sup>26</sup>

अतः जनतन्त्र की ऐसी विकृत समझ का जब तक जोरदार विरोध नहीं किया जाता, नागरिक पहल कदमी और राज्य को अल्पसंख्यकों की न्यायोचित माँगों की पूर्ति के लिए बाध्य नहीं किया जाता राजनीति को साम्प्रदायिकता के गर्त में जाने से बचाया नहीं जा सकता।

अभी पिछले दिनों राजस्थान में हुआ गुर्जर आरक्षण आन्दोलन ने देश में वैमनस्य का वातावरण ही खड़ा किया जिसे इन तथाकथित राजनेताओं ने हवा देकर एक बार फिर जात-पाँत का चक्कर चला दिया। हेतु भारद्वाज लिखते हैं, “कैसा विचित्र समय आया है कि जब साम्प्रदायिकता का प्रश्न आता है तो पूरा देश या तो हिन्दू हो जाता है या मुसलमान। आरक्षण का सवाल आता है तो पूरा समाज अगड़े-पिछड़ों में बँट जाता है। सारे राजनेता इन्हीं संकीर्णताओं में फँसे जातिवादी सा सांप्रदायिक राजनीति को बढ़ावा दे रहे हैं।”<sup>27</sup>

समकालीन राजनीति में एक और गुणात्मक बदलाव आया है वो है अब हमारे राजनेता दलित वोट बैंक की अपेक्षा सशक्त हिन्दू सांप्रदायिक वोट बैंक के पीछे भागने लगे हैं। अभय कुमार दुबे के शब्दों में, “जिस तरह हिन्दू वोट बैंक एक सांप्रदायिक धारणा है उसी तरह मुस्लिम वोट बैंक भी एक सांप्रदायिक धारणा ही

है। लेकिन जब तक सांप्रदायिक आधार पर बने ये वोट बैंक किसी ऐसी पार्टी की झोली में जाते रहते हैं जो प्रत्यक्षतः कोई साम्प्रदायिक गोलबन्दी नहीं करती तब तक सांप्रदायिकता का उभार नहीं आता।<sup>28</sup>

कुछ मुस्लिम लोग अपना स्वार्थ साधने के लिए किस तरह धर्म का सहारा लेकर सांप्रदायिकता फैलाते हैं, इसकी ताजा मिसाल रामजन्मभूमि को लेकर चलाया जाने वाला आन्दोलन और मुस्लिम पर्सनल लॉ की रक्षा के नाम पर किया जा रहा आन्दोलन है। रामजन्मभूमि मुक्ति के नाम पर पिछले कुछ वर्षों से जो आन्दोलन किया जा रहा है उसके मूल में जहाँ हिन्दू सांप्रदायिक तत्वों का उद्देश्य हिन्दुओं की धार्मिक और सांप्रदायिक भावना को उभारकर तथा उन्हें मुसलमानों के विरुद्ध भड़काकर स्वार्थ साधना है। वहीं दूसरी तरफ मुसलमानों का भी एक वर्ग इस आन्दोलन के विरोध के नाम पर मुसलमानों पर अपनी नेतागिरी जमा रहा है तथा उनसे चन्दे की रकम ऐंठ कर खा रहा है। यह विडम्बना की बात है कि स्वतन्त्रता के 60 वर्षों बाद भी राम जन्मभूमि को लेकर उत्पन्न हुआ विवाद ज्यों का त्यों है तथा जब तब सांप्रदायिक तत्व इस विवादास्पद प्रश्न पर धार्मिकता उभार कर हिन्दू मुसलमानों के बीच तनाव उत्पन्न कर देते हैं।

### मुस्लिम पर्सनल लॉ और साम्प्रदायिकता

मुस्लिम पर्सनल लॉ मुसलमानों, विशेषकर मुस्लिम महिलाओं के विपरीत रहा है। मुसलमानों के पिछड़ेपन की एक वजह यह भी रही है। “जब भी इस कानून में सुधार की बात उठती है, मुस्लिम नेतृत्व का एक प्रभावशाली वर्ग मुसलमानों में धार्मिक उन्माद और धर्मान्धता का सहारा लेकर एक ऐसा वातावरण पैदा करने में सफल हो जाता है, जिससे आम मुसलमानों को यह लगने लगता है कि उनके धर्म पर आघात किया जा रहा है।<sup>29</sup> जब भी किसी महिला ने इस

कानून के विरोध में आवाज उठाने की कोशिश की, उसे बर्बरता व सख्ती से कुचल दिया गया। इस संदर्भ में इन्दौर की शाहबानो का मामला उल्लेखनीय है—“इन्दौर की शाहबानो ने 1932 में एक वकील मोहम्मद अहमद खान से शादी की थी। शादी के 43 वर्ष बाद 1976 में मोहम्मद अहमद खान अपनी पत्नी को घर से निकाल दिया। शाहबानो ने तीन वर्षों तक समझौते का इंतजार किया। जब इस दिशा में सकारात्मक कुछ नहीं हुआ तो उसने निर्वाह खर्च के लिए आवेदन किया। इसी बीच शाहबानो को उसके पति ने तलाक दे दिया। कोर्ट ने 25 रुपये प्रतिमाह निर्वाह खर्च के रूप में देने का आदेश दिया।”<sup>30</sup>

शाहबानो ने उचित ही महसूस किया कि उसको मिलने वाला निर्वाह खर्च बहुत कम है। किन्तु इसी बीच शाहबानो के पति ने सुप्रीम कोर्ट में एक अपील दायर की कि मुस्लिम पर्सनल लॉ के अनुसार एक तलाकशुदा मुस्लिम पत्नी केवल ‘इद्दत’ के दौरान ही निर्वाह खर्च पाने की अधिकारी है। ध्यातव्य है कि तलाक के बाद के तीन महीने और तेरह दिन की अवधि को ‘इद्दत’ कहते हैं।

“सुप्रीम कोर्ट ने अपराध संहिता की धारा 125 के आधार पर निर्णय दिया है जिसमें तलाकशुदा पत्नी भी, पत्नी की परिभाषा के तहत आती है। सुप्रीम कोर्ट ने शाहबानो के निर्वाह खर्च को कायम रखा।”<sup>31</sup>

यद्यपि सुप्रीम कोर्ट ने अपना निर्णय धर्मनिरपेक्ष कानून के आधार पर दिया है यथापि उसने स्पष्ट कर दिया है कि उसका निर्णय तलाकशुदा महिलाओं के संदर्भ में कुरान के प्रावधानों के विरुद्ध नहीं है। सुप्रीम कोर्ट के निर्णय से मुस्लिम धार्मिक नेता और कुछ मुस्लिम राजनीतिज्ञ भी कुपित हुए। गीतेश शर्मा के शब्दों में, “इस फैसले के प्रतिवाद में देशभर में मुसलमानों ने रमजान के आखिरी शुक्रवार को शरीयत दिवस के रूप में मनाया। मस्जिदों में नमाज के बाद वक्ताओं ने अपने उत्तेजनात्मक भाषणों में सुप्रीम कोर्ट के उक्त फैसले को धर्म में अनुचित

दखलंदाजी बताया। उन्होंने मुसलमानों का आह्वान किया कि वे उनके विरुद्ध किये जा रहे सुनियोजित षडयन्त्र का खून की आखिरी बूँद तक विरोध करें। कई प्रदेशों एवं शहरों में मुसलमानों ने हड़ताल कर विरोध प्रदर्शन किया।<sup>32</sup>

इसे एक विडम्बना ही कहा जायेगा कि इस प्रगतिशील फैसले का कांग्रेस के मुस्लिम सांसदों ने कड़ा विरोध किया तथा कांग्रेस की केरल शाखा ने मार्क्सवादी मोर्चे से निकली मुस्लिम लीग को अपने मोर्चे में शामिल कर साम्प्रदायिक शक्तियों के साथ समझौता किया। वोट की यही अवसरवादी राजनीति साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देती रही है। कांग्रेस की तुष्टीकरण की नीति भी साम्प्रदायिकता के लिए जिम्मेदार रही है। इसी ओर संकेत करते हुए राजकिशोर लिखते हैं, “शाहबानो पर उच्चतम न्यायालय के उचित फैसले का विरोध नहीं हुआ होता, तो सम्प्रदायवादियों को यह कहने का मौका नहीं मिलता कि मुसलमानों की तुष्टीकरण के लिए कानून तक बदल दिया गया।”<sup>33</sup> दरअसल प्रश्न हिन्दू या मुसलमान का नहीं है। उच्चतम न्यायालय का यह निर्णय कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 125 के अन्तर्गत पति द्वारा परित्यक्ता पत्नी को जीवन निर्वाह भत्ता प्राप्त करने का अधिकार है, बिल्कुल सही था। पूर्व में भी इस प्रकार के निर्णय हुए हैं। किन्तु कहीं नाम मात्र को भी विरोध नहीं हुआ। किन्तु “इस प्रकरण में दकियानूसी विचारधारा वाले मुसलमानों ने इस फैसले को उत्तेजना फैलाने का माध्यम बना लिया। उन्होंने एक महिला के अधिकार को धार्मिक विस्फोट और साम्प्रदायिक निर्णय का रूप देना चाहा। जिस प्रकार से न्यायाधीशों ने कुरान के अर्थ का स्पष्टीकरण किया था उसे कतिपय मुसलमानों ने उत्तेजना फैलाने का माध्यम बना दिया। वास्तव में प्रधानमंत्री को बिना घबराये महिलाओं के अधिकारों का समर्थन करना चाहिए था किन्तु वे ऐसा नहीं कर सके। वे दकियानूसी मुसलमानों के सामने झुक गये।”<sup>34</sup>

इतना ही नहीं प्रगतिशील विचारधारा की जो मुसलमान औरतें न्यायालय के इस निर्णय का समर्थन कर रही थीं, वे भी कहने लगीं कि एक सिविल कोड के बहाने ये लोग हम पर हिन्दू कानून लादना चाहते हैं। यही कारण है कि “दस साल तक दृढ़तापूर्वक इंसाफ की लड़ाई लड़ने के बाद शाहबानो को सुप्रीम कोर्ट से अनुरोध करना पड़ा कि वह अपना फैसला वापस ले ले। टेलीविजन पर इंटव्यू देते समय शाहबानो ने यह कहने में जरा भी हिचक नहीं दिखाई कि उसके पति ने उसके साथ नाइंसाफी की है यह एक अहम् तथ्य है। जब उनसे पूछा गया कि वे अपने हक में दिये गये फैसले को वापस लेने के लिए क्यों कह रही हैं तो उनका सहज लेकिन अर्थपूर्व जवाब था कि फैसले से दंगे—फसाद जैसे हालात बन रहे हैं और वे मुसलमानों के खिलाफ सांप्रदायिक हिंसा का कारण नहीं बनना चाहतीं।”<sup>35</sup>

यानी, एक स्त्री के रूप में अपने ऊपर हुए अन्याय का सवाल उठाने के बावजूद शाहबानो को मजबूरन अपनी लड़ाई छोड़नी पड़ी ताकि उनके समुदाय को हिन्दू सांप्रदायिक शक्तियों के हमलों से बचाया जा सके। इस प्रकार मुस्लिम पर्सनल लॉ के मुद्दे को कुछ निहित स्वार्थी लोगों ने एक राजनीतिक मुद्दा बना दिया है। वस्तुतः शाहबानो प्रकरण का इस्तेमाल घृणा और द्वेष फैलाने के लिए किया गया। इन सबके साथ राष्ट्रीय एकता पर खतरे के अनवरत शोर ने हिन्दुओं में व्यापक तौर पर साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों को भड़काया। उनसे लगातार यह अपील की जाती रही कि वे एक हों और अल्पसंख्यकों को इस बात के लिए बाध्य करें कि वे चुपचाप घुटने टेक दें या परिणाम भुगतने के लिए तैयार रहें। बदले में इसने दूसरे पक्ष के भीतर भी साम्प्रदायिकीकरण को बढ़ाया दिया।”<sup>36</sup>

इस प्रकार समान नागरिक संहिता बनाम विभिन्न अल्पसंख्यक समुदायों के निजी कानून के सवाल ने देश के विभिन्न समुदायों, खासतौर से हिन्दू—मुसलमानों

के आपसी रिश्तों को बिगाड़ने में अहम भूमिका अदा की है।

“इस मुद्दे पर सरकार की नीति हमेशा भ्रामक रही है। यह नीति संकीर्ण और फौरी चुनावी फायदे—नुकसान के गणित पर आधारित रही है। बहुमत समुदाय की नजर में यह नीति अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण का एक ठोस एवं खतरनाक सबूत है। नतीजतन, बहुत सारे लोगों में इसी नीति को लेकर भारी रोष है। कभी एक को तो, कभी दूसरे वोट बैंक को लुभाने के लिए एक के बाद एक आयी सरकारों ने समान नागरिक संहिता की बहस को भारी नुकसान पहुँचाया है। सरकार के इन तौर—तरीकों से हिन्दू—मुसलमानों के बीच मौजूद खाई और गहरी हुई।”<sup>37</sup>

### रामजन्म भूमि—बाबरी मस्जिद विवाद और साम्प्रदायिकता

‘राम’ भारतीय जनमानस के एक ऐसे नायक हैं जो हर युग के समाज के लिए आदर्श के रूप में चित्रित किए गए हैं। ‘राम’ विष्णु के अवतार हैं और मर्यादा पुरुषोत्तम हैं वे सारे व्यक्तिगत और सामाजिक मूल्यों के प्रतीक रूप में भारतीय जनमानस में उपस्थित हैं। इसी स्थापना के अन्तर्गत यह भी माना जाता है कि ‘राम’ अयोध्या में जन्में थे। यद्यपि इसका कोई ऐतिहासिक साक्ष्य हमें नहीं मिलता लेकिन यह सच है कि ‘राम’ हिन्दू समुदाय के आराध्य हैं। अयोध्या में जन्में होने के कारण वहाँ राम का कोई मन्दिर रहा होगा यद्यपि इस तरह का कोई पुरातात्विक साक्ष्य नहीं मिलते। किन्तु बाबरी मस्जिद की उपस्थिति सबके समक्ष है। तथा इसमें भी संदेह नहीं है कि मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं के धार्मिक व सांस्कृतिक केन्द्रों का ध्वंस किया था।

फिर यह भी तो सत्य है कि अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेज इतिहासकारों द्वारा इतिहास की घटनाओं को खूब तोड़ मरोड़कर लिखा गया क्योंकि उनका



उद्देश्य हिन्दू-मुसलमानों में अलगाव पैदा कर उन्हें आपस में लड़ाना था ताकि उनका शासन कायम रहे। यह दुर्भाग्य की बात है कि परवर्ती भारतीय इतिहासकारों ने भी अंग्रेज इतिहासकारों का ही अनुसरण किया अर्थात् भारतीय इतिहास को साम्प्रदायिक नजरिये से पेश करने की कोशिश की। राजजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद के विवाद में भी यही हो रहा है। अतः रामजन्मभूमि-मुक्ति का आन्दोलन विशुद्ध रूप से एक साम्प्रदायिक आन्दोलन है जिसका एकमात्र उद्देश्य हिन्दू और मुसलमानों के बीच विद्वेष पैदाकर उससे राजनीतिक लाभ उठाना है। मधु पूर्णिमा किश्वर का मानना है कि “संघ परिवार के नेताओं का राम मन्दिर के प्रति यह उत्साह व उन्माद किसी धार्मिक भावना के कारण नहीं बल्कि हिन्दुओं को एक राजनीतिक समुदाय के रूप में एकजुट करने के लिए राम का एक प्रतीक के रूप में प्रयोग करने के मंसूबे का द्योतक है।”<sup>38</sup>

हिन्दुत्ववादियों का तर्क है कि बाबरी मस्जिद का निर्माण राम मन्दिर को नष्ट करने के बाद किया गया था। यह बात दूसरी है कि उत्खनन में उसके कोई अवशेष अभी तक प्राप्त न हो पाये हैं लेकिन साम्प्रदायिक तत्त्व इस विवादास्पद प्रश्न पर धार्मिक भावना उभार कर हिन्दू-मुसलमानों के बीच तनाव उत्पन्न कर अपना राजनीतिक हित साध रहे हैं।

बाबर के एक सामंत मीरबाकी द्वारा 1528 ई. में बनायी गई मस्जिद पर एक लम्बे अरसे से विवाद चला आ रहा था लेकिन फिर भी “22 दिसम्बर, 1949 के दिन तक कोई भी मुद्दा नहीं था। उस दिन कुछ व्यक्ति गुप्त रूप से मस्जिद में दाखिल हुए और वहाँ राम की एक मूर्ति स्थापित की और उसके बाद यह अफवाह फैलायी गई कि मूर्ति बड़े चमत्कारी ढंग से आविर्भूत हुई है।”<sup>39</sup>

साम्प्रदायिक इतिहासकारों ने किवदंतियों के ढेर लगाकर मामले को गरम कर दिया। इसे लोगों ने दैवी चमत्कार मानकर मस्जिद के अन्दर जबर्दस्ती प्रवेश

करने की कोशिश की। ऐसे में केन्द्र सरकार ने हस्तक्षेप करके मस्जिद के बड़े दरवाजे में ताला लगा दिया था और जब तक इस झगड़े का अदालत से फैसला न हो जाये तब तक किसी भी व्यक्ति को इसमें प्रवेश करने अथवा इसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने की अनुमति देने से मनाकर दिया।<sup>40</sup>

इस प्रकार अयोध्या में राम मन्दिर की उपस्थिति का मसला एक कानूनी प्रक्रिया के अन्तर्गत था तथा उसको लेकर भारतवर्ष में किसी प्रकार का व्यापक जनक्रोध नहीं था लेकिन विश्व हिन्दू परिषद ने राम मंदिर के प्रश्न को लेकर एक अभियान जरूर चला रखा था। फलस्वरूप अयोध्या हिन्दू और मुसलमानों के बीच धार्मिक टकराव का केन्द्र बन गया। “भाजपा ने राजनीतिक सत्ता हथियाने की अपनी ललक के तहत टकराव की स्थिति का भरपूर दोहन किया। एक विवाद जो लगभग चालीस साल से सुप्तावस्था में था, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक महत्व देने की कोशिश की। यह कोशिश कामयाब हो सकी, इसके पीछे एक महत्वपूर्ण कारण संघ परिवार द्वारा निरन्तर धार्मिक प्रतीकों का दोहन करना भी था।<sup>41</sup> इस समस्या को राजनैतिक भयावहता का रूप तब मिला जब तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी के संकेत पर “सन् 1986 की पहली फरवरी के दिन, अचानक फैजाबाद के जिला जज ने सरकार के आदेश का पालन करते हुए, मस्जिद के द्वार खोल दिए और हिन्दुओं को वहाँ रखी गई मूर्तियों की पूजा करने की अनुमति दे दी, लेकिन मुसलमानों के प्रवेश पर पाबन्दी लगाई। हिन्दू फिरकापरस्तों ने जहाँ उत्सव मनाये वहीं मुसलमानों में गहरी हताशा फैल गई। जल्दी ही, मुसलमान फिरकापरस्त भी मैदान में कूद पड़े। उन्होंने बाबरी मस्जिद संघर्ष कमेटी बनाई और मुसलमानों में उग्र एवं उन्मादपूर्ण अभियान शुरू करके बाबरी मस्जिद को फिर से मुस्लिम नियंत्रण में देने की माँग की।<sup>43</sup>

इसकी प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दू सांप्रदायिकतावादियों ने मस्जिद को गिराकर

वहाँ राम मन्दिर का निर्माण करने का जबर्दस्त अभियान चलाया। प्रो. बिपिचन्द्र के शब्दों में, “वे अक्टूबर—नवम्बर, 1989 में शिलापूजा आन्दोलन के द्वारा लगभग प्रत्येक गाँव, कस्बे और शहर में उन तथाकथित पवित्र ईंटों के जुलूस बनाकर पहुँचे जिनसे अयोध्या में मंदिर का निर्माण किया जाना था। इस आन्दोलन की इसके बाद एक खास बात यह बन गई कि इसमें साधू—स्वामी बड़ी संख्या में सक्रिय भाग लेने लगे। इस तरह लाखों हिन्दुओं को वैचारिक तथा राजनीतिक दृष्टि से लामबंद किया गया।”<sup>43</sup>

1 तथा 10 नवम्बर, 1989 को तथाकथित मंदिर का शिलान्यास किया गया। फलस्वरूप बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक दंगे हुए लेकिन साम्प्रदायिकता का यह जन—आन्दोलन तब एक कदम और आगे बढ़ा जब भाजपा के तत्कालीन अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी तथा इस पार्टी के अन्य नेताओं ने अक्टूबर, 1990 में देशव्यापी रथ—यात्रा संगठित की। विश्व हिन्दू परिषद और भाजपा ने कारसेवकों की एक भारी भीड़ जुटाकर शिलान्यास के स्थान पर एक राम मन्दिर बनाने का भी प्रयास किया फलस्वरूप सांप्रदायिक उत्तेजना फैली।

वस्तुतः इस घटना के पीछे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा शाहबानो के हक में दिये गये फैसले को केन्द्र सरकार द्वारा रद्द करना भी था। एक प्रकार से मस्जिद का दरवाजा खुलवाना वह प्रस्थान बिन्दू था जहाँ से अयोध्या मुद्दे ने सांप्रदायिक समस्या का स्वरूप ग्रहण कर लिया जिसकी परिणति 6 दिसम्बर, 1992 को बाबरी मस्जिद के विध्वंस के रूप में हुई। सारा देश सांप्रदायिकता की ज्वाला में धूँँ कर जल उठा।

रवीन्द्र त्रिपाठी लिखते हैं कि “बाबरी मस्जिद के विध्वंस और राम जन्मभूमि आन्दोलन का हिन्दू धर्म से खास लेना देना नहीं था और ये दोनों ही कृत्य राजनीतिक थे, सत्ता प्राप्ति के लिए थे और भारतीय राष्ट्र—राज्य की धर्मनिरपेक्ष

अवधारणा पर प्रहार करने के हथकंडे थे।”<sup>44</sup>

मधु पूर्णिमा किश्वर का भी मानना है कि “जिस तरह संघ परिवार ने धार्मिक स्थानों का बेहूदा राजनीतिकरण किया है और चुनावी तथा अन्य राजनीतिक फायदों के लिए धार्मिक प्रतीकों को हथियाया है उससे पता चलता है कि धर्म में उसकी कतई दिलचस्पी नहीं है। न ही इस परिवार के अगुवा धार्मिक पुस्तकों या धर्मशास्त्र के विषय में खास जानकारी रखते हैं।”<sup>45</sup>

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि रामजन्मभूमि—मुक्ति आन्दोलन बाहरी दिखावे के लिए धार्मिक था किन्तु वास्तविक अर्थों में राजनीतिक था। यह इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि 1991 में भाजपा का मुख्य चुनावी मुद्दा हिन्दुओं की अयोध्या में मंदिर बनाने की माँग था। यह विडम्बना की बात है कि स्वतंत्रता के साठ वर्षों बाद तक भी रामजन्मभूमि को लेकर उत्पन्न हुआ विवाद ज्यों का त्यों है तथा अवसर पाकर साम्प्रदायिक तत्व इस विवादास्पद प्रश्न पर धार्मिक भावना उभार कर हिन्दू—मुसलमानों के बीच तनाव उत्पन्न कर देते हैं।

इसके पीछे सबसे बड़ा कारण है राजनेताओं की सत्ता लोलुपता। सत्ता की राजनीति ने लोकतांत्रिक मूल्यों का मखौल बना लिया है। सत्यदेव त्रिपाठी ठीक ही लिखते हैं कि, “आज जब हिन्दू सांप्रदायिकता सत्ता के लिए धर्म का इस्तेमाल कर रही है, तब बाजार व उपभोग पूरे युग की वृत्ति बन चुकी है। यदि मस्जिद तोड़ी— तोड़वायी जाती है तो सत्ता को बनाये रखने की मंशा व विश्वास से और यदि मंदिर बनाये जाने का इम्प्रेशन बार—बार दिया जा रहा है तो सत्ता की शक्ति के साधक रूप में ही। यदि बार—बार कहकर मंदिर नहीं बनाया जा रहा है तो सत्ता के छूट जाने के डर से ही। यानी तब से आज तक सत्ता की शक्ति को पाने और शक्ति की सत्ता को अपनाने का औजार ही बनती है आ रही

हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता।<sup>46</sup>

हमारा देश गरीबी, बेकारी, निरक्षरता और बढ़ती जनसंख्या जैसी समस्याओं से ग्रस्त है जबकि राजनीतिक नेतृत्व ऐसे संघर्षों और मुद्दों में फँसा हुआ है जिनका भूखे, अशिक्षित और बेरोजगार लोगों से कोई ताल्लुक नहीं है। राम पुनियानी की भी यही मान्यता है कि हमारी राजनीति फर्जी मुद्दों में उलझी हुई है—“यह बड़े दुःख की बात है कि आम आदमी से ताल्लुक रखने वाले मुद्दों पर ध्यान देने की बजाय राजनीतिक नेतृत्व इस फिजूल की बहस में लगा हुआ है कि अयोध्या में विवादग्रस्त ढाँचा राम का मकान है या अल्लाह का घर। यह एक ऐसा मुद्दा है जिसने विभाजन के घाव कुरेद दिये हैं।<sup>47</sup>

### निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद शुद्ध राजनीतिक है जिसमें लोगों को भड़काने के लिए धर्म की आड़ ली गई है। यह समस्या आज भी अनसुलझी है। बाबरी मस्जिद के विध्वंस ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी लोगों को विचलित किया है। कुछ हिन्दू सांप्रदायिक संगठनों को छोड़कर किसी भी दल, शक्ति या संगठन ने इस घटना की प्रशंसा नहीं की है। वर्तमान में यह समस्या उग्र रूप में भले ही नहीं लेकिन हर वर्ष 6 दिसम्बर को ‘शौर्य दिवस’ या ‘काला दिवस’ के रूप से मनाने की परंपरा इस समस्या को जीवित बनाये हुए है। प्रो० बिपिन चन्द्र के इस मत से पूर्णतया सहमत जा सकता है कि—“अयोध्या जैसी स्थितियों से बचने के लिए हमें स्कूलों में इतिहासकारों द्वारा लिखे गये इतिहास को पढ़ाना चाहिए था न कि पौराणिक दंतकथाएँ लिखने वाले कथाकारों को। इस तरह काल्पनिक घटनाओं पर विश्वास न होता और गहरी धार्मिक भावनाओं पर आँच न आती।<sup>48</sup>

इस विवादास्पद मुद्दे का एक समाधान यह हो सकता है कि न मस्जिद को तोड़ा जाय और न मंदिर का निर्माण किया जाय वरन् भारत सरकार द्वारा रामजन्मभूमि—बाबरी मस्जिद को राष्ट्रीय स्मारक घोषित कर दिया जाए फिर हिन्दू—मुसलमान जब चाहे वहाँ जाकर श्रद्धावन्त हों। फिर सांप्रदायिक ताकतें अपने आराध्य देव के नाम पर मत नहीं बटोरना चाहेंगे।

## संदर्भ

1. हेतु भारद्वाज : हिन्दी कहानी में भारत—विभाजन की त्रासदी, मधुमती, मई, 1983, पृ० 38
2. राजेन्द्र यादव : कहानी, स्वरूप और संवेदना, दिल्ली, 1968, पृ० 36
3. हेतु भारद्वाज : इतिहास किसी को माफ नहीं करता, नवभारत टाइम्स, 02 नवम्बर, 1994
4. अभय कुमार दुबे (संपा०) : सांप्रदायिकता के स्रोत, दिल्ली, 1993, पृ० 74
5. कर्णसिंह सोमरा : सांप्रदायिक सद्भाव एवं राजनीतिक चेतना, जयपुर 1992, पृ० 49
6. गीतेश शर्मा: सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगे, कलकत्ता, 1985, पृ० 68
7. हेतु भारद्वाज: संस्कृति और साहित्य, जयपुर, 2004, पृ० 65—66
8. अभय कुमार दुबे (संपा०) : सांप्रदायिकता के स्रोत, दिल्ली, 1993, पृ० 80
9. रजनीपाम दत्त : आज का भारत, दिल्ली, 1977, पृ० 465
10. असगर अली इंजीनियर : भारत में सांप्रदायिकता—इतिहास और अनुभव इलाहाबाद, मई 2003, पृ० 120
11. वही, पृ० 123
12. बिपिन चन्द्र: आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता, दिल्ली, 1996, पृ० 102—03
13. नरेश बंसल: सांप्रदायिकता, देश विभाजन और हिन्दी कथा साहित्य, विपक्ष, नवम्बर, 1992, अंक 7, पृ० 28
14. असगर अली इंजीनियर: भारत में सांप्रदायिकता, इतिहास और अनुभव, इलाहाबाद, मई 2003, पृ० 122
15. आशिस नंदी, शिखा त्रिवेदी, शैल मायाराम, अच्युत याग्निक: राष्ट्रवाद का अयोध्या काण्ड, दिल्ली, 2005, पृ० 37—38
16. गीतेश शर्मा: सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगे, कलकत्ता, 1985, पृ० 177
17. बिपिन चन्द्र: आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता, दिल्ली, 1996, पृ० 128
18. गीतेश शर्मा: सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगे, कलकत्ता, 1985, पृ० 150
19. वी०डी० सावाकर: हिन्दुत्व, दिल्ली, 1965, पृ० 51—52
20. सत्यसाची : उत्तरगाथा, अंक 6—7, जनवरी, 1981, पृ० 12—13
21. नलिनी तनेजा : पाठ्यक्रमों और पाठ्यपुस्तकों का सांप्रदायीकरण, उद्भावना, अंक 53—54, वर्ष 15, पृ० 33
22. नलिनी तनेजा : 'संघपरिवार का फासीवादी एजेन्डा—शिक्षा का सांप्रदायीकरण', उद्भावना पुस्तिका, (संपा० अजेय कुमार), दिस० 2001, पृ० 4
23. वही, पृ० 2

24. असगर अली इंजीनियर: भारत में सांप्रदायिकता, इतिहास और अनुभव, इलाहाबाद, मई 2003, पृ० 17
25. अभय कुमार दुबे (संपा०): साम्प्रदायिकता के स्रोत, दिल्ली, 1993, पृ० 76-77
26. वही, पृ० 84-85
27. हेतु भारद्वाज : संस्कृति और साहित्य, जयपुर, 2004, पृ० 65
28. अभय कुमार दुबे : सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता की खोज, 'हंस', फरवरी, 1993, पृ० 76-77
29. गीतेश शर्मा : सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगे, कलकत्ता, 1985, पृ० 160
30. वही, पृ० 160-161
31. वही
32. वही, पृ० 161-62
33. राजकिशोर : धर्म, सांप्रदायिकता और राजनीति, दिल्ली, 1995, पृ० 109
34. सत्यपाल डांग : मंदिर-मस्जिद विवाद खत्म करो, सापेक्ष, जनवरी-जून 1989, अंक 21-22, पृ० 63
35. अभयकुमार दुबे (संपा०) : बीच बहस में सेकुलरवाद, दिल्ली, 2005, पृ० 285
36. अभयकुमार दुबे (संपा०) : राजनीति की किताब, रजनी कोठारी का कृतित्व, दिल्ली, 2003, पृ० 258
37. मधु पूर्णिमा किश्वर: राष्ट्रवाद की चाकरी में धर्म, दिल्ली, 2005, पृ० 270
38. वही, पृ० 294
39. बिपिन चन्द्र: आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता, दिल्ली, 1996, पृ० भूमिका XI
40. जगदीश्वर चतुर्वेदी: रामजन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद, उत्तरार्द्ध, जुलाई, 1987, अंक 29, पृ० 75
41. मालिनी भट्टाचार्य (संपा०) : अयोध्या कुछ सवाल, दिल्ली, 1994, पृ० 61
42. बिपिन चन्द्र: आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता, दिल्ली, 1996, पृ० भूमिका XI
43. वही, पृ० भूमिका XII
44. रवीन्द्र त्रिपाठी : धर्मविमुख हिन्दुत्व, 'हंस', फरवरी, 2004, पृ० 84
45. मुधपूर्णमा किश्वर : राष्ट्रवाद की चाकरी में धर्म, दिल्ली, 2005, पृ० 294
46. सत्यदेव त्रिपाठी : सांप्रदायिकता, सत्ता और शक्ति का तिलिस्म, अक्षरा, अंक- 71, मई-जून, 2004, पृ० 17
47. राम पुनियानी: सांप्रदायिक राजनीति: तथ्य एवं मिथक, दिल्ली, 2005, पृ० 110
48. बिपिन चन्द्र: आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता, दिल्ली, 1996, पृ० भूमिका XIV



## चतुर्थ अध्याय

हिन्दी उपन्यास और सांप्रदायिकता  
की समस्या

पृष्ठभूमि :- प्रेमचन्द, यशपाल, भीष्म  
साहनी, कृष्णचन्दर और कृष्णा सेबती

## हिन्दी उपन्यास और सांप्रदायिकता की समस्या पृष्ठभूमि :— प्रेमचन्द, यशपाल, भीष्म साहनी, कृश्नचन्दर और कृष्णा सोबती

भारत वर्ष में सांप्रदायिकता की जड़ें स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान ही पनपने लगती हैं, जो कि भारत-विभाजन के पश्चात् पल्लवित-पुष्पित होती हैं। अखण्ड भारत का विभाजन एक बहुत बड़ी त्रासदी थी। इसने न केवल समाजशास्त्रियों को ही सोचने के लिए मजबूर किया वरन् हिन्दी कथाकारों को भी उद्वेलित किया है। यही कारण है कि हिन्दी कथाकारों ने सांप्रदायिक समस्या को आधार बनाकर इस पर विविध कोणों से विचार किया है और साथ ही जनमत को जाग्रत करने का स्तुत्य कार्य भी किया है। और वैसे भी कहा गया है कि 'साहित्य समाज का दर्पण' है। अतः साहित्य में सांप्रदायिक समस्या की अभिव्यक्ति होना स्वाभाविक भी है।

सांप्रदायिक समस्या को आधार बनाकर उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में सर्वप्रथम मुंशी प्रेमचन्द का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने सर्वप्रथम इस गंभीर समस्या को अपने चिन्तन का विषय बनाया और सांप्रदायिक सौहार्द का वातावरण बनाने का प्रयास किया। आगे चलकर उनकी इस परंपरा को विस्तार देने में यशपाल, भीष्मसाहनी, कृष्णा सोबती और कृश्नचन्दर जैसे कथाकारों का महती योगदान रहा। उन्होंने अपने कथा-साहित्य में अपने-अपने ढंग से इस समस्या पर विचार किया है और अपना-अपना वैचारिक परिप्रेक्ष्य निर्मित किया है।

मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यासों में व्यक्त सांप्रदायिक समस्या

मुंशी प्रेमचन्द हिन्दी के पहले कथाकार हैं जो कथा-विधा को जीवन-यथार्थ

से जोड़ते हैं। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में तत्कालीन जीवन में व्याप्त सांप्रदायिकता की समस्या भी चित्रित होने लगती है। रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्द के विषय में ठीक ही लिखा है, 'प्रेमचन्द का उद्देश्य सामयिकता व देशकाल से परे नहीं था, उनका साहित्य सामयिकता की सतह को छूने वाला साहित्य नहीं था, उसमें गहराई से डूबने वाला, देश काल की विशेषताओं के परस्पर संबंध को चित्रित करने वाला—साहित्य था।'<sup>1</sup>

प्रेमचन्द ने हिन्दू—मुस्लिम विद्वेष के मूल में ऐतिहासिक कारणों की ओर संकेत करते हुए कहा, 'इन दोनों सम्प्रदायों में कशमकश और संदेह और घृणा की जड़ें इतिहास में हैं। मुसलमान विजेता थे, हिन्दू विजित। मुसलमानों की तरफ से हिन्दुओं पर अकसर ज्यादातियाँ हुईं और यद्यपि हिन्दुओं ने मौका हाथ में आ जाने पर उनका जवाब देने में कोई कसर नहीं रखी, लेकिन कुल मिलाकर यह कहना ही होगा कि मुसलमान बादशाहों ने सख्त से सख्त जुल्म किये।'<sup>2</sup>

गो हत्या, जो कि सांप्रदायिक दंगों का एक प्रमुख कारण है—इसके संबंध में भी प्रेमचन्द के विचार बिलकुल सुलझे हुए हैं। वे कहते हैं, 'गौकशी के मामले में हिन्दुओं ने शुरू से अब तक एक अन्यायपूर्ण ढंग अख्तियार किया है। हमको अधिकार है कि जिस जानवर को चाहें पवित्र समझें लेकिन यह उम्मीद रखना कि दूसरे धर्म को मानने वाले भी उसे वैसा ही पवित्र समझें, खामखाह दूसरों से सर टकराना है। गाय सारी दुनिया में खायी जाती है, इसके लिए क्या आप सारी दुनिया को गर्दन मार देने के काबिल समझेंगे?....हिन्दुस्तान जैसे कृषि प्रधान देश के लिए गाय का होना एक वरदान है, मगर आर्थिक दृष्टि के अलावा इसका और कोई महत्व नहीं है। लेकिन गो—रक्षा का सारे हो—हल्ले के बावजूद हिन्दुओं ने गो रक्षा का ऐसा कोई सामूहिक प्रयत्न नहीं किया जिससे उनके दावे का व्यावहारिक

प्रमाण मिल सकता। गौरक्षिणी सभाएँ कायम करके धार्मिक झगड़े पैदा करना गो रक्षा नहीं है।”<sup>3</sup>

प्रेमचन्द के उपन्यासों में—सेवासदन, कायाकल्प और कर्मभूमि में अपेक्षाकृत अच्छी तरह से सांप्रदायिक समस्या का चित्रण हुआ है।

प्रेमचन्द जी ने अपने ‘सेवासदन’ (1918ई०) उपन्यास में सर्वप्रथम सांप्रदायिक समस्या की ओर संकेत किया। प्रस्तुत उपन्यास में प्रेमचन्द जी ने हिन्दू—मुस्लिम संबंधों को वेश्यावृत्ति जैसी कुत्सित समस्या से जोड़कर देखने का प्रयास किया है। बनारस की म्युनिसिपैलिटी में पद्मसिंह शर्मा यह प्रस्ताव रखते हैं कि वेश्याओं को चौक से हटा कर नगर से बाहर बसाया जाय। नैतिक दृष्टि से उनका यह प्रस्ताव प्रशंसनीय है लेकिन म्युनिसिपैलिटी के अधिकांश सदस्य जो बड़े—बड़े सेठ, वकील, जमीदार आदि उच्च वर्ग के व्यक्ति हैं, वे इस प्रस्ताव का निजी स्वार्थों को लेकर विरोध करते हैं। चूँकि बोर्ड में हिन्दू—मुसलमान दोनों ही संप्रदायों के व्यक्ति सदस्य हैं। इसलिए वे इस प्रस्ताव को यथा संभव सांप्रदायिक रंग दे देते हैं।

हाजी हाशिम और अबुलवफा जैसे स्वार्थी व्यापारी मुसलमानों के मन में हिन्दुओं के प्रति द्वेष भाव उभार कर वेश्याओं के नगर में ही रहने के प्रस्ताव की वकालत करते हैं। क्योंकि चौक में जहाँ वेश्याओं का मुहल्ला है, इनकी दुकानें हैं और उन्हें डर है कि वहाँ से वेश्याओं के चले जाने से इनकी दुकानों की बिक्री घट जायेगी फलस्वरूप आर्थिक हानि उठानी पड़ेगी। इसी बात से चिन्तित होकर अबुलवफा कहता है—“मगर अब खुदा के फजल से हमको भी अपने नफे—नुकसान का एहसास होने लगा। यह हमारी तादाद को घटाने की सरीह कोशिश है। तवायफें नब्बे फीसदी मुसलमान हैं, जो रोजे रखती हैं, इजादारी करती हैं, मौलूद और उर्स करती हैं। हमको उनके जाती फेलों से कोई बहस नहीं है। नेक व बद

की सजा व ज़जा देना खुदा का काम है। हमको तो सिर्फ उनकी तादाद से गरज है।”<sup>4</sup>

दूसरी ओर हिन्दू सेठ भी अपने स्वार्थी हितों की साधना के लिए इस समस्या को सांप्रदायिक रंग देने में कतई पीछे नहीं रहते। सेठ चिम्मन लाल मुसलमान सदस्यों की नियत पर संदेह प्रकट करते हुए कहता है—“हमारे मुस्लिम भाईयों ने हमारी गरदन बुरी तरह पकड़ी है। दालमण्डी और चौक के अधिकांश मकान हिन्दुओं के हैं, यदि बोर्ड ने यह स्वीकार कर लिया तो हिन्दुओं का मटियामेट हो जायेगा। छिपे-छिपे चोट करना कोई मुसलमानों से सीख ले।”<sup>5</sup>

इस प्रकार दोनों ही संप्रदाय के कट्टर सांप्रदायिक तत्वों द्वारा आम जनता में द्वेष और घृणा का माहौल तैयार कर दिया जाता है। और यह द्वेष और घृणा से लैस सांप्रदायिक वैमनस्य इतना अधिक बढ़ जाता है कि अधिकार और अवसर मिलने पर एक संप्रदाय दूसरे संप्रदाय को हानि पहुँचाने की कुचेष्टा करने लगते हैं। ‘सेवासदन’ के तेगअली इसी ओर संकेत करते हुए कहते हैं— “आजकल पोलिटिकल मफाद का जोर है, हक और इंसाफ का नाम न लीजिए। अगर आप मुदर्रिस हैं तो हिन्दू लड़कों को फेल कीजिए। तहसीलदार हैं तो हिन्दुओं पर टैक्स लगाइए, मजिस्ट्रेट हैं तो हिन्दुओं को सजाएँ दीजिए। सब—इंस्पेक्टर पुलिस हैं तो हिन्दुओं पर झूठे मुकद्दमें दायर कीजिए। तहकीकात करने जाइए तो हिन्दुओं के बयान गलत लिखिए। अगर आप चोर हैं तो किसी हिन्दू के घर डाका डालिए, अगर आपको हुश्न या इश्क का खब्त है तो किसी हिन्दू नाजनीन को उड़ाइए, तब आप कौम के खादिम, कौम के मुहकिन, कौमी किशती के नाखुदा—सब कुछ हैं।”<sup>6</sup>

निश्चय ही प्रेमचन्द जी तेगअली के माध्यम से मुस्लिम सांप्रदायिकता पर बड़ा तीखा व्यंग्य करते हैं। इसी प्रकार रुरस्तम भाई भी बड़े निर्भीक और स्पष्टवादी

पात्र हैं। वे तथाकथित प्रस्ताव को आर्थिक दृष्टिकोण से देखने का कड़ा विरोध करते हैं और सेठ चिम्मनलाल से कहते हैं—“मुझे यह देखकर शोक हो रहा है कि आप लोग एक सामाजिक प्रश्न को हिन्दू—मुसलमानों के विवाद का स्वरूप दे रहे हैं। सूद के प्रश्न को भी यही रंग देने की चेष्टा की गई थी। ऐसे राष्ट्रीय विषयों को विवादग्रस्त बनाने से कुछ हिन्दू साहूकारों का भला हो जाता है, किन्तु इससे राष्ट्रीयता को जो चोट लगती है उसका अनुमान करना कठिन है।”<sup>7</sup>

इस प्रकार व्यवसायिकों के आर्थिक स्वार्थ वेश्यावृत्ति जैसी सामाजिक—राष्ट्रीय समस्याओं को किस प्रकार सांप्रदायिकता के रंग में रंग कर धर्मभीरु जनता को एक—दूसरे के प्रति शत्रु बना देते हैं; इसका बेबाक चित्रण कर प्रेमचन्द जी यह स्पष्ट कर देते हैं कि सामान्य जनता में साम्प्रदायिक भेदभाव प्रायः नहीं होता। सांप्रदायिकता की आग भड़काने वाले तो राजनीतिज्ञ, सेठ—साहूकार और धर्म का धन्धा करने वाले लोग होते हैं।

सांप्रदायिक समस्या के चित्रण की दृष्टि से प्रेमचन्द का दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास ‘कायाकल्प’ (1926ई०) है। प्रेमचन्द ने जिस समय ‘कायाकल्प’ की रचना प्रारंभ की उस समय देश के समक्ष सांप्रदायिक कटुता अपने जटिल रूप में विद्यमान थी। असहयोग आन्दोलन के स्थगन के बाद हिन्दू—मुस्लिम एकता ६ राशायी हो गई और देश में सांप्रदायिक दंगों की बाढ़ सी आ गई।

प्रेमचन्द ने अपने ‘कायाकल्प’ उपन्यास में आगरे के हिन्दू—मुसलमानों की सांप्रदायिक भावनाओं का चित्रण करके तत्कालीन भारत में व्याप्त सांप्रदायिकता का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। कथाकार प्रेमचन्द इसका विस्तृत विवरण देते हुए लिखते हैं— “आगरे के हिन्दुओं और मुसलमानों में आये दिन जूतियाँ चलती रहती

थीं। जरा-जरा सी बात पर दोनों दलों के सिरफिरे जमा हो जाते और दो-चार के अंग-भंग हो जाते। कहीं बनिए ने डंडी मार दी और मुसलमानों ने उसकी दुकान पर धावा कर दिया, कहीं किसी जुलाहे ने किसी हिन्दू का घड़ा छू लिया और मुहल्ले में फौजदारी हो गई। एक मुहल्ले में मोहन ने रहीम का कनकौआ लूट लिया और इसी बात पर मुहल्ले भर के हिन्दुओं के घर लुट गए; दूसरे मुहल्ले में दो कुत्तों की लड़ाई पर सैकड़ों आदमी घायल हुए, क्योंकि एक सोहन का कुत्ता था, दूसरा सईद का। निज के रगड़े-झगड़े सांप्रदायिक संग्राम के क्षेत्र में खींच लाये जाते थे। दोनों ही दल मजहब के नशे में चूर थे।”<sup>8</sup>

इस प्रकार प्रेमचन्द जी सांप्रदायिकता का चित्रण समूचे राजनीतिक और सामाजिक परिदृश्य में करते हैं। इस दृष्टि से उनका कायाकल्प उपन्यास महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत उपन्यास में दो प्रसंगों में सांप्रदायिकता अपने उद्दाम रूप में परिलक्षित होती है। एक प्रसंग में मुसलमानों द्वारा गाय की कुर्बानी को लेकर दंगा छिड़ता है तो दूसरे प्रसंग में एक मौलवी साहब के कपड़ों पर होली के दिन किसी हिन्दू लड़के द्वारा रंग के दो-चार छींटे पड़ जाने को लेकर। दोनों ही प्रसंगों में प्रेमचन्द जी ने मौलवियों और पंडितों तथा ब्रिटिश सरकार व स्वार्थी नेताओं को विद्वेष उभारने और दंगों के लिए जिम्मेदार बताया है। प्रेमचन्द जी ख्वाजा महमूद के माध्यम से कहते हैं— “दोनों कौमों में कुछ ऐसे लोग हैं जिनकी इज्जत व सरवत दोनों को लड़ाते रहने पर ही कायम है। बस, वह एक न एक शिगूफा छोड़ा करते हैं। मेरा तो यह कौल है कि हिन्दू रहो, मुसलमान रहो, खुदा के सच्चे बन्दे रहो। सारी खूबियाँ किसी भी कौम के हिस्से में नहीं आयीं। न सब मुसलमान पकीपा हैं, न सब हिन्दू देवता हैं, इसी तरह न सभी हिन्दू काफिर, न सभी

मुसलमान मोमिन। जो आदमी दूसरी कौम से जितनी नफरत करता है, समझ लीजिए कि वह खुदा से उतनी ही दूर है।”<sup>9</sup>

आगरा में गोकुशी की तैयारी सामान्य रूप में नहीं वरन् मौलवी दीनमुहम्मद साहब के भड़काने से होती है। पंजाब से आये मौलवी साहब मुसलमानों के जलसे में न जाने क्या-क्या जहर उगलते हैं कि मुसलमानों को कुर्बानी की धुन सवार हो जाती है। और खेद की बात यह है कि बाबू यशोदानन्दन के साथ जनसेवा में जुटे ख्वाजा महमूद भी इसमें शरीक हो जाते हैं। जब यशोदानन्दन ख्वाजा महमूद से कुर्बानी की इस नई रस्म के बारे में पूछते हैं तो ख्वाजा महमूद दो टूक उत्तर देते हैं— “इसलिए कि कुर्बानी करना हमारा हक है। अब तक हम आपके जजबात का लिहाज करते थे, अपने माने हुए हक भूल गये थे। लेकिन जब आप लोग अपने हकों के सामने हमारे जजबात की परवाह नहीं करते, तो कोई वजह नहीं कि हम अपने हकों के सामने आपके जजबात की परवाह करें। मुसलमानों की शुद्धि करने का आपको पूरा हक हासिल है, लेकिन कम से कम पाँच सौ आपके में आपको यहाँ शुद्धि की कोई मिसाल नहीं मिलती। आप लोगों ने एक मुर्दा हक को जिन्दा किया है। इसीलिए न, कि मुसलमानों की ताकत और असर कम हो जाए। जब आप हमें जेर करने के लिए नए-नए हथियार निकाल रहे हैं, तो हमारे लिए इसके सिवा और क्या चारा है कि अपने हथियारों को दूनी ताकत से चलाएँ।”<sup>10</sup>

ख्वाजा महमूद की उक्त दलील से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुसलमान शुद्धि आन्दोलन को अपने धर्म पर हमला समझते हैं। इसलिए गाय की कुर्बानी द्वारा वे हिन्दुओं पर जवाबी हमला करते हैं। इस पर हिन्दू नेता यशोदानन्दन उत्तेजित हो जाते हैं और हिन्दू भी इस जिद पर अड़ जाते हैं कि चाहे खून की नदी बह जाए, पर कुर्बानी न होने पाएगी। चक्रधर प्रेमचन्द जी के सांप्रदायिक



दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। वह दोनों पक्षों की उत्तेजना शान्त करता है। वह कहता है, “हर एक कुर्बानी हिन्दुस्तान के 21 करोड़ हिन्दुओं के दिलों में जख्म कर देती है, और इतनी तादाद के दिलों में जख्म कर एक दिन पछतावे का बाइस हो सकता है? अगर आपकी गिजा है, तो शौक से खाइए। लाखों गोएँ रोज कत्ल होती हैं, हिन्दू सिर नहीं उठाते। फिर यह क्यों कर मुमकिन है कि वह आपके मजहबी मामले में दखलें दे? हिन्दुओं से ज्यादा बेतअस्सुब कौम दुनिया में नहीं है, लेकिन जब आप उनकी दिलजारी और महज दिलजारी के लिए कुर्बानी करते हैं, तो उनको जरूर सदमा होता है। और उनके दिलों में जो शोला उठता है, उसका आप क्यास नहीं कर सकते। अगर आपको यकीन न आए, तो देख लीजिए कि गाय के साथ ही एक हिन्दू कितनी खुशी से अपनी जान दे देता है।”<sup>11</sup>

चक्रधर अपनी धार्मिक उदारता के बल पर हिंसा के मार्ग को अहिंसा के मार्ग में बदल देता है। प्रेमचन्द जी चक्रधर के चरित्र द्वारा यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि परस्पर विश्वास, सौहार्द और धार्मिक उदारता से सांप्रदायिक संघर्षों को रोका जा सकता है। अब ख्वाजा महमूद का भी हृदय परिवर्तन हो जाता है और वह मौलवी साहब से कहते हैं— “आपको तो अपने हलवे-माँडे से काम है, जिम्मेदारी तो हमारे ऊपर आयेगी, दुकानें तो हमारी लुटेंगी, आपके पास फटे बोरिए और फूटे बँधने के सिवा और क्या रखा है?”<sup>12</sup>

इस प्रकार प्रेमचन्द जी के सांप्रदायिक सौहार्द की बात उनकी आस्था से जुड़ी हुई चीज थी न कि कोरी अवसरवादिता। जैसा कि शिवकुमार मिश्र लिखते हैं “सांप्रदायिक सौहार्द का सवाल प्रेमचन्द के लिए कुर्सी तथा सत्ता की होड़ में लगे राजनेताओं या अपना घर भरने वाले मुनाफाखोरों की तरह कोई अवसर का तकाजा नहीं था। वह उनके लिए किसी फौरी रणनीति या कार्यनीति का हिस्सा

भी नहीं था। सांप्रदायिक सौहार्द की बात उनकी आस्था से जुड़ी हुई चीज थी।<sup>13</sup>

‘कायाकल्प’ के दूसरे प्रसंग में होली के अवसर पर एक मौलवी साहब के कपड़े पर किसी हिन्दू लड़के के द्वारा रंग के दो-चार छींटे पड़ जाने पर दंगा छिड़ जाता है— ‘यहाँ भी मौलवी साहब के भड़काने से ही दंगा छिड़ता है— मौलवी साहब जामा मस्जिद की मीनार पर चढ़कर आवाज लगाते हैं— ‘ऐ उम्मतें रसूल! आज एक काफिर के हाथों मेरा दीन का खून हुआ है। उसके छींटे मेरे कपड़ों पर पड़े हुए हैं या तो काफिर से इस खून का बदला लो, या मैं मीनार से गिरकर नबी की खिदमत में फरियाद सुनाने जाऊँ।’<sup>14</sup>

मौलवी साहब की इस कपट-पुकार से रुढ़िग्रस्त और धर्मान्ध मुसलमानों के सिर पर दीन का जोश चढ़ जाता है और “शाम होते-होते दस हजार आदमी सिरों से कफन लपेटे, तलवारें लिए जामा-मस्जिद के सामने आकर दीन के खून का बदला लेने के लिए जमा हो गए।”<sup>15</sup>

बाबू यशोदानन्दन सरकारी अधिकारियों से मदद माँगते हैं पर प्रशासन की रुचि सांप्रदायिक संघर्ष को रोकने में तनिक भी नजर नहीं आती। इस प्रकार प्रेमचन्द जी ब्रिटिश शासन की भी कलाई खोलकर रख देते हैं।

दोनों संप्रदायों में विरोध की सीमा यहाँ तक बढ़ गई कि ख्वाजा महमूद ने फतवा दिया— “जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाय, उसे एक हजार हजों का सबाब होगा। तो उधर हिन्दुओं के नेता यशोदानन्दन ने काशी के पंडितों की व्यवस्था मँगवायी कि एक मुसलमान का वध एक लाख गोदानों से श्रेष्ठ है।”<sup>16</sup>

इस प्रकार दोनों संप्रदायों के कट्टर धर्मान्ध लोग सामान्य जनता को दंगों में झोंक देते हैं। एक ओर मुसलमानों की उन्मत्त भीड़ हिन्दुओं पर आक्रमण कर

हिन्दुओं के नेता यशोदानन्दन की हत्या कर देती है और उनके घर में आग लगा देते हैं तथा उनकी बेटी अहल्या का अपहरण भी कर लेते हैं तो दूसरी ओर हिन्दू सेवादल के युवकों द्वारा मुसलमानों के मुहल्लों पर आक्रमण कर दिया जाता है और सेवादल के सदस्य मुसलमान स्त्रियों, बच्चों और वृद्धों पर कहर बरसाते हैं। इस प्रकार इन दंगों के दौरान दोनों संप्रदायों की दशा उन्मादग्रस्त व्यक्ति की—सी हो जाती है। प्रेमचन्द लिखते हैं, “दीन के नाम पर ऐसे—ऐसे कर्म होने लगे, जिन पर पशुओं को भी लज्जा आती, पिशाचों के भी रोएँ खड़े हो जाते।”<sup>17</sup>

प्रेमचन्द जी दोनों प्रसंगों में सांप्रदायिक वैमनस्य को कोरा बनावटी बताने का प्रयास करते हैं जो कि धर्मान्ध लोगों की कुत्सित राजनीति का परिणाम होता है। प्रेमचन्द जी वागीश्वरी के मुख से यही बताना चाहते हैं। वागीश्वरी अपने पति यशोदानन्दन की मृत्यु पर विलाप करती हुई कहती है— “नित्य समझाती रही, इन झगड़ों में न पड़ों। न मुसलमानों के लिए दुनिया में कोई दूसरा ठौर—ठिकाना है, न हिन्दुओं के लिए। दोनों इसी देश में रहेंगे और इसी देश में मरेंगे। फिर आपस में क्यों लड़े मरते हो, क्यों एक दूसरे को निगल जाने पर तुले हुए हो? न तुम्हारे निगले वे निगले जायेंगे, न उनके निगले तुम निगले जाओगे, मिल—जुल कर रहो, उन्हें बड़े होकर रहने दो, तुम छोटे ही होकर रहो, मगर मेरी कौन सुनता है।”<sup>18</sup>

इस प्रकार प्रेमचन्द जी बराबर सांप्रदायिक सौहार्द पर बल देते हैं। यशोदानन्दन की लाश के पास ख्वाजा साहब को रोते हुए दिखाकर तथा अहल्या द्वारा अपने पुत्र की हत्या करने पर भी कोई दुःख नहीं मनाते दिखाकर सांप्रदायिक सौहार्द का परिचय देते हैं।

सांप्रदायिक दंगों की वीभत्सता और वहशीपन का चित्र प्रस्तुत करने के साथ साथ प्रेमचन्द उनके मूल कारणों का विश्लेषण भी करते हैं। वे ख्वाजा

महमूद के मुख से कहलाते हैं— “यशोदा भी इत्तहाद का उतना ही हामी था, जितना मैं। शायद मुझसे भी ज्यादा, लेकिन खुदा जाने वह कौनसी ताकत थी, जो हम दोनों को बरसरेजंग रखती थी। हम दोनों दिल से मेल करना चाहते थे, पर हमारी मर्जी के खिलाफ कोई दैवी ताकत हमको लड़ाती रहती थी।”<sup>19</sup> निश्चय ही वह दैवी ताकत अंग्रेज और उनके पिछलग्गु नेता थे। अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि ‘कायाकल्प’ में सांप्रदायिक समस्या का यथार्थ चित्रण किया गया है।

सांप्रदायिक समस्या के चित्रण की दृष्टि से ‘कायाकल्प’ के बाद ‘कर्मभूमि’ (1932ई०) का भी विशेष महत्व है। यद्यपि कर्मभूमि में सांप्रदायिक समस्या का प्रत्यक्ष चित्रण नहीं मिलता पर इसमें पात्रों के माध्यम से सांप्रदायिक भावना का परिचय मिलता है।

मोहम्मद सलीम और अमरकान्त दोनों एक—दूसरे के घनिष्ठ मित्र हैं। अमरकान्त कट्टर सनातनी हिन्दू परिवार का युवक होकर भी सलीम के साथ खाने—पीने में कोई परहेज नहीं करता और सलीम भी हिन्दू पात्रों के बीच बिल्कुल सहज भाव से रहता है। वह देश के सामाजिक—राजनीतिक आन्दोलनों में बिना किसी सांप्रदायिक भेदभाव के अपनी सहभागिता निभाता है। प्रेमचन्द जी उनकी गहरी मित्रता के माध्यम से हिन्दू—मुस्लिम एकता का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

यहाँ तक कि अमरकान्त एक मुस्लिम लड़की सकीना से प्रेम भी करता है और उससे विवाह करने के लिए कृतसंकल्प भी होता है। सलीम सांप्रदायिक दंगों की आशंका से घबराकर अपने दोस्त अमरकान्त को इसके लिए मना भी करता है तो वह निर्भय होकर कहता है—“मैं प्रेम के सामने मजहब की हकीकत नहीं समझता, कुछ भी नहीं।”<sup>20</sup> यहाँ तक कि वह अपने प्रेम—पात्र को पाने के लिए

मुसलमान बनने को भी तैयार हो जाता है। वह सलीम से कहता है—“मुझे इस्लाम में ऐसी कोई बात नजर नहीं आती है, जिसे मेरी आत्मा स्वीकार न करती हो। धर्म तत्व सब एक हैं। हजरत मुहम्मद को खुदा का रसूल मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं। जिस सेवा, त्याग, दया, आत्मशुद्धि पर हिन्दू-धर्म की बुनियाद कायम है, उसी पर इस्लाम की बुनियाद कायम है। इस्लाम मुझे बुद्ध और कृष्ण और राम की ताजीम करने से नहीं रोकता। मैं इस वक्त अपनी इच्छा से हिन्दू नहीं हूँ, बल्कि इसलिए कि हिन्दू घर में पैदा हुआ हूँ। तब भी मैं अपनी इच्छा से मुसलमान न हूँगा, बल्कि इसलिए कि सकीना की मरजी है। मेरा अपना ईमान यह है कि मजहब आत्मा के लिए बंधन है। मेरी अक्ल जिसे कबूल करे, वही मेरा मजहब है। बाकी सब खुराफात।”<sup>21</sup>

प्रेमचन्द जी ने सांप्रदायिकता को उभारने में इतिहास की साम्राज्यवादी और सांप्रदायिक व्याख्या को भी एक प्रमुख कारण माना है। उन्होंने ‘कर्मभूमि’ उपन्यास के एक पात्र मि० गजनवी के मुँह से कहलाया है— “गलत तवारीखें पढ़-पढ़कर दोनों फिरकें एक-दूसरे के दुश्मन हो गये हैं और मुमकिन नहीं कि हिन्दू मौका पाकर मुसलमानों से फर्जी अदावतों का बदला न लें।”<sup>22</sup>

और इस सांप्रदायिक इतिहास को पाठ्यपुस्तकों से निकाल देने की उनकी हार्दिक इच्छा थी। वे लिखते हैं— “वह मुबारक दिन होगा जब हमारी शालाओं से यह इतिहास उठा दिया जायेगा।”<sup>23</sup>

‘कर्मभूमि’ की सकीना और उसकी दादी भी संकीर्ण सांप्रदायिक भावनाओं से सर्वथा मुक्त हैं। सकीना की दादी अमरकान्त से कहती है—“नाम के मुसलमान, नाम के हिन्दू रह गये हैं। न कहीं सच्चा मुसलमान नजर आता है, न सच्चा हिन्दू।”<sup>24</sup>

इतना ही नहीं वह बेचारी गरीब वृद्धा मुन्नी के प्रसंग को लेकर जो

आन्दोलन छिड़ता है उसमें सकीना द्वारा बनाये गये रूमाल बेचकर चन्दा भी देती है। सकीना भी मजहब की परवाह न कर अमरकान्त से न केवल प्रेम करती है। वरन् उसके साथ विवाह—सूत्र में बँधने को भी तैयार है।

कालान्तर में अमरकान्त के पिता लाला समरकान्त का भी हृदय परिवर्तन हो जाता है। उन्हें हम सलीम के साथ एक ही आसन पर बैठकर भोजन करते देखते हैं। जब सलीम उनसे कहता है कि— “अब तो आप मुसलमान हो गये तो लाला समरकान्त बोले— मैं मुसलमान नहीं हुआ। तुम हिन्दू हो गये।”<sup>25</sup>

इस प्रकार प्रेमचन्द जी धर्मनिरपेक्ष पात्रों की सृष्टि कर सांप्रदायिक सौहार्द का चित्रण करने का सफल प्रयास करते हैं। सत्यमान ने ठीक ही लिखा है—“प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में हिन्दू—मुस्लिम संबंधों की समस्या को वैज्ञानिक दृष्टि से परखने, उनका विश्लेषण करने तथा उसे कलात्मक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।”<sup>26</sup>

प्रेमचन्द जी अपने उपन्यासों में बराबर यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि साधारण हिन्दू और मुसलमान अपने—अपने धर्मों का पालन करते हुए भी एक—दूसरे के साथ व्यापक मानवीय संबंधों से बँधे होते हैं। उनके बीच वैमनस्य पैदा करने का काम सरकार, सेठ—साहूकार, मुल्ला—मौलवी और पंडित—पुरोहित फैलाते हैं। गोयालराय लिखते हैं, “प्रेमचन्द सांप्रदायिक के कट्टर विरोधी थे। वे उस सांप्रदायिक मानसिकता से बिलकुल मुक्त थे जो मुसलमानों को विदेशी और हिन्दू विरोधी समझती थी। उन्होंने हिन्दी उपन्यास को उस संकीर्ण विचारधारा से मुक्त करने का प्रयास किया जिसके तहत मुसलमान पात्रों को काले और हिन्दू पात्रों को सफेद रंगों में चित्रित किया जाता है।”<sup>27</sup>

प्रेमचन्द की प्रासंगिकता पर विचार करते हुए बी०टी० रणादिवे ने ठीक ही लिखा है कि 'जिस समय हिन्दू-मुस्लिम रंगों तथा उनमें हिन्दुओं की बुरी स्थिति की रोज दुहराई जा रही कहानियों से उत्तेजित होकर गाँधी तक ने एक बात यह कह डाला था कि औसत हिन्दू कायर होता है, औरत मुसलमान गुण्डा होता है— ऐसी परिस्थिति में इसे उल्लेखनीय लेखक ने अप्रतिद्वद्धि वाक्पटुता और व्यग्रता के साथ हिन्दू-मुस्लिम एकता के हितों की लगातार पैरवी की। उन्होंने इसके तमाम विरोधियों, विशेषकर हिन्दू सांप्रदायवादियों से लड़ाई की। उन्होंने हिन्दुओं के समक्ष मुसलमानों के दृष्टिकोण को पेश करने की कोशिश की तथा अल्पसंख्यकों के संदेह को दूर करने के लिए उन्होंने मुसलमानों के दृष्टिकोण से खुद को सहमत बताया। ऐसे समय में जब हिन्दू-मुस्लिम एकता के नारे के साथ कांग्रेस रक्षात्मक स्थिति में चली गई थी क्योंकि लगातार दंगे हो रहे थे जिनके शिकार मुख्य रूप से हिन्दू बना करते थे तथा सरकारी तरफदारी बिलकुल नंगी होकर सामने आयी थी, इन बड़े नेताओं की आलोचना करने के लिए वास्तव में दृढ़ विश्वास और अत्यधिक साहस की जरूरत थी। प्रेमचन्द ने इस साहस का परिचय दिया।'<sup>28</sup>

### यशपाल के उपन्यासों में व्यक्त सांप्रदायिक समस्या

प्रेमचन्द की परंपरा को बढ़ाने का काम यशपाल जी ने बहुत ही सशक्त ढंग से किया है। इस दृष्टि से उनका 'झूठा सच' (1958-60ई०) उपन्यास अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

'झूठा सच' दो खण्डों में विभक्त एक वृहदकाय उपन्यास है। इसके पहले खण्ड का नाम है 'वतन और देश' (1958ई०) तथा दूसरे खण्ड का नाम है— 'देश

का भविष्य' (1960ई०)। दोनों खण्ड 1946ई० से 1956 तक के काल खण्ड को समेटे हुए हैं। इस प्रकार यह देश के विभाजन की पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि तथा परवर्ती परिणति सभी को उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है। जैसा कि नेमिचन्द्र जैन ने लिखा है, "झूठा—सच एक भयंकर विस्फोट के फलस्वरूप एक छोटी सी गली से बढ़कर महानगर बन जाने की तीखी यातनाभरी यात्रा की कथा है।"<sup>29</sup>

'झूठा—सच' में जिस समय का चित्रण किया गया है वह भारतीय इतिहास का एक बहुत ही उत्तेजना पूर्ण काल है। भारत को अंग्रेजी शासन की लंबी दासता से मुक्ति तो मिल गई लेकिन अखण्ड भारत के विभाजन के रूप में उसे बहुत बड़ी त्रासदी भी झेलनी पड़ी। उस समय हुए सांप्रदायिक दंगों में हजारों व्यक्ति मौत के घाट उतार डाले गये, लाखों विस्थापित हो गये, स्त्रियों और बच्चों के साथ अमानवीय अत्याचार किये गये और पूरे देश की एक विशाल जनसंख्या को अपना वतन छोड़कर भारत या पाकिस्तान में नये सिरे से बसना पड़ा। यह एक अनहोनी और अमानवीय त्रासदी थी। यशपाल ने 'झूठा सच' में इस त्रासदी का बहुत ही सजीव और दिल दहलाने वाला यथार्थ चित्रण किया है। स्वयं यशपाल जी 'झूठा—सच' के संस्मरण बताते हुए कहते हैं— "बार—बार अनुभव होता, सांप्रदायिक वैमनस्य के उन्माद में विरोधी को ध्वंस कर देने के उन्माद में आत्मघात का पछतावा। मन में निरन्तर व्याकुलता थी, मेरा पंजाब और लाहौर नहीं रहे, किसी तरह उनकी याद तो रह जाये। और सांप्रदायिक वैमनस्य के सामूहिक उन्माद की मूर्खता और उसके लिए पछतावा प्रकट कर सकने की आकुलता। उस समय 'अमिता' उपन्यास लिख रहा था। उसे पूरा करते ही 'झूठा सच' आरम्भ कर दिया।"<sup>30</sup>



इस प्रकार यशपाल जी 'झूठा सच' में सांप्रदायिकता की समस्या का बहुत विस्तार और गहराई के साथ विश्लेषण करते हैं। वर्षों से हिल-मिलकर रहने वाले मनुष्यों को धर्म तथा राजनीति के गलत संदर्भ किस तरह बाँट देते हैं और किस तरह मानवता की लाश पर पाशविकता अट्टहास करती है यह सब 'झूठा सच' के कथ्य के केन्द्र में है। यशपाल जी 'झूठा सच' के एक पात्र झाँझर से कहलाते हैं— "वह काफिला भी वतन छोड़कर अपने देश को जा रहा है। मनुखों के देश धर्मों के देश बन गये। रब्ब ने जिन्हें एक बनाया था, रब्ब के बन्दों ने अपने वहम और जुल्म से उन्हें दो कर दिया।"<sup>31</sup>

केबिनेट मिशन की योजना को कांग्रेस और मुस्लिम लीग द्वारा मंजूर किये जाने के बाद ही जून, 1946 में देश में हिन्दू-मुस्लिम दंगे भड़क उठे थे और विभिन्न शहरों में सांप्रदायिक कमेटियाँ बननी शुरू हो गई थीं। इन कमेटियों से संबंधित कार्य कर्ता गली-गली जाकर एक-दूसरे के धर्म के विरुद्ध प्रचार करके सांप्रदायिकता को हवा दे रहे थे। 'झूठा सच' की कहानी लाहौर में स्थित भौला पांघे की गली से शुरू होती है। जहाँ 'हिन्दू रक्षा कमेटी' की दो औरतें आकर सांप्रदायिकता का जहर फैलाती हैं। कमेटी की मुख्य कार्यकर्त्री ज्ञान देवी गली की औरतों को कलकत्ते में हुए सांप्रदायिक दंगों में मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर किये गये अत्याचारों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करती है— "बहिनों, क्या तुम्हें नहीं मालूम, कलकत्ते में मुसलमानों ने हजारों हिन्दू भाईयों को कत्ल कर डाला, हमारी सैकड़ों बहू-बेटियों को बेइज्जत कर डाला है अफसोस है, तुम्हारी गली में यह लोग अब भी सौदा बेच रहे हैं..."<sup>32</sup>

और इतना ही नहीं वह अन्य युवतियों को भी मुसलमानों के खिलाफ करने की जोरदार वकालत करती हुई कहती है— "हमारे मुहल्ले में तो सब बहिनों ने

कसम खा ली है कि मुसलमानों से सौदा नहीं खरीदेंगी।”<sup>33</sup>

इस प्रकार ज्ञानदेवी के बहकावे में आकर गली की सभी औरतें रोजाना आने वाले उस मुस्लिम फल विक्रेता से फल खरीदने से इंकार कर देती हैं।

धीरे-धीरे हिन्दू-मुसलमानों की खाई इतनी बढ़ जाती है कि तर्क और विवेक से बातों को समझने की गुंजाइश ही नहीं रह जाती। एक तरफ हर-हर महादेव, जय बजरंग बली की जय, जो बोले सो निहाल, सतसिरी अकाल, वन्देमातरम्, जैसे नारे लगते हैं तो दूसरी तरफ अल्लाहों अकबर, मुस्लिम लीग जिन्दाबाद, खिजर मिनिस्ट्री जिन्दाबाद, पाकिस्तान लेके रहेंगे जैसे नारे। हिन्दू-मुसलमान का यह झगड़ा कितना फालतू और बेमानी है इसका उद्घाटन ‘झूठा सच’ के लेखक यशपाल जी तारा के माध्यम से करते हैं। तारा ज्ञानदेवी से कहती है— “बहिनजी, हिन्दू-मुसलमान का झगड़ा तो व्यर्थ की मूर्खता है। झगड़ा कर जायेंगे कहाँ? वही तो दोनों का घर है। हमारी असली लड़ाई तो अंग्रेज से है जिसने मुल्क पर कब्जा किया हुआ है।”<sup>34</sup> यशपाल जी तारा के कथन द्वारा अंग्रेजों की ‘फूट डालो और शासन करो’ की नीति की ओर इशारा कर अंग्रेजी साम्राज्यवाद की कलाई भी खोल देते हैं। चूँकि साम्प्रदायिक उत्तेजना से परिपूर्ण राजनीति और साम्प्रदायिक घृणा व विद्वेष का तूफान आजादी से पूर्व ही भारतीय क्षितिज पर उठ चुका था। इसके पीछे अंग्रेजों की साम्प्रदायिक और साम्राज्यवादी राजनीति ही काम कर रही थी। ‘झूठा सच’ का पात्र प्रद्युम्न भी इसी ओर संकेत करते हुए कहते हैं— “हिन्दू, सिख और मुसलमान भाईयों! आपने अपनी आँखों से देख लिया है कि अंग्रेज सरकार और उसके टोडी कुत्ते हमें आपस में लड़ा देने की कैसी साजिशें करते हैं।”<sup>35</sup>

हिन्दू साम्प्रदायिकता के समानान्तर सिख साम्प्रदायिकता भी जोर पकड़ने लगती है। मास्टर तारा सिंह सिखों में मुसलमानों के खिलाफ साम्प्रदायिकता का घोर विष भरने का काम करते हैं वह जुलूस में प्रधान की अनुमति की प्रतीक्षा न कर अपना भाषण आरम्भ कर देता है— “हम पंजाब में मुसलमानों की हुकूमत हर्गिज बर्दाश्त नहीं करेंगे। आप लोग तवारीख को मत भूलिए। सिख कौम मुसलमानों के खिलाफ लड़-लड़कर ही इतनी बड़ी हुई है।... अगर हमें मुसलमानों की हुकूमत बर्दाश्त करनी है तो श्री दशमेश (गुरु गोविन्द सिंह) ने औतार किसलिए धारण किया था।”<sup>36</sup> यशपाल जी ‘झूठा सच’ में यह भी स्पष्ट करते हैं कि तत्कालीन परिवेश में इन फसादों में घृणा और बदले की भावना कार्य कर रही थी। बरेली स्टेशन से पश्चिम की ओर जाने वाली डाक गाड़ी के अंतिम डिब्बे में बैठा हिन्दू अपने समीप बैठना चाहने वाले प्रौढ़ मुसलमान को धमकाता है— “क्या हमारे सिर पर बैठोगे? दूसरी गाड़ी में जाओ।” जयदेवपुरी को हिन्दू की यह बात अच्छी नहीं लगती है वह कहता है— अच्छा जनाब, आप ही बैठ जाइए। इस पर उस हिन्दू यात्री ने घृणा की दृष्टि से पुरी की ओर देखकर कहा— “बहुत मुहब्बत है आपको इनसे, यहाँ हम लोग इन्हें सिर पर बैठा लें। मालूम है, लाहौर में हिन्दू स्टेशन पर कदम नहीं रख सकता।”<sup>37</sup>

लेखक की राय में केवल एक ही ऐसी सामाजिक शक्ति है जो इस साम्प्रदायिकता का सही और कारगर जवाब बन सकती है, और वह शक्ति है देश का अपनी सही वर्ग-चेतना से लैश श्रमिक वर्ग। जब कम्युनिस्टों द्वारा आयोजित रेल-यूनियन के मजदूरों का विशाल जुलूस लाहौर की गलियों से शांति के समर्थन और सांप्रदायिक हिंसा के खिलाफ नारे लगाता हुआ गुजरता है तब शायद ब्रिटिश साम्राज्यवाद और देश की पूँजीवादी और सामंती ताकतों का काम यह रह

जाता कि किसी तरह मजदूरों की वर्ग चेतना को कुंठित किया जाय। यहाँ यशपाल उस घटना का हवाला देते हैं जब रेल-मजदूरों के बीच बम फेंका गया, ताकि इस आक्रमण को सांप्रदायिक रंग दिया जा सके। 'झूठा सच' का पात्र महाजन कहता है—“रेलवे वर्कशाप में जो बम फेंके गये थे मिलिट्री के ग्रिनेड थे। आज घर-घर बन्दूकें, राइफलें पहुँच गई हैं। यह क्या हो रहा है! यह अमन है? यह सरकार इतनी पुलिस और फौज से अमन नहीं कायम कर सकती? यू.पी. में किदवई ने कैसे खाकसारों को ठण्डा कर दिया। यहाँ नहीं हो सकता?”<sup>38</sup>

इस प्रकार शासक वर्ग की सुनियोजित नीति के फलस्वरूप देशवासियों को साम्प्रदायिकता का दंश झेलना पड़ता है। इस साम्प्रदायिकता की चरम परिणति भारत विभाजन के रूप में होती है। सदियों से एक साथ रह रही जनता से इसका अभिशाप झेलना पड़ा। मिर्जा कहते हैं— ‘हिन्दुओं को मुसलमानों को और मुसलमानों को हिन्दू-सिखों से, लोगों को अपनी पुश्तैनी जगहों से अलग करना ऐसा है जैसे जिस्म के माँस को हड्डियों से अलग करना।’<sup>39</sup>

भारत में बसे मुसलमान अपना देश छोड़ने को तत्पर नहीं थे, वे इसी धरती को अपनी जमीन मानते थे लेकिन पाकिस्तान से आये भारतीयों को यह सहन नहीं हुआ कि मुसलमान भारत में रहें। शरणार्थी हिन्दुओं ने स्थापित मुसलमानों को भारत से उखाड़ने के लिए उन पर हमले करना शुरू कर दिया। यशपाल ने 'झूठा सच' में लिखा है, “15 अगस्त, 47 के दिन ईशाक मुहम्मद के समझाने से बहादुरगढ़ मुहल्ले में शेष रह गये सभी मुसलमानों ने, अपने मकानों पर भारत के राष्ट्रीय झण्डे फहरा लिये थे। वे लोग अपना वतन छोड़कर 'सल्तनते इलाही' (धर्मराज्य) में चले जाने के लिए तैयार नहीं थे। हिन्दुओं को, खासकर पश्चिम से आये हिन्दुओं को मुसलमानों की भारत-भक्ति नहीं सुहा रही थी। वे पश्चिम में

हिन्दुओं पर भयंकर अत्याचार करके और उन्हें वतन से निकाल देने वाले सम्प्रदाय के लोगों को अपनी छाती पर कैसे बैठे रहने देते।”<sup>40</sup>

विभाजन की सबसे बड़ी विडम्बना यही रही कि जनता को उनकी इच्छा के विरुद्ध अपना भरा-पूरा घर-बार छोड़कर भागना पड़ा और अनजानी और अनचाही जगह में जाकर शरण लेनी पड़ी। एक ओर भारत में रह गये मुसलमान व दूसरी ओर यहाँ से जाने वाले मुसलमानों की स्थिति के बारे में राजेन्द्र यादव तुलना करते हुए लिखते हैं, “यहाँ के मुसलमान की ट्रेजेडी काफी इकहरी यानी रिश्तेदारों के बँट जाने की ट्रेजेडी है, यहाँ आडट-साइडर होने या मुख्यधारा में हिस्सेदार न होने पाने की और भावनात्मक रूप से बिखरे होने की ट्रेजेडी है, लेकिन उधर के मुसलमान की ट्रेजेडी इस सबके साथ-साथ ज्यादा गहरी है—उसके साहित्य, संगीत, स्थापत्य, शौक और सब मिलाकर हजार साल की जमीन वहाँ है जो कभी उसकी अपनी थी—जिसे बनाने और विकसित करने में उसने अपना खून पसीना दिया था।”<sup>41</sup>

साम्प्रदायिक दंगों के दौरान मानवीय मूल्यों का पतन हो जाता है। व्यक्ति का धर्म केवल यही रह जाता है कि हिन्दू मुसलमान को मारे और मुसलमान हिन्दुओं का कत्लेआम करें। अतः वह केवल हिन्दू या मुसलमान के रूप में ही शेष रह गया था। भारत-विभाजन के दौरान हुए आमकत्लों के बारे में यशपाल ‘झूठा सच’ में लिखते हैं, “गाड़ी में एक भी व्यक्ति शेष न होने के कारण गाड़ी लाहौर स्टेशन पर रोक दी गई। अनुमान किया जाता है, शाहदरा स्टेशन पर एक हजार से अधिक हिन्दू स्त्री, पुरुषों और बच्चों की हत्या हुई है। गाड़ी को लाशों से भर कर शाहदरा स्टेशन से लाहौर की ओर भेज दिया गया। लाशों से भरी गाड़ी के पूर्व की ओर जाने के दुष्परिणाम का विचार कर अधिकारियों ने गाड़ी को लाहौर

में स्थगित कर दिया। गाड़ी में मारे गये व्यक्तियों के नाम धाम इत्यादि के विषय में कोई सूचना पा सकना संभव नहीं है।”<sup>42</sup>

भारत—विभाजन के दौरान जमीन से उखड़ने का दर्द व्यक्ति को बेधे जा रहा था और केवल घर ही नहीं छूटा, सगे—संबंधी—कुटुम्बी सब आपस में बिछुड़ गये। डा. महीप सिंह लिखते हैं— “इस देश के विभाजन की मानव त्रासदी के कितने ही गवाह आज भी हमारे मध्य हैं। 1947 में जो कुछ भी हुआ वह करोड़ों लोगों के साथ घटित हुई ऐसी भावनात्मक यातना थी जिसकी उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। विभाजन की सारी लड़ाई राजनैतिक लोगों और वैयक्तिक मन्तव्यों के स्तर पर लड़ी गई और धार्मिक उन्माद को उसका वाहक बनाया गया। समूह स्तर पर लोग लड़े मरे, घृणित—कुत्सित कर्मों के सहभागी बने परन्तु व्यक्ति स्तर पर मानवीय स्तर पर वे फूट—फूट कर रोये। एक—दूसरे से बिछुड़ने के दर्द को लाखों लोग आज भी अपने मनों में समाये हुए हैं।”<sup>43</sup> आहत, पीड़ित, त्रस्त सर्वहारा व्यक्ति अपने अन्दर नफरत का एक ज्वालामुखी धधकता हुआ अनुभव करता है और इस ज्वाला से सबका विनाश चाहता है। कृष्णा सोबती बँटवारे के दौरान फैली इस घृणा के बारे में लिखती हैं, “बाटवारे के दरमियान नफरत एक ऐसे पैमाने पर पहुँच गई थी जहाँ न सिर्फ जमीन की बाँट थी—मानवीय संबंधों के टूटने, खत्म हो जाने की तिकड़न और टूटन भी थी।”<sup>44</sup> विभाजन के फलस्वरूप दोनों देशों की सरकारों को शरणार्थी समस्या का सामना प्रमुख रूप से करना पड़ा। करोड़ों लोगों की आजीविका और आवास व्यवस्था करना एक जटिल कार्य था। कैम्पों में शरणार्थियों की हालत अत्यन्त दयनीय थी। वहाँ पर सिर्फ डेढ़पाव आटा और छटाँक भर दाल प्रति व्यक्ति प्रतिदिन के हिसाब से मिलता था। “क्यूँ मैं सबसे पहले खड़ी स्त्री राशन देने वाले से अनुरोध कर रही

थी— भाई, हम चार आदमी, दो बच्चे भी हैं। डेढ़भाव आरा, छटौंक भर दाल से हमारा क्या बनेगा? भाई, सरभर आरा तो दो।

भाई, फी आदमी डेढ़ पाव आटा, छटौंक भर दाल का ही आर्डर है। जो यहाँ आयेगा, उसी को मिलेगा। राशन बाँटने वाले ने नियम की विवशता प्रकट की।<sup>45</sup>

दंगों के दौरान और बाद में स्त्री को जितना अधिक सहना और भोगना पड़ा उतना किसी और समुदाय को नहीं। हिंसा और भारकार के उस अमानवीय दौर में औरत सिर्फ एक शरीर रह गई थी—उसकी माँ, बेटी, बहिन या और किसी मर्यादित रिश्ते की पहचान खो गई थी। 'झूठा सच' की पात्र सतवत क्रोध में आकर कहती है— "जनाना तुम्हें जनने की ही कसूरवार है। सौ—हजार बार फिटे मुँह तुम्हारा। लाख लानत है तुम पर! मर्द आपस में लूटते हैं, कत्ल करते हैं पर मर्द एक—दूसरे को नंगा करके उनके जिस्म की बेइज्जती तो नहीं करते।"<sup>46</sup>

इसी प्रकार तारा पंजाब से दिल्ली आते समय रास्ते में हिन्दू काफिलों पर हुए अत्याचार को देखकर सन्न रह जाती है— "बाँस के सिरे पर एक स्त्री का नंगा शरीर था। स्त्री बाँस के सिरे पर टाँगे फैलाये अटकी हुई थी। दोनों टाँगों पर ताजा खून क्षितिज से झाँकते सूर्य की किरणों में चमक रहा था। स्त्री की गर्दन और बाँहें निर्जीव, शिथिल लटकी हुई थी। यह लोग मुस्लिम काफिले को घृणित गालियों से ललकार रहे थे— "ले जाओ, ले जाओ। अपनी माओं बेटियों को पाकिस्तान ले जाओ!"<sup>47</sup>

अपहृत स्त्रियाँ कष्टों को झेलती हुई किसी प्रकार जब अपने घर वालों के पास पहुँचती हैं तब वहाँ पहुँचकर उन्हें मिलता है अपमान और तिरस्कार और मरने पर सती—सावित्री की उपाधि। 'झूठा—सच' में बंती प्रसंग में यशपाल ने इसी

कुरीति पर अपनी सटीक लेखनी चलायी है। बंती शरणार्थियों की भयंकर बाढ़ में अपने पति व पुत्र को खो बैठती है, अन्त में बहुत सी पेशानियों के बाद उसे अपना परिवार मिल भी जाता है लेकिन उसके घर के दरवाजे उसके लिए हमेशा के लिए बन्द हैं क्योंकि उसका धर्म उसे इस बात की अनुमति नहीं देता कि वह अपने पति के बिना मालूम हुए घर छोड़ दे, वहाँ फिर घुस सके। बंती की सास बंती का सिर पाँव से धकेलते हुए कहती है— “दूर रह तुझे कह दिया। तू अब हम लोगों के किस काम की।”<sup>48</sup> उसका पति गोपालदास भी घर के किवाड़ बंद करते हुए कहता है— “दो महीने मुसलमानों के घर रह आयी है। हम कैसे रख लें।”<sup>49</sup> अतः दुःख से कातर बंती अपने घर की चौखट पर अपना माथा पटक पटक कर मौत को गले लगा लेती है— यह देखकर कि वह मर चुकी है, अलावा पति, सास और देवर दरवाजा खोलते हैं और देवताओं की कृपा के गीत गाकर वे उस दुर्भाग्यग्रस्त नारी के शव को ठिकाने लगाते हैं। बंती का दुःखमय अन्त तारा की करुण कथा से भी अधिक हृदयद्रावक है। यशपाल लिखते हैं ‘उसके घुटनों के समीप बंती का शरीर पड़ा था। चेहरा खून से लथपथ, मक्खियाँ बैठ रही थीं। समीप अनतहाया लाल कपड़ा गली के फर्श पर पड़ा था।’<sup>50</sup>

इस प्रकार जीते जी जिस बंती के लिए घर के दरवाजे बन्द हो गये थे, दरवाजे की चौखट पर मर जाने के बाद उसी बंती को सती मान लिया जाता है व उसका पति, देवर, सास सब उसकी अंतिम क्रिया में लग जाते हैं व मरणोपरान्त वह गृह प्रवेश भी कर जाती है यशपाल लिखते हैं, “बंती के लिए अर्थी बनाई जा रही थी। गोपालदास और मनोहरदास दूसरे दो आदमियों के साथ चुपचाप अर्थी बाँध रहे थे। स्त्रियाँ बंती के शरीर को नहलाने के लिए भीतर ले गईं। गोपालदास और मनोहरदास ने मुहल्ले के दो आदमियों के साथ लाल कपड़े में लिपटी हुई



“बंती को अर्थी में बाँधकर आदर से पालकी की तरह अपने कंधों पर रख लिया।”<sup>51</sup> अतः बंती का बलिदान हिन्दू रूढ़िवाद की चौखट पर हुआ।

इतना ही नहीं कट्टर हिन्दुओं द्वारा मुस्लिम स्त्रियों की खुली नीलामी भी की जाती है। नंगी स्त्रियाँ नीलाम की जाती हैं।

इस प्रकार यशपाल जी ने ‘झूठा सच’ में देश के बँटवारे के समय और उसके पूर्व व पश्चात् की सांप्रदायिक विभीषिका में जलते हुए भारत और पाकिस्तान की जन यातना का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। देखने में लगता है कि दोनों देशों की जनता स्वभावतः अपने सांप्रदायिक विद्वेष की आग में धधक उठी थी किन्तु यह होकर भी झूठ था, सच थी जनता को बरगलाकर अपने को तृप्त करने वाली राजनैतिक नेताओं की अदम्य अमानवीय प्यास। जमदेवपुरी सच ही कहता है— “लीग के लीडर जिन्ना मजहबी मुसलमान नहीं, पोलिटीकल मुसलमान हैं, उन्हें हुकूमत करने का मौका चाहिए।”<sup>52</sup> और जब एक बार इन नेताओं ने अपने स्वार्थ के लिए जनता को बरगला दिया तो परिस्थिति स्वयं उनकी संभाल के बाहर हो गई। किन्तु इससे क्या, जनता से इनका रागात्मक संबंध भी क्या? जनता तो इनके लिए पाँव रखने की सीढ़ी है। डॉ० रामविलास शर्मा ‘झूठा सच’ की विवेचना करते हुए लिखते हैं— “इस उपन्यास का राजनीतिक महत्व यह है कि वह जनता को देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियों का वास्तविक घृणित रूप दिखलाता है, उनसे जनता को सावधान रहना सिखलाता है। ये शक्तियाँ अभी समाप्त नहीं हुईं वरन् धर्म और संस्कृति के नाम पर अब भी जनता के कुछ हिस्सों को गुमराह करती हैं और हत्या, दंगे, नरमेध संगठित करने में सफल हो जाती हैं। जो बातें पहले जबानी प्रचार से आरम्भ होती हैं, उनकी परिणति स्त्रियों की बेइज्जती, बच्चों की हत्या, बूढ़े-नौजवानों की अकाल मृत्यु में होती है। इस बर्बरता

को जड़ से खत्म करना आज भी हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य बना हुआ है।”<sup>53</sup>

ये प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ कई स्थानों पर स्वयं नेपथ्य में रहती हैं और इनके द्वारा पालित समाज—कंटक इनके निर्देशों पर अपना कार्य करते हैं। ‘झूठा सच’ में तत्कालीन नेताओं की स्वार्थपरता, ढोंग, कांग्रेस की वास्तविक स्थिति आदि को उभारा गया है। मिसेज अगरवाला के व्यवहार द्वारा कांग्रेस की नीति पर व्यंग्य किया गया है। मिसेज अगरवाला का यह कहना कि “मैं जरा मुँह धोकर यह मरी खद्दर की साड़ी उतार दूँ कमर पर मूँज की तरह गड़ रही है।”<sup>54</sup> छद्म कांग्रेसियों का मुखौटा उतारकर वास्तविकता को सामने रखता है। स्वाधीनता प्राप्ति से पहले इस नेतृत्व ने क्रांति से भय खाकर समझौते का रास्ता अपनाया लेकिन इस समझौते की परिणति देश के बँटवारे और लाखों लोगों के पलायन तथा हत्याकाण्डों के संगठन में हुई। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद इस अवसरवादी नेतृत्व ने जनता की आशाएँ पूरी नहीं कीं वरन् झूठे वादों से उसे बहकाकर अपने वर्ग—स्वार्थ सिद्ध किये। ‘झूठा सच’ का माथुर कहता है “दो ही साल में गाँधीजी की जय खोखली पड़ गई। सब शासक पुराने आई०सी०एस० लोग चला रहे हैं। उन लोगों ने सेवा करनी नहीं, शासन करना सीखा है। उन्हें डेमोक्रेसी नहीं, ब्यूरोक्रेसी की आदत है। वही कानून है, वही पुलिस का राज। रेवोल्यूशन इज चेंज—ऑफ रूलर्स (क्रांति में शासक बदल जाते हैं)। रेवोल्यूशन हुआ कहाँ, आप ही बताइए?”<sup>55</sup>

उपन्यास का नामकरण भी यही संकेत देता है। वस्तुतः यशपाल जी देश की आजादी को ‘झूठा सच’ करार देते हैं। देश आजाद हुआ यह सच है लेकिन वह आजाद होकर भी आजाद नहीं हुआ। अतः आजादी झूठी ही साबित हुई। स्वयं यशपाल ने लिखा है “सच को कल्पना से रंग कर उसी जनसमुदाय को सौंप रहा

हूँ, जो सदा झूठ से ठगा जाकर भी सच के लिए अपनी निष्ठा और उसकी ओर बढ़ने का साहस नहीं छोड़ता।”<sup>56</sup> अतः स्पष्ट है कि यशपाल की दृष्टि में व्यापक जनसुमदाय हैं जिसमें सत्यनिष्ठा का मूल्य चुकाने का साहस है। इसके केन्द्र में देश की चिन्ता है।

यशपाल हृदय-परिवर्तन के गाँधीवादी उपाय को सफल नहीं मानते। उन्होंने गृह मंत्रालय के सेक्रेटरी रावत से कहलाया है— ‘बेशक, कुछ समय के लिए बहुत से लोगों के हृदय बदल गये हैं, परन्तु मस्तिष्क नहीं बदल गये हैं।’<sup>57</sup> लेकिन ‘झूठा-सच’ लिखे जाने के लगभग पचास साल बाद भी क्या इस तर्क ने सांप्रदायिक भयावहता को कुछ कम किया है। लगता यही है कि आज भी लोगों के दिलों को बदले जाने की जरूरत बनी हुई है।

सूद उस भ्रष्ट राजनीति-व्यवसायी का प्रतिनिधि है जो अपनी सारी नंगई और बेशर्मी के साथ सत्ता पर काबिज है। सूद जैसे राजनीतिक नेता आज के भारत की नंगी सच्चाई है, जो अपने स्वार्थ के लिए देश के विकास को अवरुद्ध करने, देश के हितों को बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथों बेचने, देशी पूँजीपतियों और व्यवसायियों के हितों की रक्षा में जनता के साथ विश्वासघात करने तथा आर्थिक योजनाओं के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करने के लिए किसी भी अनैतिक मार्ग पर चलने में संकोच नहीं करते। लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि जनता निर्जीव नहीं है। यही कारण है कि सूद जी चुनाव में पराजय का मुँह देखते हैं। जब गिल डॉ० प्राणनाथ के घर जाकर यह सूचना देते हैं कि सूद जी सत्रह हजार वोटों से हार गये हैं तो डॉ० प्राणनाथ सहसा गंभीर होकर कहने लगे— ‘गिल, अब तो विश्वास करोगें, जनता निर्जीव नहीं है। जनता सदा मूक भी नहीं रहती। ‘देश का भविष्य’ नेताओं और मंत्रियों की मुट्ठी में नहीं है, देश की जनता के ही हाथ में है।’<sup>58</sup> अतः

यशपाल जी अन्ततः देश के भविष्य को जनता के हाथों में सुरक्षित मानते हैं। संक्षेप में, यशपाल का 'झूठा सच' केवल एक उपन्यास ही नहीं है, एक जीवन दृष्टि भी है जो इनकी समस्त उपन्यास कला के उद्देश्य के मूल में है। उनका 'झूठा सच' न केवल सांप्रदायिक समस्या पर गहराई से विचार प्रस्तुत करता है बल्कि अपनी सामयिक पीढ़ी को भी सोचने के लिए बाध्य करता है।

### भीष्म साहनी के उपन्यासों में व्यक्त सांप्रदायिक समस्या

प्रेमचन्द की यथार्थवादी परंपरा में भीष्म साहनी का अप्रतिम स्थान है। उनका वैचारिक धरातल परिपक्व है। जीवन की सांस्कृतिक विकृतियों को भीष्म जी ने बड़ी पैनी निगाहों से देखा है। शिवकुमार मिश्र के शब्दों में, "आधुनिक जीवन के यथार्थ को खरे मानवीय सरोकारों के साथ कलात्मक अभिव्यक्ति देने में भीष्म की कलम बेमिसाल है। उनके पास वह वैचारिक परिपक्वता भी है जो उन्हें यथार्थ के अंतर्विरोधों के बीच से उसके सारतत्व को अलग सकने की समझ देती है तथा उनकी मानवीय संवेदना को बराबर मुनष्यता के उस अभिशप्त हिस्से से जोड़े रखती है जिसे उसकी जरूरत है।"<sup>59</sup>

'तमस' (1973ई०) उपन्यास उनके रचनाकार के खरे यथार्थ बोध तथा मानवीय सरोकारों का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करना है। 'तमस' में भीष्म जी ने सांप्रदायिकता की समस्या से सीधा साक्षात्कार किया है जो प्रेमचन्द के लिए भी एक अहम् समस्या थी।

'तमस' में स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व के पाँच दिनों की कहानी है जो कि एक लम्बे इतिहास को समेटे हुए है। सांप्रदायिक उन्माद, हिंसा, घृणा ने किस प्रकार विदेशी शासकों के साथ मिलकर इस देश के टुकड़े करा दिये, वह सब कुछ इन

पाँच दिनों में छिपा हुआ है। स्वयं भीष्म साहनी 'तमस' के संस्मरण बताते हुए कहते हैं, " 'तमस' का परिवेश मार्च 1947ई० में रावलपिण्डी तथा आसपास के गाँवों में हुए हिन्दू मुस्लिम दंगे हैं। ये दंगे लगभग पाँच—छः दिन तक रहे और जिला के सैकड़ों गाँवों को अपनी लपेट में लिया। दंगे तो पाँच—छः दिन तक ही रहे लेकिन वर्षों पहले से देश के वायुमण्डल में हिन्दु—मुस्लिम तनाव पाया जाता था। जब से पाकिस्तान की तहरीक चली थी, सांप्रदायिक प्रचार को एक तरह से खुली छुट्टी मिल गई थी। मैंने तनाव के दिन देखे हैं। उन दिनों मैं कांग्रेस की जिला कमेटी का सदस्य था और जिले में जगह—जगह घूमने का इत्फाक भी हुआ था। तनाव के वे दिन भुलाये नहीं भूलते।"<sup>60</sup> अतः 'तमस' उस अंधकार का द्योतक है जो आदमी की इंसानियत और संवेदना को ढक लेता है और उसे हैवान बना देता है। उपन्यास का आरंभ 'आले में रखे दीये ने फिर से झपकी ली' वाक्य से होता है जो इसी को व्यंजित करता है।

भीष्म साहनी सांप्रदायिक उन्माद का सजीव चित्रण करने के साथ—साथ उन स्थितियों और कारणों का विश्लेषण करने का भी प्रयास करते हैं जो देश के विभाजन और सांप्रदायिकता के मूल में थे। सांप्रदायिक दंगों की शुरुआत अंग्रेज अफसरशाही के इशारे पर म्युनिसिपैलिटी कमेटी के कारिन्दे मुरादअली द्वारा सीधे—सादे पर मजबूर नत्थू द्वारा सूअर मरवाकर मस्जिद की सीढ़ियों पर डलवा देने की घटना से होती है। फलस्वरूप सारे शहर में अविश्वास, आशंका, क्रोध, भय और धर्मोन्माद पर आधारित हिंसा भयंकर रूप ग्रहण कर लेती है।

इधर सूअर को मारने के बाद भी नत्थू इस बात से अनजान बना रहता है कि यह सूअर जो उसने मारा है कितने ही निर्दोषों की जान ले लेगा। लेकिन यह सारी की सारी घटना ही दुःस्वप्न की तरह उसकी आँखों के सामने घूमती रहती

है। वह अपने घर पहुँचकर मन ही मन बड़बड़ाता रहता है— “भाड़ में जाए मुराद अली और उसका सूअर। जो हो गया सो हो गया। मैंने जानबूझकर कुछ नहीं किया है। मैंने तो जो कुछ किया अनजाने में किया, ये लोग जो आग लगा रहे हैं, और राह जाते लोगों को मार रहे हैं, ये तो आँखें खोलकर सब काम कर रहे हैं, ये क्यों बुरा कर्म कर रहे हैं? मेरे एक सूअर को मार देने से क्या होता है? एक सूअर को मार देने में रखा ही क्या है? मैं मुजरिम हूँ तो क्या ये लोग मुजरिम नहीं? वे लोग जिन्होंने मण्डी में आग लगाई है? मैंने जानबूझकर कुछ नहीं किया। हो गया जो होना था। मुझे इससे कुछ लेना—देना नहीं है।”<sup>61</sup> राजेन्द्र यादव ठीक ही लिखते हैं, “नत्थू ने रात—भर की उठा—पटक के बाद सूअर को मार दिया। वह उसके शरीर में छुरा मारता था, लेकिन छुरा सिर्फ चर्बी में धंस कर रहा जाता। रात—भर उस गंदी, बदबूदार और घुटी कोठरी में वह सूअर से कुश्ती लड़ता रहा, उसके हाथ—पांव लहू—लुहान हो गये, सांस उखड़ गई और जब तक सूअर मरा वह खुद घायल और लस्त—परस्त होकर ढह गया। लेकिन सूअर मरा नहीं था, वह मस्जिद की सीढ़ियों पर जाकर फिर से जिन्दा हो गया था— अपने पूरे पशुत्व और सारे प्रतिशोध के साथ। फिर पाँच दिनों तक यह सूअर बेगुनाहों को मारता रहा, मुहल्ले और मंडिया जलाता रहा, गाँव लूटता रहा और कत्ल हत्याएँ करता रहा। रक्तबीज की तरह हर जगह और भी बड़ा होकर हमले करता है।”<sup>62</sup>

नत्थू को पाँच रुपये का लालच देकर सूअर मारने का आदेश देने के लिए मुरादअली तो सामने आता है लेकिन मुरादअली को निर्देश देने वाला डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड पर्दे के पीछे ही रहता है। और हिन्दू—मुसलमान दोनों ही संप्रदायों के नेता अपने भड़काऊ भाषणों से जनता को दंगों में झोंक देते हैं, वे दंगों की जड़

में जाने का प्रयास ही नहीं करते। मुस्लिम लीग की तरफ से प्रचार किया जाता है कि “कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है। इसके साथ मुसलमानों का कोई वास्ता नहीं है—कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है और मुस्लिम लीग मुसलमानों की। कांग्रेस मुसलमानों की रहनुमाई नहीं कर सकती।”<sup>63</sup>

तर्क और विवेक की बातें इस माहौल में बेअसर नज़र आती हैं। कांग्रेस वालों के समझाने पर कि कांग्रेस में तो हिन्दू, मुसलमान, सिख सभी हैं, मुस्लिम लीग वाले कहते हैं, कांग्रेस में जो मुसलमान हैं वे हिन्दुओं के कुत्ते हैं। हिन्दुओं से नफरत नहीं, इनके कुत्तों से नफरत है। यह तर्क देने पर कि कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद एक मुसलमान हैं, वे कहते हैं— “मौलाना आजाद हिन्दुओं का सबसे बड़ा कुत्ता है। गाँधी के पीछे दुम हिलाता फिरता है, जैसे ये कुत्ते (अजीम, हकीम आदि कांग्रेसी सदस्य) आपके पीछे दुम हिलाते—फिरते हैं। कांग्रेसियों के समझाने पर कि आजादी सबके लिए है। सारे हिन्दुस्तान के लिए है। इस पर लीगी नेता कहते हैं “हिन्दुस्तान की आजादी हिन्दुओं के लिए होगी, आजाद पाकिस्तान में ही मुसलमान आजाद होंगे।”<sup>64</sup>

हिन्दू—मुसलमान का यह झगड़ा कितना फालतू और बेमानी है, यह दिखाने के लिए भीष्म जी ने जिले के डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड और उसकी पत्नी लीजा की बातचीत के माध्यम से बताया है कि हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई सब मनुष्य हैं, मजहबी फर्क ऊपरी है, जो नाम, वेशभूषा, रहन—सहन, धार्मिक कृत्यों और खान—पान के तरीकों में दिखाई देते हैं।

लीजा का यह कथन कि “देश के नाम पर ये लोग तुम्हारे साथ लड़ते हैं और धर्म के नाम पर तुम इन्हें आपस में लड़ाते हो।”<sup>65</sup> अंग्रेजी शासन की पोल खोल देता है।

अतः भीष्म जी स्पष्ट रूप से मानते हैं कि ऊपरी भेद सब फालतू हैं। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई अपनी वैयक्तिक हैसियत में निर्दोष हैं उसे दोषी बनाने वाली सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था है। 'तमस' के संदर्भ में साम्राज्यवादी व्यवस्था है। डिप्टी कमिश्नर इसी व्यवस्था का प्रतिनिधि है। वह लीजा से कहता है "डार्लिंग हुकूमत करने वाले यह नहीं देखते प्रजा में कौन सी समानता पायी जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखते में होती है कि वे किन-किन बातों में एक-दूसरे से अलग हैं?"<sup>66</sup> यद्यपि वह शहर में हिन्दू-मुस्लिम दंगों को संचालित करता है लेकिन ऊपर से तटस्थ बना रहता है। उसके इस रूप को लक्षित कर 'तमस' की विवेचना में राजेन्द्र यादव ने लिखा है, 'शहर से दूर, सुरक्षित बंगले में बैठा रिचर्ड सूत्रधार है और हिन्दू-मुसलमान या सामान्य नागरिक कठपुतलों की तरह लड़ते-कराहते, मरते-मारते हैं। रिचर्ड के सामने बिल्कुल स्पष्ट है कि दोनों मिल जायेंगे तो मुझे मारेंगे। मुझे, यानी अंग्रेज, यानी तब तक के शासक को रिचर्ड व्यक्ति नहीं प्रतिनिधि है, प्रतीक है। वह सारी स्थिति को उसी तटस्थ ठण्डेपन से देखता है जैसे तक्षशिला के खण्डहरों और मूर्तियों को वह खण्डहरों को जिन्दा करना चाहता है और आस-पास की जिन्दगी को खण्डहरों में बदल देना चाहता है।'<sup>67</sup>

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जो कि हिन्दुओं कट्टर सांप्रदायिक संगठन है। 'तमस' के वानप्रस्थी जी और मास्टर देवव्रत पर भी संघ की विचारधारा का पूरा-पूरा प्रभाव दिखाई देता है। गोवध की सूचना पाकर वानप्रस्थी जी की आँखों में खून उतर आता है। और उत्तेजित होकर बोले— "गोवध हुआ तो, यहाँ खून की नदियाँ बह जायेंगी।"<sup>68</sup> इतना ही नहीं वे शांति पाठ के तुरन्त बाद लोगों को यह भी बताते हैं कि उबलता तेल शत्रु पर डाला जा सकता है, जलते अंगारे छत पर से फेंके जा सकते हैं तो उनके मंत्रोच्चार और शांतिपाठ का सारा पाखण्ड



खुल जाता है। अतः भीष्मजी ने ऐसे पाखण्डी साधुओं को भी सांप्रदायिकता फैलाने के लिए जिम्मेदार बताया है।

८ भीष्म जी सांप्रदायिकता फैलाने वाले हिंसक तत्वों में अखाड़ा संचालक मास्टर देवव्रत जैसे लोगों के प्रति भी घृणा उभारते हैं जो रणवीर जैसे नासमझ युवकों को अपनी सांप्रदायिक का शिकार बनाते हैं। उन्हें लाठी, चाकू, छुरा, कृपाण आदि चलाना सिखाया जाता है। यह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का गुप्त और वास्तविक चरित्र है। रणवीर से मुर्गी की हत्या कराकर ही उसे संघ की दीक्षा दी जाती है। मास्टर देवव्रत रणवीर को एक और मौका देते हुए कहते हैं, “एक और अवसर तुम्हें दिया जाता है। जो युवक एक मुर्गी को नहीं मार सकता वह शत्रु को कैसे मार सकता है।”<sup>69</sup> ऐसा ही नासमझ युवक इन्द्र जब सुनसान गली में एक ‘म्लेच्छ’ की हत्या करता है तो मास्टर देवव्रत जैसों के द्वारा फैलाया गया जहर अपनी पूरी भयावह परिणति में दिखाई देने लगता है।

९ शाहनवाज द्वारा हिन्दू सेठ लक्ष्मीनारायण के नौकर मिलखी की हत्या दिखाकर भीष्मजी दम तोड़ते हुए मानवीय मूल्यों की ओर भी अपनी चिन्ता प्रकट करते हैं। इस प्रकार सूअर की घटना से सारे शहर में सांप्रदायिक दंगों की आग भड़क उठती है। लेकिन इस षड्यन्त्र के सूत्रधार अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड की ओर कोई भी ध्यान नहीं देता या जानते हुए भी अनजान बने रहते हैं जबकि जरनैल जैसा गाँधीवादी चरित्र मुस्लिम मुहल्लों में बार—बार जाकर वास्तविकता समझाने का प्रयास करता है। वह मुस्लिमों के बीच जाकर कहता है— “साहिबान, मैं आपसे कहता हूँ कि हिन्दू—मुसलमान भाई—भाई हैं, शहर में फसाद हो रहा है आगजनी हो रही है और उसे कोई रोकता नहीं। डिप्टी कमिश्नर अपनी मेम को बाँहों में लेकर बैठा है और मैं कहता हूँ कि हमारा दुश्मन अंग्रेज है। गाँधीजी कहते

हैं कि वही हमें लड़ाता है और हम भाई—भाई है। हमें अंग्रेजों की बातों में नहीं आना चाहिए।”<sup>70</sup>

सारा शहर सांप्रदायिक दंगों से झुलस चुका होता है और उसकी लपटें पंजाब से लगे गाँवों तक फैल जाती है। ढोल इलाहीबख्श एक ऐसा ही छोटा सा देहात है। इस मुस्लिम बहुल गाँव में हरनाम सिंह नाम का एकमात्र सिख परिवार रहता है। मुस्लिमों द्वारा इस सिख परिवार पर कहर ढाया जाता है और उसे मजबूरन भरा—पूरा घर—बार छोड़कर शरणार्थी का जीवन जीना पड़ता है। अतः भीष्म जी हरनाम सिंह और उनकी पत्नी बंतों की करुण कथा द्वारा शरणार्थी समस्या पर भी प्रकाश डालते हैं। कृष्णा सोबती का मानना है कि, “तमस” में भीष्म जी की लेखनी में जीवन्तता इस कारण से है कि ‘भीष्म खुद उस तूफान की चपेट में थे जिसे बँटवारे का नाम दिया जाता है। एक पुराना बड़ा पेड़ जब जड़ों से टूटता है तब उसका हर हिस्सा, छोटी—मोटी शाखाएँ, पत्ते सब उस टूटने की यातना में साझेदार होते हैं। और अपने—अपने ढंग से अपने—अपने दर्द को सहन करते हैं। बदलाव का सामना करते हैं। भीष्म उस दर्द को देर तक अपने में समोए—सहेजे रहे हैं।”<sup>71</sup>

हरनामसिंह का पूरा परिवार बिछुड़ जाता है। अपनी अस्मत् लूटी जाने के भय से उनकी बेटी जसवीर कौर कुँ में कूदकर अपनी इहलीला समाप्त कर लेती है। बेटे इकबालसिंह को जिस बेरहमी के साथ पीटकर इस्लाम स्वीकार कराया जाता है, धर्मान्धता को उजागर करता है। उसे कलमा पढ़वाया जाता है और उसकी सुन्नत की जाती है और इस प्रकार लाचार इकबालसिंह की परिणति इकबाल अहमद के रूप में हो जाती है। जिस तरह उसे सिख से मुसलमान बनाया जाता है। और फिर जिस तरह उसे अपना लिया जाता है वह सारी की

सारी प्रक्रिया धर्म औ संप्रदायों के तमाम ऊपरी विभेदों के लिए नफरत पैदा करती है। भीष्म साहनी लिखते हैं— 'शाम ढलते-ढलते इकबालसिंह के शरीर पर से सिखी की सब अलामतें दूर कर दी गई थीं और मुसलमानों की सभी अलामतें उतर आई थीं। पुरानी अलामतें हटाकर नई अलामतें लाने की देर थी कि इन्सान बदल गया था, अब वह दुश्मन नहीं था, दोस्त था, काफिर नहीं था, मुसलमान था। मुसलमानों के सभी दरवाजें उसके लिए खुल गये थे।''<sup>72</sup>

७ इस प्रकार से जबरन धर्म परिवर्तन करवाने से किसी भी धर्म में इजाफा नहीं होता अपितु नफरत और द्वेष ही पैदा होता है। भीष्म जी लिखते हैं 'यह लड़ाई ऐतिहासिक लड़ाइयों की श्रृंखला में एक कड़ी ही थी। लड़ने वालों के पाँच बीसवीं सदी में थे, सिर मध्य युग में।''<sup>73</sup>

८ भीष्म जी सांप्रदायिक दंगों के पीछे इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्या को भी जिम्मेदार मानते हैं। उपन्यास का पात्र मीरदाद विकृत मानसिकता के शिकार मोटे कसाई को दंगों की वास्तविकता समझाने की कोशिश करता है लेकिन मोटे कसाई के दिल में पुरानी बातें भरी हुई हैं। वह मीरदाद से कहता है— 'हमारा अंग्रेज ने क्या बिगाड़ा है ओए? हिन्दू-मुसलमान की अदावत पुराने जमाने से चली आ रही है। काफिर-काफिर है और जब तक दीन पर ईमान नहीं लाएगा वह दुश्मन है। काफिर को मारना सवाब है।''<sup>74</sup>

९ सांप्रदायिक दंगों की सर्वाधिक शिकार स्त्री ही होती आ रही है। 'तमस' में भी नारी की इस दयनीय दशा का यथार्थ चित्रण हुआ है। एक ओर अपनी अस्मत् लूटी जाने के भय से गुरुद्वारे से दसियों औरतों को अपने मासूस बच्चों को लेकर कुएँ में कूदकर मरते दिखाया गया है तो दूसरी ओर प्रकाशों को हिन्दू रूढ़िवाद के चलते मुसलमान अल्लारखा की रखैल होकर विवशता में जीते दिखाया है। जब

आँकड़ा बाबू प्रकाशों की माँ से उसकी मदद के लिए कहता है तो उसकी कट्टर सनातनी ब्राह्मणी माँ का तर्क होता है— “अब हमारे पास आकर क्या करेगी जी, बुरी वस्तु तो उसके मुँह में उन्होंने पहले से ही डाल दी होगी।”<sup>75</sup> इस प्रकार वह दुर्भाग्यग्रस्त प्रकाशों नारकीय जीवन जीने को अभिशप्त हो जाती है।

७ इस प्रकार जब सारा शहर और शहर से लगते गांव सांप्रदायिक दंगों की चपेट में आ चुके होते हैं, सैकड़ों मारे जाते हैं, हजारों बेघर हो जाते हैं, जगह—जगह आगजनी और लूट की घटनाएँ हो चुकी होती हैं और जब शासक वर्ग को यह महसूस हो जाता है कि आपस में लड़ते—लड़ते लोगों की सारी शक्ति क्षीण हो चुकी है और अब वे जल्दी ही उनके खिलाफ लड़ने का साहस नहीं करेंगे तो शासन—तंत्र सक्रिय हो उठता है। रिचर्ड के संकेत से शहर में जागजनी, लूट, हत्याएँ व दंगे शुरू होते हैं व उसी के इशारे से समाप्त भी। भीष्म साहनी लिखते हैं— “जिस—जिस गाँव पर हवाई जहाज उड़ता गया, वहीं पर ढोल बजने बन्द हो गये, नारे लगाये जाने बंद हो गये। आगजनी और लूटपाट बंद हो गई।”<sup>77</sup>

८ निःसंदेह इस षडयंत्र के सूत्रधार अंग्रेजी शासकवर्ग का प्रतिनिधि रिचर्ड है। कांग्रेसी कार्यकर्ता बख्शीजी अंग्रेजी शासन पर कड़ा व्यंग्य करते हुए कहते हैं— “फिसाद कराने वाला भी अंग्रेज, फिसाद रोकने वाला भी अंग्रेज, भूखों मारने वाला भी अंग्रेज, रोटी देने वाला भी अंग्रेज, घर से बेघर करने वाला भी अंग्रेज, घरों में बसाने वाला भी अंग्रेज... अंग्रेज फिर बाजी ले गया।”<sup>78</sup> अंग्रेज यानी सत्ता पक्ष।

राजेन्द्र यादव अपने ‘अठारह उपन्यास’ में रिचर्ड के साम्राज्यवादी चेहरे को बेनकाब करते हुए लिखते हैं, “रिचर्ड, जो पाँच दिन दंगों की आग का मजा लेकर अमन और शांति का झण्डा फहराता सामने आ जाता है। जिस तरह आग भड़काता है और उसे बुझाने से इंकार कर देता है, उसी योजना से हवाई जहाज

घुमाकर सब कुछ शांत कर देता है।”<sup>78</sup>

शहरों और गाँवों में हवाई जहाज उड़ान भरते हैं, गलियों में पुलिस गश्त करने लगती है, जगह-जगह फौजी चौकियाँ बनाई जाती हैं और रिलीफ कैम्प खोले जाते हैं। लेकिन इन दंगों में एक बात सामने आती है सांप्रदायिक दंगों के शिकार हमेशा गरीब लोग ही होते हैं। इसीलिए कामरेड देवदत्त शरणार्थी शिविर में मरने वालों में अमीरों और गरीबों की संख्या जानना चाहते हैं, हिन्दू और मुसलमान की नहीं। दंगा रुक जाने पर रिलीफ कमेटी का कार्यकर्ता रजिस्टर खोले आँकड़ों की पूछताछ करते हुए कहता है— “पन्नों पर एक खाना और जोड़ दो। गरीब कितने मरे और खाते-पीते लोग कितने मरे।”<sup>79</sup> अतः कामरेड देवदत्त इस तथ्य को उजागर करना चाहता है कि सांप्रदायिक दंगों में हमेशा गरीब लोग ही मरते हैं, अमीर नहीं।

इस प्रकार उपन्यास के आरंभ से लेकर अंत तक ‘तमस’ की समस्त घटनाओं का संयोजन रिचर्ड के हाथ में रहता है। यह रिचर्ड तत्कालीन पश्चिमी बंगाल के डिप्टी कमिश्नर कोट्स का ही दूसरा रूप है। भीष्म साहनी ने इस संदर्भ में अपने संस्मरण लिखते हुए कहा है— “उन दिनों कोट्स नाम के अंग्रेज सज्जन जिला के डिप्टी कमिश्नर थे। यह सच है कि जब दंगों के पहले उन्हें नागरिकों का प्रतिनिधिमण्डल मिलने गया था, उस समय अगर वह जगह-जगह पुलिस तैनात कर देते या एक फौजी जहाज ही शहर और गाँवों पर उड़ान भर जाता तो स्थिति संभल जाती। उन दिनों तो टाल-मटोल करते रहे। पर जब 120 के करीब गाँव जलकर राख हो गए और लाखों की संख्या में शरणार्थी शहर की सड़कों पर ठोकें खाने लगे तो वह बड़ी मुस्तैदी और चुस्ती से रिलीफ का काम करने लगे। कपर्धू के दिनों में उन्होंने खुद पिस्तौल से एक युवक को मारा था और इस घटना

उपन्यास के लिए 1975ई० में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया जो इसकी महत्ता को प्रतिपादित करता है।

### कृश्नचन्दर के उपन्यासों में व्यक्त सांप्रदायिक समस्या

भारत—विभाजन की त्रासदी को जिन लोगों ने बहुत नजदीक से देखा और भोगा उनमें कथाकार कृश्नचन्दर का नाम भी सम्मान के साथ लिया जाता है। कृश्नचन्दर मूलतः उर्दू के लेखक थे लेकिन उनकी पीढ़ी के रचनाकार सामान्यतः हिन्दी में भी उतने ही समादृत थे जितने उर्दू में। दूसरी बात उनके विषय में यह है कि वे फिल्म क्षेत्र से जुड़े रहे, उन्होंने न केवल फिल्मों के लिए लिखा बल्कि स्वयं भी फिल्म—निर्माता थे। वैचारिक स्तर पर कृश्नचन्दर वामपंथी रुझान के व्यक्ति थे तथा उनका आग्रह धर्मनिरपेक्ष और समाज में समानता स्थापित करने वाली शक्तियों के प्रति था। उन्होंने अपनी कहानियों, उपन्यासों और नाटकों में इसी अवधारणा को स्थापित किया है। जीवन में भी उन्होंने अपने इन्हीं आग्रहों पर आचरण किया जैसे उन्होंने उर्दू की प्रसिद्ध कथाकार सलमा सिद्दीकी से विवाह किया और वे अपने व्यावहारिक जीवन में भी धर्मरिपेक्षता का साकार रूप थे।

अतः उनकी रचनाओं में भारत विभाजन की त्रासदी का बहुत मुखर होकर अभिव्यक्त होना स्वाभाविक ही है। वे इस त्रासदी को भौगोलिक त्रासदी न मानकर एक मानवीय त्रासदी मानते हैं जैसा कि उनके 'गद्दार' जैसे उपन्यासों से स्पष्ट हो जाता है। कृश्नचन्दर की प्रकृति एक रुमानी कथाकार की प्रकृति है फिर भी उनकी रचनाएँ यथार्थ की कठोर जमीन का स्पर्श करती हैं। 'गद्दार' उपन्यास उनके यथार्थ अनुभव की ही कथा है। जैसा कि इस उपन्यास के आवरण पर अंकित है— 'गद्दार की कथा कृश्नचन्दर की अनुभव की कथा है— तपे हुए, भोगे

हुए, देखे हुए अनुभव की। देश के विभाजन की त्रासदी की इस निराली और एक साँस में पढ़ी जाने वाली कृति को पढ़ना एक अनूठा, दुर्लभ अनुभव ही नहीं वरन् ऐसे चिन्तन का मूल है जो देश विभाजन की त्रासदी पर नए तरह से सोचने को विवश करती है और उस त्रासदी से उपजे ज्वलन्त और अनसुलझे प्रश्नों से पाठक को बार—बार जूझने को विवश करती है।<sup>83</sup>

कृश्नचन्दर मूलतः उर्दू के लेखक हैं किन्तु हिन्दी पाठकों के बीच भी उन्हें व्यापक लोकप्रियता मिली है। उनका 'गद्दार' भी उन्हें उपन्यास देश—विभाजन की त्रासदी पर आधारित उपन्यास है। इसकी शुरुआत हिन्दू युवक बैजनाथ और मुस्लिम युवती शादां के प्रणय—प्रसंगों को लेकर होती है। जैसा कि शादां बैजनाथ से कहती है— "यूँ तो मेरी शादी भी हो जायेगी और बच्चे भी होंगे और मैं उनके लिए एक अच्छी माँ, अपने शौहर के लिए एक नेक और वफादार बीवी भी बन जाऊँगी; और मेरा घर होगा और जिन्दगी की सारी खुशियाँ, जो एक औरत चाहती है, मुझे नसीब होंगी। मगर कहीं मेरे अन्दर, मेरे बहुत गहरे अन्दर, मेरी कोख से भी बहुत परे— भीतर जहाँ कहीं औरत की आत्मा रहती है, वहाँ तुम हमेशा मौजूद रहोगे।"<sup>84</sup>

लेकिन इसी बीच भारत—विभाजन को लेकर बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक दंगे भड़क उठते हैं जिसमें ये संबंध टूटते—बिखरते नज़र आते हैं। तुफैल और शादां दोनों भाई—बहन लाहौर कॉलेज में पढ़ते हैं जो कि गर्मियों की छुट्टियों में अपने गाँव आये हुए थे, तभी एक अजनबी अलीपुर सैदां से पीर जमाअत अलीशाह का एक पैगाम लेकर आता है जो तुफैल को पढ़कर सुनाता है— "पीर जमात अलीशाह ने कहा है, पन्द्रह अगस्त तक गाँव में जितने हिन्दू जवान हैं, उन सब को कत्ल कर दिया जाय, जितनी जवान औरतें, हिन्दुओं की यहाँ पर इकट्ठी हो चुकी है या

से बेहद विचलित हुए थे। इसमें शक नहीं कि अपने देश की सरकार की नीतियों को वह पूरी तरह से क्रियान्वित कर रहे थे। दंगों के बाद जब पण्डित नेहरू रावलपिण्डी तशरीफ लाये थे हवाई अड्डे पर उन्होंने डिप्टी कमिशनर से परिचय प्राप्त करने पर कहा भी था, "so you are mr. coat."<sup>80</sup>

प्रस्तुत उपन्यास में रिचर्ड की पत्नी लीजा की उपस्थिति बहुत मानवीय है। वह रिचर्ड की अन्तरात्मा का प्रतीक है जो अभी जिन्दा है और जिसे वह मारकाट और सांप्रदायिक संघर्ष के षड्यंत्र अच्छे नहीं लगते। जब रिचर्ड अपनी पत्नी लीजा से कहता है। तुम सोओ, लीजा अभी मुझे बहत काम करना है तो वह रिचर्ड से पूछती है।— "इतने गाँव तो जल गये रिचर्ड, अभी भी तुम्हें काम है? अब तुम्हें और क्या काम करना है?"<sup>81</sup> वस्तुतः वह अंग्रेजी शासन की क्रूरताओं पर गहरी चोट करती है।

• निष्कर्षतः 'तमस' उपन्यास में भीष्म साहनी का उद्देश्य उस समय के लोगों की कहानी कहना न होकर इस परिवेश को पुनर्जीवित करना है जो हमारी जिंदगी को छिन्न—भिन्न कर रहा था और सारे नैतिक—सामाजिक मूल्यों का ध्वंस कर रहा था। अतः राजेन्द्र यादव ने ठीक ही कहा है कि, "भीष्म जैसी नरम मानवीय संवदना के लोग निश्चय ही आतंक के इस स्तर को बर्दाश्त नहीं कर पाते। शायद इसमें विश्वास भी नहीं करते। उनकी सहज करुणा शीघ्र ही मनुष्य में उज्ज्वल आस्था तलाश कर लेती है। वे बंटों की छूटी हुई मैना की तरह अखिल विश्व के लिए यही कामना करते हैं: 'बन्तो, रब्ब राखा, सरबद्ध दा रब्ब राखा' या 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया...'। भीष्म के सरल मन से निकली मानव कल्याण की यह ऋषि वाणी इस सारे 'तमस' में आश्वस्ति और तरल विश्वास जरूर जागती है।"<sup>82</sup> यही भाव इस उपन्यास को महत्त्वपूर्ण बनाता है। भीष्म साहनी को 'तमस'



हो रही है या आसपास के इलाकों से आ रही हैं, उन सबको रख लिया जाए।”<sup>85</sup> इस तरह का फरमान निश्चय ही सांप्रदायिक सौहार्द और बन्धुत्व के सूत्र में बँधे गाँव में पास्परिक घृणा और वैमनस्य ही पैदा कर सकता है और करता भी है। बैजनाथ इसी प्रकार के गाँव का युवक है जो सांप्रदायिक वैमनस्य को बनावटी करार देता है। वह शादां से कहता है— “धरती तो कभी जहर नहीं उगलती शादां। धरती से हरी—भरी कोंपलें फूटती हैं। लेकिन तुमने देखा होगा जब बाहर की जहरीली हवाएँ चलने लगती हैं तो आन—की—आन मे हरी—भरी खेतियाँ उजड़ जाती हैं। इसमें धरती का क्या कुसूर है?”<sup>86</sup>

बैजनाथ कोरे सिद्धान्तों की ही बात नहीं करता है, वह अपने व्यावहारिक जीवन में भी सांप्रदायिक संकीर्णता से कोसों दूर है। वह अपने प्रेमी—पात्र शादां को पाने के लिए मुसलमान बनना भी स्वीकार कर लेता है। वह शादां से कहता है— “भाड़ में जाएँ सब लोग। मैं यहीं रहूँगा, मैं मुसलमान हो जाऊँगा और तुमसे ब्याह कर लूँगा।”<sup>87</sup>

बहरहाल, बैजनाथ जैसे हजारों लोगों को शरणार्थी जीवन जीना पड़ता है जहाँ उन्हें मिलता है सिर्फ तिरस्कार और घुटन भरी जिन्दगी। बैजनाथ का लाहौर में अपने पुराने गाढ़े दोस्त मियां के घर ठहरना और वहाँ मियाँ की बीवी द्वारा उनके साथ किया गया व्यवहार सांप्रदायिक घृणा और संकीर्णता को ही प्रदर्शित करता है मियां की बीवी अपने शौहर से कहती है— “तुम्हें कोई हक नहीं है उसे यहाँ रखने का।

मैं क्या उसे यहाँ बुलाने गया था।

मैं कुछ नहीं जानती। तुम उसे गुण्डों के हवाले कर दो।

जिन्दगी भर की दोस्ती पर खाक डाल दूँ। यह इंसानियत है?

और कोई रास्ता भी नहीं है।

मियाँ की बीवी ने चिल्लाकर कहा— तुमने अगर उसे गुण्डों के हवाले न किया तो मैं तुम्हारा और उसका खून पी जाऊँगा।”<sup>88</sup>

सचमुच उस दौर में इंसानियत नाम की कोई चीज नहीं रह गई थी लेकिन मियाँ का चरित्र बराबर आदर्शवादी बना रहता है। वह अपने मित्र की जान बचाने के लिए ही अपने दो मासूम बच्चों को भी गुण्डों के हवाले कर देता है। निश्चय ही वह इंसानी रिश्तों को निभाता है।

इसी प्रकार का चरित्र शाहिद का है जो लाहौर स्टेशन पर टी०टी० है और बैजनाथ का पुराना मित्र। उसने भी इस गाढ़े वक्त में अपनी सच्ची मित्रता का परिचय दिया। वह बैजनाथ को न केवल टिकट लाकर देता है वरन् उसे नारोवाल की गाड़ी में सवार कर गार्ड को उसकी देखभाल के लिए भी बोलता है।

लेकिन विभाजन की एक विडम्बना यह रही है कि सांप्रदायिक हिंसा और घृणा के कारण उन मुसलमानों को भी भारत में शरणार्थी बना दिया गया जो तय कर चुके थे कि विभाजन के बाद भी पाकिस्तान नहीं जाएंगे। उपन्यास का एक पात्र तुफैल पीर जमाअत अलीशाह द्वारा भेजे गये संदेश को अजनबी द्वारा सुनकर कहता है “सैकड़ों सालों से हम लोग इस गाँव में रहते चले आये हैं, हमसे यह काम न होगा।”<sup>89</sup>

विभाजन के दौरान न केवल मानवीय संबंध ही खत्म हुए वरन् इंसान की जान की कीमत भी कम हो गई, विभाजन की कीमत इंसानों की जानों से चुकाई गई। कृष्णचन्दर ‘गद्दार’ उपन्यास में लिखते हैं— “रावी के दोनों किनारें पुल के उधर भी और पुल के इधर भी हिन्दुओं, सिखों और मुसलमानों की लाशों से पटे पड़े थे।”<sup>90</sup> न केवल असंख्य मौतें हुई वरन् जमीन से उखड़ने का दर्द भी मनुष्य को कहीं भीतर से बेधे जा रहा था और केवल घर ही नहीं छूटा, सगे—

संबंधी—कुटुम्बी सब आपस में बिछुड़ गये। जैसा कि कथाकार कृष्णचन्दर लिखते हैं “जो पुल के उस पार चले थे वे खुश थे। जो इधर रह गये थे वे दूर से कॉप रहे थे औ बार—बार इधर—उधर अपने आगे पीछे देखते थे। उस समृद्ध मुसलमान घराने का लड़का अपनी दोनों बहिनों को लेकर पार चला गया था, लेकिन ठीक उसी समय अंग्रेज अफसर ने बीच में आकर रास्ता काट दिया था और उन बच्चों का मुसलमान बाप और उनकी माँ इधर रह गये थे।... तसल्ली तो उसने अपने खाविन्द को दी, मगर दोनों के दिल अपने बच्चों के लिए तड़प रहे थे और वे एड़ियाँ उठा—उठाकर पुल के उस पार देखते थे, जहाँ उनके बच्चे खड़े थे।”<sup>91</sup> इस तरह का यथार्थ और दिल दहलाने वाला चित्रण कर कृष्णचन्दर जी अपनी कलम की जीवन्तता स्पष्ट कर देते हैं।

सांप्रदायिक दंगों के दौरान स्त्री—समुदाय को कहीं ज्यादा समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उस दौर में औरत सिर्फ एक शरीर रह गई थी। उसकी माँ, बेटी, बहिन या और किसी मर्यादित रिश्ते की पहचान खो गई थी। कृष्णचन्दर ने भी अपने ‘गद्दार’ उपन्यास में स्त्री के ऐसे कारुणिक जीवन को दर्शाया है। उद्धरण के तौर पर बैजनाथ जब शरणार्थियों के कैम्प ढूँढते—ढूँढते आखिर में एक पीपल के बड़े पेड़ के नीचे जहाँ एक लंबा—सा क्यू लगा हुआ था, वहाँ जाकर एक व्यक्ति से पूछता है— ‘यहाँ क्या राशन मिलता है? वह हँसा और बोला— हाँ, भैया औरत का राशन मिलता है। क्या मतलब?

वह बोला— एक मुसलमान लड़की लड़की हत्थे चढ़ी है। हम लोग उसकी इज्जत खराब कर रहे हैं।”<sup>92</sup>

ऐसी अधकचरी सभ्यता पर व्यंग्य करते हुए बैजनाथ के माध्यम से कथाकार कृष्णचन्दर स्वयं कहते हैं— ‘किसलिए हम सिर उठाकर चलते हैं? और किसलिए

अपनी उत्तम सभ्यता का ढिंढोरा पीटते हैं? और क्यों हम अपने अपराध को मानने से कतराते हैं। अरे, ये अपूर्ण, अधकचरी सभ्यताएँ अपने आँचल में कितने-कितने गहरे अँधेरों को छिपाए रखती हैं। यह हिन्दू सभ्यता और मुसलमान सभ्यता, ईसाई सभ्यता और सिख सभ्यता, यूरोपी सभ्यता और एशियाई सभ्यता। इन दमकती हुई सभ्यताओं के अंदर कितनी बड़ी-बड़ी खाइयाँ, कैसे-कैसे भयानक अंधेरे छिपे हुए हैं। लेकिन लोग उनके बारे में बताते नहीं हैं और जो कुछ वे बताते हैं, वह बहुत ही सुन्दर, सौम्य और विशाल और शानदार होता है। अगर कोई साहस करके उस सभ्यता के सुन्दर लबादे को हटाकर देखना चाहता है तो उसे गद्दार समझकर कत्ल कर दिया जाता है या उसकी पीठ में बल्लम भोंक दिया जाता है।”<sup>93</sup>

संक्षेप में कथाकार कृष्णचन्दर अपने ‘गद्दार’ शीर्षक उपन्यास में सांप्रदायिक समस्या पर लेखनी चलाकर अपनी रोमानी दृष्टि से भी बाहर आने का परिचय देते हैं। यह उपन्यास जीवन्त इस रूप में भी बन जाता है कि इसकी कथा स्वयं लेखक के भोगे हुए यथार्थ की कथा है।

### कृष्णा सोबती के उपन्यासों में व्यक्त सांप्रदायिक समस्या

कृष्णा सोबती उन रचनाकारों में से है जिन्होंने भारत-विभाजन की त्रासदी को भोगा है। इसलिए उनकी रचनाओं में सांप्रदायिकता का भाव आना स्वाभाविक है। उनकी ‘सिक्का बदल गया’ कहानी भारत-विभाजन की त्रासदी और सांप्रदायिक समस्या की भावभूमि पर लिखी गई एक चर्चित और सशक्त कहानी है। ‘डार से बिछुड़ी’ उपन्यास में इस त्रासदी के कुछ संकेत जरूर हैं लेकिन ‘दिलोदानिश’ उपन्यास में तो वे दिल्ली की उस मूल संस्कृति को खोजने की चेष्टा भी करती हैं जो हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति से बनी थी किन्तु समय के आघातों से जो नष्ट हो

चुकी है। इस संस्कृति को नष्ट करने में सांप्रदायिकता की अहम् भूमिका रही है।

उनका 'जिन्दगीनामा' (1979ई०) नामक वृहद उपन्यास उनके अन्य उपन्यासों से सर्वथा भिन्न प्रकृति का उपन्यास है। 'जिन्दगीनामा' के आवरण पर छपे वक्तव्य के अनुसार, 'जिन्दगीनामा के आवरण पर छपे वक्तव्य के अनुसार, 'जिन्दगीनामा एक ऐसा उपन्यास है जिसमें न कोई नायक है, न खलनायक बल्कि जिन्दगीनामा का कथानक खेतों की तरह फैला, सीधा—सादा और धरती से जुड़ा हुआ है। 'जिन्दगीनामा' की मजलिसें भारतीय गांव की उस जीवन्त परंपरा में हैं जहाँ भारतीय मानस का जीवन—दर्शन अपनी समग्रता में जीता चला जाता है।'<sup>94</sup>

'जिन्दगीनामा' में बीसवीं शताब्दी के प्रथम पन्द्रह वर्षों के दौरान पंजाब के किसानों, ग्रामीणों के जीवन का चित्रण हुआ है। इस चित्रण में पंजाबी किसानों की मेहनतभरी अक्खड़ जिन्दगी अपने यथार्थ रूप में उभरी है। इस चित्रण में न किसी तरह की बनावट है और ना किसी प्रकार का आतंक। गोपालराय ने इस उपन्यास के बारे में ठीक ही कहा है— 'सांप्रदायिक भेदभाव से रहित, सहयोग और सद्भाव, हँसी—खुशी और छोटे—मोटे गमों से भरे दिन—रात, ब्रिटिश शासन की अजेयता के प्रति आस्था आदि के छोटे—छोटे यथार्थ और प्यारे चित्र उपन्यास में भरे पड़े हैं।'<sup>95</sup>

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इसमें किसी प्रकार का सांप्रदायिक तनाव ही नहीं है। प्रस्तुत उपन्यास के अंतिम हिस्से में प्रथम विश्व युद्ध के समय का चित्रण है जिसमें ब्रिटिश सरकार के दमनकारी रवैये का चित्रण हुआ है। 'जिन्दगीनामा' का प्रथम खण्ड 'जिन्दा रूख' नाम से प्रकाशित हुआ है। प्लैप की सूचना के अनुसार इसका दूसरा खण्ड होगा 'इन्कलाब जिन्दाबाद' जिसकी अभी भी प्रतीक्षा है। वस्तुतः पहले खण्ड के बाद का जीवन दूसरे खण्ड में आना चाहिए।

जिसमें निश्चय ही सांप्रदायिकता की समस्या केन्द्र में होगी।

प्रस्तुत उपन्यास में कृष्णा सोबती ने अपनी जातीय जिन्दगी को बड़ी तन्मयता के साथ प्रस्तुत किया है। शाहजी डेराजट्टा गांव के एक धनाढ्य सामंत हैं जिनके इर्द-गिर्द लेखिका ने सामंती जीवन के बीच रिसती-पिसती आत्माओं को देखा है। इसमें विभाजन पूर्व की पंजाबी समाज व्यवस्था का रेशा रेशा खुलता जाता है। ज्योतिष जोशी के शब्दों में, “यह उपन्यास एक लम्बा वृत्तान्त है उस डेराजट्टा गांव का जिसकी धड़कनों के सहारे लेखिका ने पंजाब को उसके आईने से देखा है। उपन्यास का उद्देश्य पंजाबी समाज के समेकित जीवन को उठाना है। इसलिए इसमें उस जन-जीवन के अनेक छोटे-छोटे दुःख सामने आते हैं किसी एक प्रश्न पर उसका संचालन नहीं होता।”<sup>96</sup> वस्तुतः कृष्णा सोबती की औपन्यासिक यात्रा का चरम विकास इसी उपन्यास में दिखाई देता है। जिसमें विभाजन-पूर्व पंजाब का समग्र जीवन अपनी समूची सांस्कृतिकता और ऐतिहासिकता के साथ चित्रित हुआ है। इस संदर्भ में विजय मोहन सिंह ने ठीक ही लिखा है, “जिन्दगीनामा’ में वे एक नई रचनात्मक स्फूर्ति और जटिल कथात्मक बुनावट के साथ उस भूमि पर लौटती हैं, जहाँ उनकी औपन्यासिक कथा यात्रा शुरू हुई थी।”<sup>97</sup>

इस उपन्यास का फलक बहुत बड़ा है क्योंकि यह पंजाब के किसानों की जिन्दगी का समग्र चित्र प्रस्तुत करता है। ‘जिन्दगीनामा’ के आरंभ में लिखी गई एक लम्बी कविता के अनुसार यह एक ऐसा इतिहास है जो “लोकमानस की/भागीरथी के साथ-साथ/ बहता है पनपता और फैलता है/ ओर जन सामान्य के/ सांस्कृतिक पुख्तापन में/ जिन्दा रहता है।”<sup>98</sup>

अतः ‘जिन्दगीनामा’ पंजाबी अंचल के जीवन की बुनियादी तथा मूलभूत

समस्याओं को व्यावहारिक स्तर पर व्यक्त करने वाला एक वृहद सामाजिक उपन्यास है। विजय मोहन सिंह इसके विषय में ठीक ही लिखते हैं “इसीलिए वह जिन्दगीनामा है, व्यक्तिनामा नहीं। क्योंकि यह उपन्यास आँचलिक और पारिवारिक कथा परिवेश में रीति—रिवाजों, रस्मों, खान—पान के तरीकों, एक अंचल विशेष के भाषायी अंदाजों, कथनों, वक्रोक्तियों के साथ—साथ, सामंती संरचना वाले समाज की विकृतियों और विशेषताओं के बीच सामंजस्य स्थापित करता हुआ आगे बढ़ता है, तो सहसा वह प्रत्यक्षतः अंकित चित्र का अतिक्रमण करके, उससे बाहर के और परेक्ष या कथावृत्त के दायरे की ओट में रहने वाले ऐतिहासिक परिवर्तन का साक्ष्य बन जाता है। बल्कि यँ कहें कि साक्ष्य ही नहीं, सहभागी हो जाता है।”<sup>99</sup>

इस उपन्यास को आँचलिक उपन्यास भी कहा गया है लेकिन यह ‘मैला आँचल’ की तरह रचा हुआ आँचलिक भाषा में जीवन के रेशे—रेशे को व्यक्त करता उपन्यास नहीं है। यह पंजाब के किसानों की संघर्ष गाथा है। जैसा कि कृष्णा सोबती उपन्यास के आरंभ में लंबी कविता के रूप में अपना वक्तव्य देती हुई कहती है— ‘खुले—डुले पंजाब की हीरे/ और उनकी खलंदड़ी सहेलियाँ/ धूप की बरखा में/ फुलकारियों की ओट कनखियों से/ खुदा बनके खड़े—खड़े अपने गबरूअ/ खेतों की देखतीं मुँडेरों पर। ऐसे अनोखे अनबेले पंजाब के/ दूधिया घरों में/ राँगली पीढ़ियों पर बैठी रानियाँ/ घूँ—घूँ चरखा कातती/ तकलों पर महीन सूत निकालतीं/ भरी—भरी गदराई देहें/ मोटे—गाढ़े खददर—पट्ट में लिपटीं/ मेहनत महारानियाँ। हर खेत का रखवाला/ सदियों खुले आसमान तले/ गेहूँ की सुनहली फसलें उगाता रहा।”<sup>100</sup>

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ‘जिन्दगीनामा’ कोई ऐसी कृति नहीं है जिसे कालजयी उपन्यासों की कोटि में रखा जा सके। इसका कारण इस उपन्यास

की पंजाबी—बोझिल बीहड़ भाषा और जटिल शिल्प है जो इसकी पठनीयता को बाधित करता है। 'मैला आँचल' में मैथिली और भोजपुरी के प्रयोग से जो मिठास पैदा होती है, पाठक उससे आनन्दित होकर उपन्यास के घटनाचक्र का अंग—सा बन जाता है। जबकि 'जिन्दगीनामा' की पंजाबी प्रयोगों से आक्रांत भाषा पाठक के मन में एक विकर्षण पैदा करती है जिसके फलस्वरूप यह उपन्यास पाठक को बाँध नहीं पाता। इसी ओर संकेत करते हुए गोपालराय कहते हैं, "शिल्प की दृष्टि से विचार करें तो 'जिन्दगीनामा' में दृश्यों का ही आधिपत्य है। पर ये दृश्य, दृश्य कम, वार्तालाप अधिक हैं। इन्हें जोड़ने वाले कथाकार की भूमिका रंग—निर्देशक जैसी है। इसके फलस्वरूप कथा—रस तो बाधित हुआ ही है, प्रयोग की कोई सार्थकता भी प्रमाणित नहीं होती।"<sup>101</sup>

निश्चय ही 'जिन्दगीनामा' का विवरण फलक जितना विस्तृत है उतना उसका दृश्य—फलक नहीं। कुल मिलाकर उपन्यास की कहानी एक निश्चित और सीमित दायरे में ही घूमती रहती है, जिसमें दो—तीन परिवार हैं और कुछ ऐसे चरित्र जो उपन्यास के कथानक के आवश्यक अंग नहीं हैं। उपन्यास बीच—बीच में इतिहास की ओर बढ़ता है, जिसमें प्रस्तुत चीजों के वार्तालाप के माध्यम से ही कभी सिखों और मुगलों के पारस्परिक संबंध की व्याख्या की जाती है और यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया जाता है कि किस प्रकार दो संस्कृतियों का संघर्ष और समन्वय होता है।

वरतुत: 'जिन्दगीनामा' की समग्र समीक्षा तब संभव होती जब इसका दूसरा खण्ड भी प्रकाशित हो जाता। पहले खण्ड 'जिन्दा रूख' के आधार पर इसका समग्र मूल्यांकन समीचीन नहीं लगता, क्योंकि उस काल खण्ड की घटनाएँ अपूर्ण रह जाती हैं जिसका चित्रण दूसरे खण्ड में होना चाहिए।



### निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मुंशी प्रेमचन्द, यशपाल, भीष्मसाहनी प्रभृति कथाकारों ने अपने उपन्यासों में सांप्रदायिक समस्या को यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत किया है। इन कथाकारों ने इस समस्या को चित्रित कर जहाँ एक ओर सामाजिक बिखराव को दर्शाया है वहीं दूसरी ओर मानवीय मूल्यों के पतन की ओर भी स्पष्ट संकेत किया है।

## संदर्भ

1. रामविलास शर्मा: प्रेमचन्द और उनका युग, दिल्ली, 1967, पृ० 152
2. अमृतराय (संपा०): प्रेमचन्द विविध प्रसंग, भाग-2, इलाहाबाद, सित०, 1980, पृ० 352-53
3. वही, पृ० 354
4. प्रेमचन्द: 'सेवासदन' (उपन्यास), जयपुर, 2004, पृ० 110-111
5. वही, पृ० 115
6. वही, पृ० 112
7. वही, पृ० 115
8. प्रेमचन्द: 'कायाकल्प' (उपन्यास), दिल्ली, 1987, पृ० 205-206
9. वही, पृ० 341
10. वही, पृ० 29
11. वही, पृ० 33
12. वही, पृ० 32
13. शिवकुमार मिश्र: प्रेमचन्द विरासत का सवाल, दिल्ली, 1981, पृ० 42-43
14. प्रेमचन्द: 'कायाकल्प' (उपन्यास), पृ० 206
15. वही, पृ० 206
16. वही, पृ० 206
17. वही, पृ० 207
18. वही, पृ० 208
19. वही, पृ० 209
20. प्रेमचन्द: 'कर्मभूमि' (उपन्यास), दिल्ली, 1993, पृ० 83
21. वही, पृ० 85
22. वही, पृ० 261
23. प्रेमचन्द: 'अच्छी-बुरी सांप्रदायिकता, हंस, जनवरी, 1934
24. प्रेमचन्द: 'कर्मभूमि' (उपन्यास), पृ० 39
25. वही, पृ० 289
26. सत्यकाम: आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचन्द, दिल्ली, 1994, पृ० 180
27. गोपालराय: हिन्दी उपन्यास का इतिहास, दिल्ली, 2002, पृ० 138
28. बी०टी० रणदिवे : 'प्रेमचन्द का राजनीतिक लेखन', कलम, अंक 5 (प्रेमचन्द विशेषांक), संपा० चन्द्रबली सिंह पृ० 6-8

29. नेमिचन्द्र जैन: अधूरे साक्षात्कार, दिल्ली, 1989, पृ० 70
30. भीष्म साहनी, रामजी मिश्र, भगवती प्रसार निदारिया (संपा०): आधुनिक हिन्दी उपन्यास, दिल्ली, 1980, पृ० 113
31. यशपाल: 'झूठा-सच' भाग-1 (वतन और देश), इलाहाबाद, 2002, पृ० 445
32. वही, पृ० 58
33. वही
34. वही, पृ० 65
35. वही, पृ० 78
36. वही, पृ० 103
37. वही, पृ० 384
38. वही, पृ० 227
39. वही, पृ० 225
40. यशपाल: 'झूठा-सच' भाग-2 (देश का भविष्य), इलाहाबाद, 2003, पृ० 23
41. राजेन्द्र यादव: अठारह उपन्यास, दिल्ली, 1981, पृ० 168-169
42. यशपाल: 'झूठा-सच' (वतन और देश), इलाहाबाद, 2002, पृ० 339
43. डॉ० महीपसिंह (संपा०): "क्या इतिहास का मूक गवाह रहना ही हमारी नियति है?" संचेतना, वर्ष 17, अंक 1, मार्च, 1983, पूर्णांक 65
44. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर (संपा०): भीष्म साहनी: व्यक्ति और रचना, दिल्ली, 1982, पृ० 63
45. यशपाल: 'झूठा-सच' भाग-2 (देश का भविष्य), पृ० 23
46. यशपाल: 'झूठा-सच' भाग-1 (वतन और देश), पृ० 444
47. वही।
48. यशपाल: 'झूठा-सच' भाग-2 (देश का भविष्य), पृ० 116
49. वही, पृ० 117
50. वही, पृ० 119
51. वही, पृ० 119
52. यशपाल: 'झूठा-सच' भाग-1 (वतन और देश), पृ० 320
53. रामविलास शर्मा: कथा विवेचना और गद्य शिल्प, दिल्ली, 1982, पृ० 75
54. यशपाल: 'झूठा-सच' भाग-2 (देश का भविष्य), पृ० 275
55. वही, पृ० 329
56. यशपाल: 'झूठा-सच' भाग-1 (वतन और देश), पृ० 5

57. यशपाल: 'झूठा-सच' भाग-2 (देश का भविष्य), पृ० 181
58. वही, पृ० 583
59. शिवकुमार मिश्र: प्रेमचन्द विरासत का सवाल, दिल्ली, 1981, पृ० 147
60. भीष्म साहनी, रामजी मिश्र, भगवती प्रसार निदारिया (संपा०): आधुनिक हिन्दी उपन्यास, दिल्ली, 1980, पृ० 427
61. भीष्म साहनी, 'तमस' (उपन्यास) दिल्ली, 1992, पृ० 151
62. राजेन्द्र यादव: अठारह उपन्यास, दिल्ली, 1981, पृ० 161
63. भीष्म साहनी, 'तमस' (उपन्यास), पृ० 32
64. वही।
65. वही, पृ० 44
66. वही, पृ० 45
67. राजेन्द्र यादव: अठारह उपन्यास, दिल्ली, 1981, पृ० 161-62
68. भीष्म साहनी, 'तमस' (उपन्यास), पृ० 63
69. वही, पृ० 68
70. वही, पृ० 141
71. राजेश्वर सक्सेना, प्रताप ठाकुर (संपा०): भीष्म साहनी: व्यक्ति और रचना, दिल्ली, 1982, पृ० 62
72. भीष्म साहनी, 'तमस' (उपन्यास), पृ० 207
73. वही,
74. वही, पृ० 179
75. वही, पृ० 238
76. वही, पृ० 218
77. वही, पृ० 223
78. राजेन्द्र यादव: अठारह उपन्यास, दिल्ली, 1981, पृ० 162
79. भीष्म साहनी, 'तमस' (उपन्यास), पृ० 235
80. भीष्म साहनी, रामजी मिश्र, भगवती प्रसार निदारिया (संपा०): आधुनिक हिन्दी उपन्यास, दिल्ली, 1980, पृ० 428-429
81. भीष्म साहनी, 'तमस' (उपन्यास), पृ० 227
82. राजेन्द्र यादव: अठारह उपन्यास, दिल्ली, 1981, पृ० 166
83. कृश्नचन्दर: 'गद्दार' (उपन्यास), दिल्ली, 2001, आवरण की विज्ञप्ति।
84. वही, पृ० 7

85. वही, पृ० 8
86. वही, पृ० 10
87. वही, पृ० 14
88. वही, पृ० 12–20
89. वही, पृ० 9
90. वही, पृ० 61
91. वही, पृ० 68–69
92. वही, पृ० 58
93. वही, पृ० 77
94. कृष्णा सोबती: 'जिन्दगीनामा' (उपन्यास), दिल्ली, 1989, आवरण की विज्ञप्ति।
95. गोपालराय: हिन्दी उपन्यास का इतिहास, दिल्ली, 2002, पृ० 321
96. ज्योतिष जोशी: 'हंस' (संपा० राजेन्द्र यादव), 'बीते दो दशक और हिन्दी उपन्यास की यात्रा', जनवरी, 1999, पृ० 44
97. विजयमोहन सिंह: कथा समय', दिल्ली, 1993, पृ० 91
98. कृष्णा सोबती: जिन्दगीनामा, पृ० 7
99. विजयमोहन सिंह: कथा समय', दिल्ली, 1993, पृ० 98
100. कृष्णा सोबती: जिन्दगीनामा, पृ० 10
101. गोपालराय: हिन्दी उपन्यास का इतिहास, दिल्ली, 2002, पृ० 322

## पंचम अध्याय

समकालीन हिन्दी उपन्यास  
का वैचारिक परिप्रेक्ष्य और  
साम्प्रदायिकता

## समकालीन हिन्दी उपन्यास का वैचारिक परिप्रेक्ष्य और साम्प्रदायिकता

बीसवीं शताब्दी पूरे विश्व में वैचारिक ऊहापोहों और तीव्र परिवर्तनों के लिए जानी जाती है। इस शताब्दी में भारत वर्ष में भी आधुनिकता का उन्मेष हुआ तथा पश्चिम के प्रभाव से यहाँ भी नये-नये विचार समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाते रहे। एक ओर पाश्चात्य विचारकों जैसे, फ्रायड, कार्ल मार्क्स, रूसों, सार्त्र, देरिदा आदि की विचारधाराएँ भारतवर्ष के चिन्तन-क्षितिज पर उभरीं वहीं राजाराम मोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी आदि चिन्तकों ने भारतीय परिदृश्य को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस दृष्टि से बीसवीं शताब्दी को वैचारिक आग्रहों के विस्फोट की शताब्दी भी कहा जा सकता है।

इस परिवर्तन का प्रभाव एक ओर भारतीय जनमानस पर पड़ा तो दूसरी ओर इस परिवर्तन ने साहित्यिक चेतना को भी बदलने का प्रयास किया। इस संबंध में रमेश चन्द्र शाह ने ठीक ही कहा है कि, “ऐसी अनेक बातें हैं जिनसे ऐसा लगता है कि सारा प्रभाव एकतरफा हैं। ऐसा लगता है कि पश्चिम को हमने पूरे का पूरा ग्रहण कर लिया, उसका सारतत्त्व ही मानों हमारी मानसिकता में दाखिल हो चुका है लेकिन दूसरी तरफ पश्चिम ने इस समूचे एन्काउन्टर के दौरान भारत से जितना कुछ लिया है, कब्जाया है ‘एप्रोप्रिएट’ किया है उसे अपनी शर्तों पर किया है। वह कुछ इस तरह का मामला है ताकि उसकी अपनी सांस्कृतिक मुख्यधारा में, उससे कहीं कोई विचलन पैदा न होने पाये। यह असंतुलन और यह

एकतरफापन भी हमारी परेशानियों का एक कारण हो सकता है।<sup>1</sup>

इस वैचारिक परिवर्तन में जो विचारतंतु प्रमुख रूप से उभरे उनमें स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श, उत्तर-आधुनिकता और सांप्रदायिकता का संदर्भ जैसे प्रत्यय प्रमुख हैं। इन बिन्दुओं पर इस शताब्दी में बहुत तीव्र बहसों भी हुई हैं और समकालीन हिन्दी उपन्यास तो मानो इसमें अंतर्भूत ही हो गया।

अगले पृष्ठों में हम इन वैचारिक बिन्दुओं पर चर्चा करेंगे।

### 1. स्त्री-विमर्श

भारतवर्ष में ही नहीं सारे संसार में सभी संस्कृतियाँ स्त्री-सत्तात्मक रही हैं। कहने को तो भारतीय मनीषियों ने 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता' कहा लेकिन हकीकत यह है कि पूरे भारतीय इतिहास में स्त्री की उपस्थिति दूसरे दर्जे के नागरिक की रही है। वह पूरी मानवता का आधा हिस्सा होते हुए भी पूरी एक जाति नहीं बन पायी। अतः बीसवीं शताब्दी में इस आधी आबादी के अधिकारों और अस्तित्व को लेकर स्त्रीवादी आन्दोलन हुए और पश्चिम में सीमोन द बोउवार, जर्मन ग्रीयर, कैट मिलेट जैसी नारीवादी चिन्तकों ने स्त्री की आजादी ('विमेन लिब') का परचम लहराया। सीमोन द बोउवार ने पहली बार कहा कि "स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि उसे बना दिया जाता है।"<sup>2</sup> निश्चय ही उसे पितृसत्तात्मक समाज द्वारा ही बना दिया जाता है। सीमोन द बोउवार अपनी बात को विस्तार देते हुए आगे कहा है कि, "औरत जन्म से ही औरत नहीं होती बल्कि बढ़कर औरत बनती है। कोई भी जैविक मनोवैज्ञानिक या आर्थिक नियति आधुनिक स्त्री



के भाग्य की अकेली नियंता नहीं होती। पूरी सभ्यता ही इस अजीबोगरीब जीव का निर्माण करती है।”<sup>3</sup>

स्त्री की इस आजादी में जहाँ उसके आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों के संरक्षण की बात थी, वहीं पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरुद्ध भी तीव्र स्वर था। इसीलिए स्त्री-विमर्श का मूल स्वर प्रतिरोध का रहा। वह पुरुष को प्रतिपक्ष के रूप में खड़ा करता है। उनके अनुसार स्त्री द्वारा लिखा गया, स्त्री के विषय में लिखा गया साहित्य ही स्त्री-विमर्श है। यह कहना स्त्रीवादी महिला लेखकों का अतिवाद ही लगता है कि स्त्री द्वारा लिखा गया साहित्य ही स्त्री विमर्श हैं किन्तु यह भी एक सच्चाई है कि पुरुष लेखक कितनी ही संवेदनशीलता दिखाये, वह स्त्री का अपना वृत्तांत नहीं लिख सकता। स्त्री के पक्ष में लेखन पुरुष का आदर्शवाद है जबकि अपने पक्ष में स्त्री का लेखन उसका यथार्थवाद है। स्त्री के प्रति पुरुष की एक सहानुभूतिपरक दृष्टि मात्र होती है न कि स्वानुभूतिपरक।

जैसा कि डॉ० प्रभा खेतान लिखती हैं, “स्त्री की स्थिति वह चाहे पश्चिमी हो या तीसरी दुनिया की, अब भी बड़ी भंगुर है।..... पहले हमें यह देखना है कि इन सारे विमर्शों का उत्पादक एवं चिन्तक कौन है? वही श्वेत मध्यवर्गीय पुरुष सत्ता, जो अब अपने आपको उत्तर आधुनिक कह रही है। यही वह सवर्ण पुरुष है, विशिष्ट लोग जो अकादमिक दुनिया में जगह खोज रहे हैं। नारीवाद के आदर्श इन पुरुषों के आदर्श से अलग हैं, इन पुरुषों ने व्यक्तिगत स्तर पर निजी क्षेत्र में दलन को नहीं झेला है, उन्हें पता नहीं है शारीरिक असुरक्षा किसे कहते हैं, बलात्कार की त्रासदी क्या है? दलित पति भी अपनी पत्नी से वही अपेक्षा रखता है जो कि सवर्ण

रखता है।<sup>4</sup> स्त्री की स्थिति पर विचार करते हुए सीमोन द बोउवार ने लिखा है कि, “पुरुष की यह स्वभावगत विशेषता है कि वह हमेशा अनन्य के संदर्भ में स्वयं के बारे में सोचता है। जगत् के बारे में उसका दृष्टिकोण द्वन्द्वात्मकता का होता है। वह हमेशा द्वैत में सोचता है, अतः उसने स्वयं के संदर्भ में औरत को अन्य की अन्य की कोटि में रखा उसके चिन्तन में यह द्वैत भाव पहले इतना स्पष्ट नहीं था। पहले तो वह एक ही तत्व में स्त्री और पुरुष, दोनों का अवतरण मान लेता था, किन्तु जैसे-जैसे औरत की भूमिका विस्तृत होती गई, वह पुरुष के लिए संपूर्ण रूप से अन्या होती चली गई। उसके नाना रूप उभरे। कभी पुरुष ने उसे देवी माना, तो कभी दानवी। वह प्रकट हुई पहाड़ों में, वन प्रदेशों में बहती रही झरनों में हर जगह उसने जन्म दिया, उसी ने विनाश भी किया। मनमानी, वैभवशालिनी प्रकृति की तरह क्रूर वह स्त्री एक ही साथ मांगलिक और अशुभ दोनों थी। कभी वह वह दुर्गा बनी, कभी काली। पूरे पश्चिमी एशिया में वह भिन्न-भिन्न नामों से पूजी गई।<sup>5</sup>

इससे यह तो साबित हो ही जाता है कि प्रारंभ में मातृसत्तात्मक समाज था। कालान्तर में पितृ सत्तात्मक समाज अस्तित्व में आया फलस्वरूप औरत की सामाजिक स्थिति गुलामों जैसी होती गई। एंगेल्स कहते हैं कि, ‘मातृसत्ता से पितृसत्तात्मक समाज का अवतरण वास्तव में औरत जाति की सबसे बड़ी ऐतिहासिक हार थी।’<sup>6</sup>

पुरुष चूँकि हमेशा से स्त्री की स्वतन्त्र सत्ता से डरता रहा है, अतः उसने सर्वप्रथम स्त्री की स्वतन्त्रता को अपने आक्रमण का केन्द्र बनाया। पितृसत्ता के विभिन्न पहलुओं का विश्लेषण करते हुए राजेन्द्र यादव अपनी

पुस्तक 'आदमी की निगाह में औरत' में लिखते हैं, "इस सारे साहित्यिक और सांस्कृतिक गरिमामय शब्द जाल से आदमी ने औरत की जिस एक चीज को मारा, कुचला या पालतू बनाया है, वह है उसकी स्वतन्त्रता। आदमी हमेशा से नारी की स्वतन्त्र सत्ता से डरता रहा है। और उसे ही उसने बाकायदा अपने आक्रमण का केन्द्र बनाया है। अपनी अखण्डता और सम्पूर्णता में नारी दुर्जेय और अजेय है। वहाँ वह ऐसी शक्ति का पुँज है जो स्वतन्त्र और स्वच्छन्द है, बनैली और स्वैरिणी। इसलिए आदमी ने उसे तोड़ा है। तोड़कर ही किसी को कमजोर और पालतू बनाया जा सकता है। आदमी ने लगातार और हर तरह कोशिश की है कि उसे परतन्त्र और निष्क्रिय बनाया जा सके।"

स्त्रीवादियों द्वारा की गई स्वतन्त्रता की माँग पितृ सत्ता के हरेक पहलू से निजात दिलाने की थी। उन्होंने न केवल स्त्री देह की मुक्ति का सवाल उठाया वरन् पितृसत्ता द्वारा प्रचलित और प्रचारित ज्ञान को वैज्ञानिक तर्कों द्वारा खारिज करने की भी कोशिश की। पुरुषवादी भाषा पर भी हमला बोला। भाषा में निहित पितृसत्तावादी दृष्टिकोण को सामने लाया गया जिससे यह तथ्य उभरकर आया कि भाषा पुरुषों के अनुभव हैं। मुहावरा पुरुषों द्वारा रचित हैं जो स्त्री-विरोधी हैं। पुरुषवादी भाषा के संरचनात्मक स्वरूप पर सुधीश पचौरी ने अपनी पुस्तक 'उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श' में लिखा है, "प्रचलित कोई भी भाषा शिश्न-केंद्रिकता से इस कदर संचालित होती है (हिन्दी तो खूब ही है) कि वह स्त्री-अनुभव को पूरी तरह व्यक्त करने में असमर्थ ही रहती है। यों भाषा एक सामाजिक संबंध है, लेकिन सदियों से पुरुषों द्वारा स्व-केंद्रिक अनुभवों का निर्माण

करने के कारण स्त्री अनुभव को बहुत दूर तक खारिज कर चुकी है। उस दी हुई भाषा के स्तरों एवं संरचना को तोड़े बिना स्त्री को वाणी नहीं मिलती। स्त्रियाँ जहाँ काम करती हैं, वहाँ उन्हें शिशन—केन्द्रिक भाषा के अतिचार का सामना करना पड़ता है। यह स्थिति कितनी भयावह और सार्वजनिक है कि 'लेना', 'देना', 'लेंगी', 'देंगी', जैसी मामूली क्रियाओं तक को मर्दों द्वारा द्विअर्थी बना दिया जाता है। क्योंकि भाषा के इस ढंग से ही स्त्रियों पर शासन किया जा सकता है।<sup>8</sup>

पुरुष वर्चस्ववादी भाषा के संबंध में एक पाश्चात्य विदुषी एनी लेक्लर्क का मानना है कि, "हमें भाषा की खोज करनी होगी अन्यथा हम नष्ट हो जाएँगी।"<sup>9</sup> ऐनी लेक्लर्क दरअसल, उस भाषा से बाहर एक ऐसी भाषा को खोजने की बात कर रही हैं जिसमें 'स्त्रीत्व' की रक्षा हो सके। क्योंकि स्त्रियों को जो भाषा मिलती है वह पुरुषों द्वारा नियंत्रित है। हमारे चुटकुलें, हमारी गप्पें, हमारी अन्तर्कथाएँ सब में यही पुल्लिंगत्व है।

समाज में प्रचलित गालियाँ भी लिंग पर आधारित रही हैं। ये गालियाँ मूलतः पुरुष के लिंग—केन्द्रित होती हैं। अतः नारीवादी लेखिकाओं ने इन गालियों के विरुद्ध अपनी तीव्र प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कीं। इस संबंध में सुधीश पचौरी का मत है कि, "भाषा की यह शिशन—केन्द्रिकता औरत को निर्वाक् बनाती है। दुनिया की तमाम बड़ी लेखिकाओं को प्रचलित भाषा अपूर्ण और लिंग भेदी लगी है और नई भाषा वे आसानी से बना नहीं सकी हैं। इसलिए एक ऐसा विमर्श पैदा हुआ है जो खामोशी से अर्थ देता है। एक स्त्री की 'खामोशियों' आत्मनिर्वासन और आत्म—सैंसर का दूसरा नाम है। स्त्रियों के शब्दकोश में गालियों की मात्रा बहुत कम अथवा शून्य होती है तो इसीलिए

कि 'गालियाँ' मूलतः शिश्न-केन्द्रिक व्याकरण से उद्भूत होती हैं।<sup>10</sup>

मैनेजर पाण्डेय गालियों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करते हुए लिखते हैं, "अगर इन गालियों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करें तो यह साफ जाहिर होगा कि दुनिया में जितनी गालियाँ हैं वे स्त्रियों के लिए होती हैं। गालियाँ दी तो पुरुष को जाती हैं पर वे मूलतः स्त्रियों को ही अपमानित करने के लिए दी जाती हैं।"<sup>11</sup>

अतः पुरुष केन्द्रित भाषा को नकारा गया जो स्त्रीवादी आन्दोलन की नई अंतर्दृष्टि की देन थी। पितृसत्ता के इस षड्यन्त्र का मुख्य उद्देश्य स्त्री की स्वतन्त्रता को कुचलना था।

जैसे-जैसे सभ्यता के विकास के साथ वैज्ञानिक खोजों एवं अध्ययनों का विकास होता गया, नारीवादी आन्दोलन पर भी वैज्ञानिक अध्ययनों का प्रभाव पड़ा। स्त्रीवादी आन्दोलन में सदियों से प्रचलित पितृ सत्ता के रूढ़ मूल्यों के विरुद्ध वैज्ञानिक तर्कों के आधार पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। पुरुष निर्मित सामाजिक एवं धार्मिक मिथकों को वैज्ञानिक तर्क की कसौटी पर कसा जाने लगा और उन्हें वैज्ञानिक तर्कों द्वारा खारिज करने की कोशिश की गई।

इस संदर्भ में प्रभा खेतान का मत समीचीन लगता है कि, "स्त्री-विमर्श के केन्द्र में चूँकि स्त्री है इसलिए पितृसत्ता द्वारा अर्जित और प्रचारित ज्ञान को वह अस्वीकार करता है। नारीवाद पारम्परिक ज्ञान और दर्शन को चुनौती देता है। ऐतिहासिक रूप से हम पुरुष प्रधान समाज में रहते आये हैं, जहाँ स्त्री ज्ञाता नहीं बल्कि ज्ञान की विषयवस्तु है। हम जिसे यथार्थपरक ज्ञान या वस्तुपरक ज्ञान कहते हैं, वास्तव में वह पुरुषों द्वारा निर्मित एवं

उत्पादित ज्ञान है। इसी ज्ञान को पुरुष सत्ता ने समाज के केन्द्र में अधिष्ठित किया। इसके विपरीत नारीवादी सिद्धान्त स्त्री-केन्द्रित ज्ञान की चर्चा करता है।<sup>12</sup>

अतः स्त्री विमर्श उन सभी पितृसत्तात्मक मूल्यों के विरोध का दर्शन है जो नारी की शोषित स्त्री का हिमायती है, जैसा कि अनामिका लिखती हैं, “स्त्री-आन्दोलन पितृसत्तात्मक समाज में पल रहे स्त्री-संबंधी पूर्वाग्रहों से पुरुषों की क्रमिक मुक्ति को असंभव नहीं मानता। दोषी पुरुष नहीं, वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक पुरुषों को लगातार एक ही पाठ पढ़ाती है कि स्त्रियाँ उनसे हीनतर हैं, उनके भोग का साधन मात्र। आन्दोलन की सार्थकता इसमें है कि वहाँ-वहाँ उंगली रखे जहाँ जहाँ मानदण्ड दोहरे हैं; विरूपण, प्रक्षेपण, विलोपन के तिहरे षड्यन्त्र इसी के खिलाफ लगातार कारगर हैं जिनसे निस्तार मिलना ही चाहिए और सारा संघर्ष इसी बात का है।”<sup>13</sup>

सदियों से स्त्री को ‘दुर्बल’ या ‘अबला’ माना जाना पितृसत्ता की एक चाल रही है लेकिन यह मिथक अब टूट रहा है। स्त्री-विमर्श में यह तथ्य उभर कर सामने आया कि स्त्री को पुरुषों द्वारा जान बूझ कर शारीरिक और मानसिक रूप से दुर्बल बनाया गया ताकि वह पुरुषों की गुलाम (दासी) बनी रहे। आज की स्त्री पितृसत्ता द्वारा निर्मित उन सभी प्रतिमानों का विरोध करती है जो अवैज्ञानिक हैं। तसलीमा नसरीन लिखती हैं, “स्त्री को दुर्बल कौन समझते हैं? जो कहते हैं कि स्त्री शारीरिक रूप से दुर्बल हैं, वे गलत हैं, वे झूठ बोलते हैं। आज भी अगर एक नर और नारी शिशु को भरे तालाब में छोड़ दिया जाए तो पहले जिस शिशु की मौत

होगी, वह नर शिशु ही होगा। यदि नारी शिशु का फेफड़ा या हृदय नर शिशु से ज्यादा शक्तिशाली है, यदि प्रतिरक्षा या जिन्दा रहने की क्षमता नारी शिशु में अधिक है तो कैसे यह झटके में राय दे दी जाती है कि स्त्री दुर्बल, कोमल, भीरु और लाजवंती होती है। दरअसल, ये सब स्त्री पर आरोपित किये गये सामाजिक विशेषण हैं।<sup>14</sup>

इससे स्पष्ट है कि जैविक रूप से अधिक शक्तिशाली होने के बावजूद स्त्री को सामाजिक रूप से कमजोर बनाया गया जो पितृसत्ता की साजिश थी।

कुछ विद्वानों ने 'स्त्री-विमर्श' को पश्चिम की मात्र नकल माना है जो कि सही प्रतीत नहीं होता। क्योंकि भारतीय समाज में बहुत पहले ही राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, महादेव गोविन्द रानाडे, महात्मा गाँधी जैसे प्रबुद्ध चिन्तकों ने नारीवादी आन्दोलन की मशाल जलायी। साहित्य के क्षेत्र में महादेवी वर्मा ने 'श्रंखला की कड़ियाँ' लिखकर स्त्रीवादी साहित्य की शुरुआत की। महादेवी वर्मा नारी मुक्ति का आह्वान करते हुए लिखती हैं, "हमें न किसी पर जय चाहिए न किसी से पराजय, न किसी पर प्रभुत्व चाहिए, न किसी पर प्रभुता। केवल अपना वह स्थान, वे स्वत्व चाहिए जिनका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं है, परन्तु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग बन नहीं सकेंगी।"<sup>15</sup>

भारतवर्ष में स्त्री-विमर्श की दिशा के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुए प्रभा खेतान लिखती हैं, "क्या स्त्री-विमर्श केवल पश्चिमी विचारधारा है? क्या वहाँ की स्त्रियाँ केवल अपनी समस्या से जूझ रही हैं, यहाँ भारतीय समाज में उसकी उपयोगिता? जहाँ तक उपयोगिता का प्रश्न

है, पश्चिम की बहुतेरी चीजें, तकनीक और ज्ञान को हमने समाज में काम में लिया है, यह सही है कि पश्चिम की कोई भी विचारधारा हम उसी रूप में नहीं अपनाते हैं। सामाजिक आलोचना के क्षेत्र में हम उन पूर्वानुमानों को काम में लेते रहेंगे, जिससे वैचारिक जगत् में सुविधा मिले।”<sup>16</sup>

इसमें संदेह नहीं कि भारत में स्त्री-मुक्ति आन्दोलन की जमीन भारतीय समाज में पहले से ही तैयार थी। अतः इसे पश्चिम की नकल मात्र मानना गलत है। हाँ, इतना जरूर है कि स्त्री-विमर्श की गंभीर बहस 1980 के बाद आरंभ हुई। हिन्दी की अनेक लेखिकाओं ने इस आन्दोलन में वैचारिक और रचनात्मक हिस्सेदारी की और प्रभा खेतान जैसी स्त्रीवादी लेखिकाओं ने इस विमर्श को वैचारिक और रचनात्मक स्तर पर आगे बढ़ाया। प्रभा खेतान के शब्दों में, “साहित्य संसार में पुरुषों को स्त्रियों की जरूरत नहीं थी, यह तो महिलाएँ ही हैं जो जबरदस्ती अपनी लेखकीय महत्वाकांक्षा से ग्रस्त मंच की उँचाइयों तक लपकने लगीं। कोई पारो थी, कोई सुनीता, जो अपनी बात कहना चाहती थीं, मगर ठीक से कभी कह नहीं पायीं। शरत ने देवदास की पीड़ा के बदले यदि पारो के ऊपर कुछ अधिक लिखा होता, या फिर उस बूढ़े पति को फेंककर देवदास के साथ नहीं किसी और के साथ पारो का ब्याह कर दिया होता तो शायद अन्य पारो को भी प्रेरणा मिलती। उसमें साहस जगा होता।”<sup>17</sup>

अतः ‘वसुधा’ संपादक कमला प्रसाद ने ठीक ही कहा है कि “स्त्री-विमर्श व्यवस्था परिवर्तन का समग्र प्रश्न है।”<sup>18</sup>

भारत में सबसे अधिक स्त्री शोषण का क्षेत्र स्त्री के श्रम के दोहन का रहा है। काम तो स्त्री घर में भी करती है और गांवों में तो वह घर के



अलावा खेतों में भी खटती है। यही नहीं परिवार में घर के हर सदस्य की देखभाल की जिम्मेदारी अकसर स्त्री की होती है लेकिन इसे उसके कर्तव्यों से जोड़कर देखा जाता है। उसका यह श्रम कभी रेखांकित नहीं किया जाता। 1990 के बाद वैश्वीकरण और उदारीकरण का दौर आया और बाजारवाद हमारे जीवन पर हावी होने लगा और सांस्कृतिक विघटन की एक सर्वथा नयी परम्परा आरम्भ हुई। इस नयी परम्परा में विचारक न केवल व्यवस्थात्मक परिवर्तन के प्रबल आलोचक हुए बल्कि विभिन्न सामाजिक समूहों के समायोजन में भी उनका हस्तक्षेप रहा। जैसा कि प्रभा खेतान लिखती हैं, “राज्य की नीति और संस्थाओं में सुधार के बदले भूण्डलीय प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप स्थानीय समाज में बिखराव ज्यादा आया है। भविष्य की सामाजिक शक्ति और समृद्धि जो कि राज्य की क्षमता के स्थानीय एडाप्टेशन, प्रबंधन के नेटवर्क एवं परिवार के सामाजिक पूँजीवादी पक्ष पर निर्भर करता है, कुंद हो गई है। एक प्रकार से उपउदारवादियों के स्थानीय समाज को ये संस्थाएँ ही बचाकर रख सकती हैं।”<sup>19</sup>

इस उदारवाद और भूण्डलीकरण की सर्वाधिक शिकार स्त्री हुई चूँकि उपभोक्तावादी समाज स्त्री को वस्तु में बदल देता है। आज नारी सौंदर्य भी बाजार में बेचा जा रहा है। एकाएक सौंदर्य प्रतियोगिताओं की बाढ़ सी आ गई है। आज के इस पूँजीवादी बाजार में औरत के जिस्म को उपभोग की वस्तु समझकर विज्ञापित किया जा रहा है। इसमें बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की चाल है। वे इन विश्व सुन्दरियों, ब्रह्माण्ड सुन्दरियों का उपयोग अपने औद्योगिक साम्राज्य के विस्तार हेतु मॉडलिंग के रूप में करते हैं। अतः इस ओर से उसे सचेत रहने की आवश्यकता है।

वर्तमान समय में महिला रचनाकारों से देहवादी रचनाएँ थोक भाव से लिखवाई जा रही हैं। हालात यह हो गये हैं कि संघर्ष को लेकर शुरू हुआ स्त्री विमर्श देह विमर्श में तब्दील हो गया है। अतः ममता कालिया की चिन्ता लाजिमी है, “स्त्री-विमर्श के विचारणीय मुद्दे अनेक और अनंत हैं। क्या वर्तमान महिला लेखन इन अपेक्षाओं को कमोबेश पूरा करता है। वह कर सकता है बशर्ते वह प्रायोजित देहवाद के दुराग्रह छोड़ दे, बाजार की निविदा पर अपनी रचनाओं की पैकेजिंग बंद कर दे और पीड़ा को अपना पेशा न बनाये।”<sup>20</sup>

निःसंदेह स्त्री-पुरुष के मध्य विद्यमान गैर-बराबरी को दूर करने हेतु शुरू हुआ यह स्त्री-विमर्श नारी देह की सीमाओं में सिमटता चला गया। इसी वैचारिक परिप्रेक्ष्य में ऐसे उपन्यास भी लिखे गये जो समलिंगी जैसे विचारों की पक्षधरता करते हैं। प्रभा खेतान के शब्दों में, “भूमण्डलीकरण के दौर में विवाह से यौनिकता विच्छिन्न हो गई है। स्त्री की यौनिकता और स्त्री-पुरुष की समलैंगिकता के कारण क्रमशः परिवार और कामना में एक दूसरी आयी है। इससे यौन-मुक्ति घटी नहीं है बल्कि अधिकतर लोगों के जीवन में विवाहेत्तर संबंधों की संख्या दिन पर दिन बढ़ रही है। इसे भोगवादी यौनिकता कहा जायेगा। पारम्परिक समाज में केवल बच्चे पैदा करने के लिए यौन संबंध किये जाते थे। सुख तथा आनन्द के लिए किया जाने वाला सेक्स, मनोरंजन के लिए किया जाने वाला सेक्स, मुक्तिकारी सेक्स की एक नयी अवधारणा उभर कर आयी है। गिडेन्स ने इसे ही ‘प्लास्टिक सेक्सुअल्टी’ कहा है। कुल मिलाकर सेक्स अब आनन्द के लिए किया जाता है। इसका परिवार निर्वाह से कोई संबंध नहीं रहा।”<sup>21</sup>

प्रभा खेतान मानवीय गरिमा का सवाल उठाते हुए लिखती हैं, “मूल प्रश्न मानवीय गरिमा और सम्मान का है एवं सभी के लिए यह चिन्ता का विषय होना चाहिए कि क्या स्त्री की पहचान उसकी योनि पर चिपकी कीमत से ही होती है।”<sup>22</sup>

इस प्रकार हिन्दी में उभरा स्त्री-विमर्श बहुत जल्दी देह विमर्श में तब्दील हो गया जिसकी कमान राजेन्द्र यादव ने ‘हंस’ के माध्यम से अपने हाथ में ले ली। उन्होंने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि स्त्री-मुक्ति की बात ‘स्त्री देह-मुक्ति’ से ही आरंभ हो सकती है। जैसा कि उन्होंने लिखा है, “सवाल यहाँ स्त्री देह के प्रदर्शन और चटखारे का नहीं है। उत्तर-आधुनिक काल के इस विश्व-ग्रामी वातावरण में हम इसके इतने अभ्यस्त तो हो ही चुके हैं कि यह सब बहुत चौंक या सनसनी पैदा नहीं करता। जहाँ करता है वहाँ देखने से आगे जाकर जबर्दस्ती भोगने या बलात्कार की आकाँक्षा है। वस्तुतः आज हम सीधे इस सवाल के सामने हैं कि क्या स्त्री देह इतनी घृणित, अश्लील और आपत्तिजनक है कि अपनी संस्कृति और शील बचाये रखने के लिए उसका दबा-ढँका रहना ही जरूरी है?”<sup>23</sup>

इतना ही नहीं श्री राजेन्द्र यादव ने इस बात पर भी जोर दिया है कि स्त्री-विमर्श और स्त्री देह-मुक्ति परस्पर पर्याय हैं। अतः उन्होंने स्त्री देह पर खुलकर बात करना जरूरी समझा है। इसलिए उन्होंने ‘हंस’ के जून, 2008 के संपादकीय में लिखा भी है कि, “जिस देह के साथ औरत पहली सांस से आखिरी सांस तक बंधी है उस पर बात करना उसे अशालीन लगता है। भोजन के हर स्वाद का चटखारा लेकर आनन्दित होने वाली

स्त्री, देह के उत्सव को क्यों सिर्फ अपने गोपन कक्ष में बंद रखती है। जबकि वह उतना निजी नहीं है उसका सहभागी पुरुष भी है।''<sup>24</sup>

लेकिन स्त्री विमर्श का देह—विमर्श में सिमट जाना निश्चय ही दुर्भाग्यपूर्ण है। इसके लिए उपभोक्तावादी संस्कृति भी जिम्मेदार है। अतः इससे स्त्री को सचेत रहने की जरूरत है। अपने लिए वह कैसा जीवन चाहती है। यह स्त्री को ही तय करना है। इसमें पुरुष लेखकों की सहभागिता की भी जरूरत है।

आठवें—नवें दशक में काफी तादाद में महिला उपन्यासकारों की पीढ़ी उभरी, जिन्होंने स्त्री की सभी मूलभूत समस्याओं के रेखांकन पर बल दिया। नासिरा शर्मा, चित्रा मुद्गल, कृष्णा सोबती, अर्चना वर्मा, अलका सरावगी, मृदुला गर्ग, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, राजी सेठ, लवलीन, कृष्णा अग्निहोत्री इत्यादि लेखिकाएँ उल्लेखनीय हैं। इन्होंने घर और समाज की समस्याओं के ऊपर उठकर स्त्री के लिए स्वतंत्र अस्तित्व और अस्मिता के मुद्दों को प्रमुखता से उठाने का सार्थक प्रयास किया है।

नासिरा शर्मा द्वारा रचित 'शाल्मली' (1987ई०) तथा 'ठीकरे की मंगनी' (1989ई०) मुख्यतः आधुनिक भारतीय नारी की स्थिति पर आधारित उपन्यास हैं।

'शाल्मली' उपन्यास में नासिरा शर्मा ने आधुनिक परिस्थितियों में दाम्पत्य की समस्या को एक नये कोण से उठाने की कोशिश की है। परम्परागत हिन्दू समाज में पत्नी का पति से अलग कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। मनु द्वारा निर्मित और सदियों के व्यवहार से पुष्ट हिन्दू नारी—संहिता ने आज की नारी को अपनी जकड़न से मुक्त नहीं होने दिया है। समस्त

संवैधानिक अधिकारों के बावजूद भारतीय नारी पारिवारिक और सामाजिक शोषण की शिकार बनी हुई है। लेकिन शिक्षा के प्रसार के कारण पत्नी के आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने पर दाम्पत्य संबंध बिगड़ने लगते हैं। नासिरा शर्मा ने इन्हीं परिस्थितियों में कथा नायिका शाल्मली और नरेश के दाम्पत्य जीवन की कड़ुवाहट और घुटन का अंकन किया है।

शाल्मली एक मध्यवर्गीय परिवार की बेटी से मध्यवर्गीय परिवार की बहू बनती है। उसका पति नरेश कुंठा का शिकार युवक है जो अपनी पत्नी शाल्मली की सर्वगुण सम्पन्नता से भयभीत रहता है कि कहीं पत्नी का अस्तित्व पति के अस्तित्व को ढाँप ही न ले या फिर उसकी पत्नी उससे छिन ही न जाए। शाल्मली के पति नरेश का यही संदेह उसके व्यवहार को असामान्य बनाकर शाल्मली का जीवन दूभर कर देता है। वह असहाय होकर अपने मानसिक रीतेपन के मौन हाहाकार में छटपटाती है। उसकी यह छटपटाहट उसे अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक कर देती है। लेकिन नासिरा शर्मा इस अस्तित्व को समझौते की बीच, सीमाओं के बीच ढूँढती हैं। यही कारण है कि शाल्मली पति द्वारा दी गई मानसिक यातनाओं को उसकी विवशता बताती हुई कहती है, “हर मनुष्य की बौद्धिक क्षमता की एक सीमा होती है और वही उसका मापदण्ड भी, जो न किसी अन्य के प्रभाव को ग्रहण करती है, न ही घटती—बढ़ती है। यह तो व्यक्ति की निपट निजी निधि है जहाँ अच्छी—बुरी संगति अवश्य ही व्यवहार को प्रभावित करती है, सो नरेश से आशा करना कि उसका बौद्धिक विकास, अपनी शक्ति और परिधि को तोड़ते हुए बाहर निकल कर कुछ नया रच डाले, यह असंभव है, मगर उसके व्यवहार में बढ़ती उद्विग्नता को वह अपने प्रयत्नों से

अनुशासित तो कर सकती है।''<sup>25</sup> निश्चय ही यह सोच एक स्वस्थ नारी दृष्टि का परिचायक है।

अपने बेटे नरेश द्वारा बहू की निरन्तर उपेक्षा और बहू का चुपचाप सहते जाना शाल्मली की सास को एक ही प्लेटफार्म पर बहू के बराबर ला खड़ा करता है और वह कहती है, 'तू कुछ न कह सके, वह अलग बात है, पर मुझे कहने में लाज नहीं कि हमारे यहाँ मर्द नहीं जानते औरत का आदर-सत्कार करना, सम्मान देना तो बहुत दूर की बात है। अपने आस-पास रोज बहुत कुछ देख सुन रही रही हूँ मगर औरत....।''<sup>26</sup>

शाल्मली की सास का यह कथन एक स्त्री को दूसरी स्त्री से साझे दर्द के संबंधों के अन्तर्गत देखता है और इस सत्य की पुष्टि करता है कि हमारे समाज में कहीं न कहीं हर दर्जे की, हर पीढ़ी की औरत का हृदय भीतर से एक ही स्थान पर दुखता है, रिसता है। शाल्मली की सास पुनः कहती है, 'मैं इन वर्षों में तेरे साथ रहकर जान पाई, बहू री। औरत जन्म जली कहीं स्वतन्त्र नहीं। कहीं खूँटे से तंग बंधी तो कहीं उसके गले में बंधी रस्सी थोड़ी लंबी या अधिक लंबी ..।''<sup>27</sup>

नासिरा शर्मा न केवल नारी की स्वायत्तता वरन् पुरुष के थोथे अहम् को भी अपनी लेखनी का मुद्दा बनाती हैं। शाल्मली के पति नरेश का यह कथन कि, '...जानना चाहोगी पुरुष की दृष्टि में औरत क्या है? भोगने की वस्तु, वही उसकी पहचान है। इसीलिए तुम औरत की तरह रहो, इसी में तुम्हारा उद्धार है और इस घर का कल्याण और गृहस्थी का सुख।''<sup>28</sup> पुरुष के थोथे अहम् का परिचायक है। 'ठीकरे की मंगनी' में भी नासिरा शर्मा ने नारी की पहचान, उसके जीवन की अर्थवत्ता, उसकी नियति एवं संभावनाओं

को केन्द्र में रखकर महरूख नाम की नारी की जीवन-यात्रा को चित्रित किया है।

‘ठीकरे की मंगनी’ की महरूख भारतीय मुस्लिम परिवार में एक वरदान की भाँति जन्म लेने वाली लड़की है जिसे जिन्दा रखने के लिए मुस्लिम समाज के एक रिवाज के अनुसार तमाम बलाएँ टालने के लिए एक टोटके के तहत उसकी मँगनी ठीकरे से कर दी जाती है और उसे अपने खालाजाद भाई रफत के साथ सारी जिन्दगी के लिए बाँध दिया जाता है। रफत अवसरवादी और संवेदनाशून्य युवक है जो इंसानी भावनाओं की कोई कद्र नहीं करता है। महरूख इसकी शिकार होती है। वह हर प्रकार से स्वयं को रफत की जीवन शैली में ढालने का प्रयत्न करती है उसी की खुशी के लिए वह परिवार से बिछुड़कर दिल्ली जाकर पढ़ाई करती है लेकिन महत्वाकाँक्षी रफत का व्यक्तित्व उस वक्त बेनकाब होता है। जब वह अमेरिका जाकर किसी अन्य लड़की के साथ बंध जाती है। महरूख इस समचार से एक सूखे पत्ते की आह! भाँति काँपकर रह जाती है। वह कहती है, “आह! यह कैसी घुटन है मेरे माबूद! जो मेरे दिल व दिमाग पर छाकर जिस्म के जर्रे जर्रे में बहने लगती है। हर तरफ यह फैलता अंधेरा मुझे अपनी तरफ बढ़ता क्यों महसूस होता है?...या खुदा। मैंने आखिर तेरा क्या बिगाड़ा है, जो यह उजाड़ वीरान शामें हर रोज मुझे निगलने की कोशिश में अपने काले डैने फैलाती हैं।”<sup>29</sup>

महरूख दिल्ली की दोगली जिन्दगी से गांव की जिन्दगी की ओर प्रस्थान करती है। यह हादसा उसके अस्तित्व को एक बारगी हिला जरूर देता है। पर वह टूटती नहीं बल्कि अपने लिए एक नया और स्वतन्त्र मार्ग

चुनती है। रफत द्वारा दूसरी बार निकाह का प्रस्ताव लेकर आने पर वह नकार देती है। क्योंकि अब वह समाज-सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य बना चुकी होती है।

वह अपनी अकेली सामर्थ्य के बारे में आश्वस्त होकर कहती है, “एक घर औरत का अपना भी तो हो सकता है जो उसके बाप और शौहर के घर से अलग, उसकी मेहनत और पहचान का हो।”<sup>30</sup>

इस प्रकार नासिरा शर्मा अपने उपन्यासों में औरत के बदलते वजूद, मसलन घर का सवाल, स्त्री-पुरुष की बराबरी का सवाल बड़ी तटस्थता के साथ उठाया है।

प्रभा खेतान प्रारंभ से ही स्त्री-विमर्श के केन्द्र में बनी रही है। लेकिन दुर्भाग्यवश आज वे हमारे बीच नहीं हैं— सदा-सदा के लिए प्रकृति ने उन्हें हमसे छीन लिया है जिससे हिन्दी साहित्य जगत् को अपूरणीय क्षति हुई है। ‘आओं पेपे घर चलें’ (1990) तथा ‘छिन्नमस्ता’ (1993ई०) जैसे उपन्यासों में उनकी स्त्री-विषयक दृष्टि देखी जा सकती है।

उनका ‘आओ पेपे घर चलें’ उपन्यास विदेशी संस्कृति पर लिखी गई एक सशक्त रचना है। आइलिन और उसके कुत्ते पेपे को ही इस उपन्यास की कहानी का कथ्य बनाया गया है। दो पतियों और पांच प्रेमियों का दम भरने वाली आइलिन भीतर से बिलकुल अकेली है। जीने के लिए हर किसी को कोई न कोई आधार, कोई अवलम्ब चाहिए होता है और आइलिन के लिए वह अवलम्ब, जीने का वह आधार उसका कुत्ता पेपे है जो उसकी शून्यता को भरता है और मानवीय संबंधों में आई दरारों को मिटाता है। आइलिन के अकेलेपन को लक्ष्य करते हुए प्रभा खेतान लिखती हैं, “मुझे



लगा, इस देश की हर औरत, खूबसूरत और जवान तथा सक्रिय औरत एक दिन आइलिन का अकेलापन हो जाती हैं।”<sup>31</sup>

देश—विदेश के बीच स्त्री की एक साझी मानसिकता और समाज में उसकी स्थिति का द्योतक आइलिन का यह कथन कि, “दुनिया में ऐसा कोई कोना बताओ जहाँ औरत के आँसू नहीं गिरे।”<sup>32</sup> अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है। प्रभा खेतान इस उपन्यास में अन्यत्र लिखती भी हैं, “यह पराई जमीन है, लेकिन आदमी तो सब जगह एक—सा है। वही सुख—दुख के लम्हें, वही नाते।”<sup>33</sup> आइलिन भीतर से बिलकुल अकेली हो जाती है। लेकिन एक औरत होने के नाते उसके अपने जीवन का सत्य भी यही है, तभी तो वह कहती है, “औरत कहाँ नहीं रोती और कब नहीं रोती? वह जितना भी रोती है उतनी ही औरत होती जाती है।”<sup>34</sup> इस कथन में प्रभा खेतान की स्त्री—विषयक संवेदना अभिव्यक्त हुई है। सदियों से स्त्री इस पुरुष प्रधान समाज के शोषण और दमन का शिकार रही है। जिसका एक बड़ा कारण प्रभा खेतान ने स्त्री का पुरुष पर निर्भर रहना भी माना है। आर्थिक निर्भरता के विषय में प्रभा जी अपनी बहन से कहती हैं, “आप नहीं जानती बहन जी, औरत की सारी स्वतन्त्रता उसके पर्स में निहित है।”<sup>35</sup>

स्त्री की अस्मिता की सुरक्षा हेतु प्रभा खेतान आर्थिक स्वतन्त्रता को पहली शर्त मानती हैं। उन्होंने ‘आओ पेपे घर चलें’ की मरील के द्वारा कहलवाया भी है— “यदि लकीर से हटी तो यह दर्द की पहली कड़ी है। दुनिया को झेलने के लिए लौह का कवच पहनना होगा।”<sup>36</sup> और यह लौह कवच आर्थिक स्वतन्त्रता के द्वारा अर्जित मनोबल का भी है।

प्रभा खेतान का दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास ‘छिन्नमस्ता’ है। ‘छिन्नमस्ता’

की प्रिया एक संपन्न परिवार की बहू होते हुए भी अपने दमित अस्तित्व को ललकारती है। वह कहती है, “व्यवस्था को तोड़ने वाली औरत को जहाँ समाज सौ कोड़े लगाता है, वहीं पुरुष को मंच पर क्रांतिकारी कहकर बैठाता है। औरत हर तरह मरती है। लेकिन रोती हुई औरत मुझे अच्छी नहीं लगती। मुझे औरत की इस निष्क्रियता पर झुँझलाहट होती है। यह क्या घुट-घुट कर मरना.....?”<sup>37</sup>

प्रिया का पति नरेन्द्र सदियों से चले आ रहे घिसे-पिटे विशेषणों प्यार, समर्पण, वफादारी की दुहाई देकर प्रिया पर हावी होना चाहता है लेकिन प्रिया का दोटूक जवाब है, जो सत्य प्रतीत होता है— “सच कहूँ नरेन्द्र, ये शब्द भ्रम हैं। औरत को यह सब इसलिए सिखाया जाता है कि वह इन शब्दों के चक्रव्यूह से कभी नहीं निकल पाए ताकि युगों से चली आती आहुति की परम्परा को कायम रखें।”<sup>38</sup>

समग्र रूप में देखें तो स्त्री प्रभा खेतान के चिन्तन और संवेदना के केन्द्र में है। ‘छिननमस्ता’ की प्रिया हर तरह की व्यवस्था को कटघरे में खड़ा करते हुए एक स्थान पर कहती है, “औरत कहाँ नहीं रोती? सड़क पर झाड़ू लगाते हुए, खेतों में काम करते हुए, एयरपोर्ट पर बाथरूम साफ करते हुए या फिर सारे भोग-ऐश्वर्य के बावजूद मेरी सासू जी की तरह पलंग पर रात-रात भर अकेले करवटें बदलते हुए। हाड़-मांस की बनी ये औरतें—अपने-अपने तरीके से जिंदगी जीने की कोशिश में छटपटाती ये औरतें। हजारों सालों से इनके ये आँसू बहते आ रहे हैं।”<sup>39</sup>

चित्रा मुद्गल का ‘एक जमीन अपनी’ (1990ई०) उपन्यास बम्बई के महानगरीय परिवेश में विज्ञापन जगत् के ग्लैमर, मूल्यहीन प्रतियोगिता, देह

व्यापार आदि के बीच प्रस्तुत 'स्त्री-विमर्श' है। इस परिवेश में स्त्री चाहे कितनी ही योग्य हो, उसे भोग्या (वस्तु) के रूप में ही देखा जाता है। स्त्री के अधिकारों के प्रति सजग नीता अंकिता से कहती है, "पुरुष से स्वतन्त्र होना है तो पहले उन्हें सिंदूर पोंछना होगा। बिछुए त्यागने होंगे। दासीत्व के प्रतीक चिह्न! यह इस्तेमाल अधिक खतनाक है।"<sup>40</sup>

इतना ही नहीं वह उपन्यास में अन्यत्र स्थान पर यह भी कहती है कि, "मैं पत्नी नहीं, सहचरी बनना चाहती हूँ। उस कोने को ढेरों फूलों से भरती उसकी जीवन-सहचरी। पत्नी शब्द में मुझे दासीत्व की बू आती है ...इस शब्द ने हमारे समाज में अपनी गरिमा खोदी है।"<sup>41</sup>

चित्रा मुद्गल ने प्रस्तुत उपन्यास में सुधांशु और हरीन्द्र के वार्तालाप द्वारा भी अपनी स्त्री-विषयक दृष्टि का परिचय दिया है। हरीन्द्र सुधांशु से दोदूक शब्दों में कहती है कि, "सुधांशु जी, औरत बौनसाई का पौधा नहीं है.... जब जी चाहा उसकी जड़ें काटकर उसे वापस गमले में रोप लिया. ...वह बौना बनाये रखने की इस साजिश को अस्वीकार भी तो कर सकती है।"<sup>42</sup>

इन उद्धरणों से लेखिका का नारी-नियति के प्रति असंतोष स्पष्ट झलक रहा है पर वह नारीवाद के उग्र रूप की समर्थक नहीं हैं। वह घर को तोड़ने और स्त्री-पुरुष के प्रतिद्वन्द्वि रूप की समर्थक नहीं हैं।

चित्रा मुद्गल का दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास 'आवाँ' (2000ई०) भी महानगरीय बोध से परिपूर्ण उपन्यास है। उपन्यास की नायिका नमिता एक घुटन भरे मध्यवर्गीय परिवार में जन्मीं और पली-बढ़ी युवती है, जो महानगर के जलते हुए परिवेश में तपकर अपने को संघर्ष के लिए तैयार

करती है। इसीलिए उपन्यास का शीर्षक 'आवाँ' रखा गया है। नमिता का एक संघर्ष पुरुष के साथ उसके देह संबंध को लेकर भी है। बाजारवादी उपभोक्ता संस्कृति की मायावी दुनिया के फरेबों को तत्क्षण समझती नमिता को लगा कि, "गर्भ कल नहीं आज गिरा है उसका। किप्पू दुसाध मरा नहीं है। मरेगा भी नहीं। जब तक औरत अपने पेट को उसकी लातों के प्रहार से स्वयं को बचाना नहीं सीख जाती है।"<sup>43</sup>

मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' (1994ई०), चाक (1997ई०) और 'आल्मा-कबूतरी' (2000ई०) भी महत्वपूर्ण उपन्यास हैं। इनमें स्त्री-जीवन की समस्याओं का चित्रण मिलता है जो कि स्त्री-विमर्श की दृष्टि से महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

संक्षेप में, आठवें दशक के बाद उपन्यास लेखन के क्षेत्र में स्त्री-लेखिकाओं का पदार्पण एक शुभ संकेत है। महिला उपन्यासकारों ने निजी अनुभवों के आधार पर आधुनिक स्त्री-पुरुष के बदलते संबंधों, उसकी द्वन्द्वग्रस्त मानसिकता, तनाव एवं छटपटाहट तथा इससे मुक्ति की कामना को मार्मिक अभिव्यक्ति प्रदान की है।

## 2. दलित-विमर्श

ऐतिहासिक दबावों और सामाजिक सांस्कृतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप साहित्य जगत् में नई धारों, प्रवृत्तियों, आन्दोलनों का उदय होता रहता है। साहित्य की गतिशीलता का यह सबसे बड़ा कारण है—किसी लेखक विशेष के कारण साहित्य में युगान्तर नहीं होता। युगान्तर होता है ठोस भौतिक परिस्थितियों में आने वाले परिवर्तनों के आधार पर।

लेखक भी अन्ततः अपने समय व समाज की उपज होता है, इसलिए उसके योगदान का विश्लेषण करते समय परिवेश को ध्यान में रखना भी आवश्यक होता है। दलित-विमर्श के संबंध में यह बात पूरी तरह लागू होती है।

दलित-विमर्श उस समाज व्यवस्था की देन है जिसमें जाति व वर्ण के आधार पर मनुष्य मनुष्य में अंतर किया जाता है और समाज के एक बड़े तबके को अछूत मान लिया जाता है। इस समाज-व्यवस्था ने 'उच्च वर्ण' को सभी संभव सुविधाएँ व अधिकार प्रदान किए तथा 'निम्न वर्ण' को अधिकारहीन रखकर सेवा तक सीमित कर दिया। अन्याय और अत्याचार का यह सिलसिला शताब्दियों तक जारी रहा और आज भी कमोबेश जारी है। अतः दलित-विमर्श का मकसद दलित समुदाय की घनीभूत पीड़ा को उजागर करते हुए शोषण विहीन और समतामूलक समाज के निर्माण में अपना योगदान करना है। शिव विश्वनाथन के शब्दों में, "दलित-विमर्श सार्वभौमिक आयामों वाला विमर्श है, यह मुक्ति का सिद्धान्त देता है, इसमें राज्य की संस्था की आलोचना निहित है, यह भूमण्डलीकृत है, यह जाति-विरोधी है, यह कईवादों के संयोग से बनता है, इसके तहत आदिवासियों, दलितों और नारीवाद के बीच आसानी से गठजोड़ बन सकता है, इसकी राजनीति खुद को अवमानना की परिघटना के आसपास कहीं ज्यादा केन्द्रित करती है, इसे सार्वजनिक जीवन की मौजूदा गुंजाइशें सिकुड़ती हुई लगती हैं, यह वोट बैंक की राजनीति को नापसंद करता हुआ अपनी स्वायत्त अभिव्यक्ति की तरफ जाता है, इसमें हिन्दू, ईसाई, बौद्ध और सेकुलरवाद की ज्ञानोदय संबंधी विचारधारा का मिश्रण है, यह राजनीति की चालू संरचनाओं को चुनौती देता है।"<sup>44</sup>

दलित-विमर्श अपने वर्तमान रूप में भले ही 19वीं शताब्दी के बाद अस्तित्व में आया हो लेकिन उसकी जड़े सुदूर अतीत तक जाती हैं। दलित चेतना के दार्शनिक और वैचारिक आधार का आदि स्रोत गौतम बुद्ध ही रहे हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम वर्ण व्यवस्था के औचित्य को चुनौती दी और सदियों से पीड़ित और तिरस्कृत दलित वर्ग की मुक्ति का मार्ग आलोकित किया (प्रशस्त किया)। बुद्ध के पश्चात् सिद्धों, नाथों और फिर भक्तिकाल में संत चोखामेला, कबीर, रैदास आदि ने वर्ण-व्यवस्था की पीड़ा का गहरा आभास किया और इन्होंने जाति-व्यवस्था के कड़े पहलुओं पर जबर्दस्त प्रहार किया।

आधुनिक काल में वर्ण-व्यवस्था के खिलाफ महात्मा ज्योतिबा फुले ने संघर्ष छेड़ा लेकिन दलित चेतना आधुनिक अर्थों में एक विचारधारा के रूप में मूलतः बाबा साहेब डॉ० अम्बेडकर की देन है। यद्यपि बुद्ध से वे प्रेरणा लेते हैं लेकिन अपने विचार, तर्क और स्थापनाएँ आधुनिक धरातल पर प्रस्तुत करते हैं, जहाँ वे महात्मा ज्योतिबा फुले से प्रभाव ग्रहण करते हैं। अतः सच्चे अर्थों में समकालीन दौर में उभरी दलित चेतना के जनक डॉ० अम्बेडकर ही हैं। दलित साहित्य वस्तुतः दलित चेतना के गर्भ से ही पैदा हुआ है। आज हिन्दी में 'दलित-विमर्श' बहस के केन्द्र में है।

आठवें दशक में हिन्दी में उभरा दलित-विमर्श मूलतः मराठी दलित-साहित्य आन्दोलन की देन है। जिसे हिन्दी में सर्वप्रथम 'हंस' मासिक पत्रिका के माध्यम से राजेन्द्र यादव ने पूरी प्रतिबद्धता के साथ मंच दिया। लेकिन दलित साहित्य को लेकर कई विवाद भी उठ खड़े हुए हैं। इसके नामकरण से लेकर अन्तर्वस्तु और स्वरूप एवं रचनाकारों को लेकर

दलित साहित्य में एक बहस चल रही है।

अतः दलित साहित्य आन्दोलन को ठीक-ठीक समझने के लिए हमें सर्वप्रथम तीन प्रश्नों से टकराना पड़ता है, जिससे इस संदर्भ में फैली विभिन्न भ्रांतियों का निराकरण हो सके और साथ ही उसके स्वरूप का निश्चित निर्धारण हो सके। पहला प्रश्न है— दलित कौन हैं? दूसरा प्रश्न है दलित साहित्य क्या है? और तीसरा प्रश्न दलित—विमर्श बनाम मार्क्सवाद को लेकर है।

### 1. दलित कौन हैं?

यह दलित—विमर्श की आधारभूत बहस है। प्रख्यात चिन्तक घनश्याम शाह के शब्दों में, “दलित मराठी, गुजराती, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं का एक प्रचलित शब्द है जिसका अर्थ है— गरीब और उत्पीड़ित। लेकिन सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक संदर्भों में दलित शब्द को एक भिन्न सांस्कृतिक अर्थ मिल जाता है। आन्दोलन और साहित्य के साथ ‘दलित’ शब्द जोड़ने से फौरन एक भिन्न समझ का संप्रेषण होता है। इस विशिष्ट संदर्भ में सबसे पहले इस शब्द का इस्तेमाल सत्तर के दशक की शुरुआत में बाबा साहेब अम्बेडकर के नवबौद्ध अनुयायियों ने किया था।”<sup>45</sup>

‘दलित’ शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत धातु ‘दल्’ से हुई है, जिसका अर्थ है— तोड़ना, हिस्से करना, कुचलना।

‘शब्द कोशीय’ अर्थ के अनुसार ‘दलित’ शब्द का आशय है— (क). मसला हुआ, मर्दित। (ख). दबाया, रौंदा या कुचला गया। (ग). खण्डित। (घ). विनष्ट किया हुआ।”<sup>46</sup>

‘हिन्दी शब्द सागर’, चतुर्थ भाग में मूल संपादक श्याम सुन्दर दास ने ‘दलित’ शब्द के अनेक अर्थ दिए हैं, मसलन — (क). मोड़ा हुआ, मसला हुआ, मर्दित। (ख). रौंदा हुआ, कुचला हुआ। (ग). खण्डित, टुकड़े-टुकड़े किया हुआ। (घ). विनष्ट किया हुआ। (ङ). जो दबा रखा गया हो। दबाया हुआ।<sup>47</sup>

ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार, ‘दलित’ शब्द का अर्थ है, “जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनष्ट, मर्दित, पस्त-हिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि।”<sup>48</sup>

अतः उक्त अर्थ—संदर्भों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि ‘दलित’ शब्द एक सामाजिक अवधारणा है। जिसे समाज के सबसे निचले पायदान पर रखा गया और जो सवर्णों द्वारा सदियों से शोषण, उपेक्षा और अमानवीय अत्याचारों का शिकार रहा और जिसे मनुष्य के दर्जे से नीचे धकेला गया वह दलित है। ‘दलित वर्ग’ इस दलित शब्द से ही संबद्ध है।

लेकिन यह दलित वर्ग की सामान्य संकल्पना है। देखा जाए तो ‘दलित’ शब्द आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक—सांस्कृतिक और लिंगीय दृष्टिकोणों में भिन्न-भिन्न आयाम ग्रहण करता है।

आर्थिक दृष्टि से ‘दलित’ एक वर्गीय शब्द है। चूँकि भारत एक गरीब देश है। यहाँ की आधी से ज्यादा आबादी आर्थिक दृष्टि से दलित ही है। यहाँ न केवल अछूत एवं शूद्र बल्कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सभी जातियों के गरीब और अभावग्रस्त लोग ‘दलित’ वर्ग में समाहित हो जाते हैं। लेकिन यहाँ स्पष्ट कर देना उचित होगा कि आर्थिक रूप से सभी



वंचित लोगों की सामाजिक प्रस्थिति (Status) एक समान नहीं होती। एक गरीब ब्राह्मण की वह सामाजिक प्रस्थिति नहीं होगी जो एक गरीब दलित (जाटव) की। अतः दलित की पीड़ा आर्थिक से कहीं ज्यादा सामाजिक है।

सामाजिक दृष्टि से दलित शब्द से एक और अर्थ ध्वनित होता है— इस वर्ग में न केवल अस्पृश्य जातियाँ बल्कि समाज की मुख्यधारा से कटी जनजातियाँ भी शामिल हो जाती हैं। ये जनजातियाँ अथवा आदिवासी राष्ट्र के विकास से दूर अलग—थलग पड़ें हैं। जो सर्वथा शोषित और वंचितों का जीवन जी रहे हैं। स्थिति इतनी विकट है कि अनेक जनजातियाँ तो लुप्त होने के कगार पर हैं। किन्तु दलित साहित्य में दलित का भी अर्थ केवल उस दलित से लिया गया है जो समाज की मुख्यधारा में अछूत का जीवन जीता आया है और कमोबेश आज भी जी रहा है।

लिंगीय दृष्टि से 'दलित' समाज के उस आधे हिस्से को इंगित करता है जो पुरुष प्रधान समाज के शोषण का शिकार है, वह है— स्त्री समुदाय। जिसे सीमोन द बोउवार 'The second sex' कहती हैं। अपने आप में एक तरह से दलित ही हैं। वरिष्ठ कथाकार और 'हंस' के सम्पादक राजेन्द्र यादव की मान्यता है कि स्त्री को भी दलित वर्ग में रखना चाहिए। वे लिखते हैं, "स्त्री समाज की बुनावट में नीचे से ऊपर तक गुंथी हुई है। स्त्री होने की यातना और नियति विभिन्न वर्णों और वर्गों में स्त्रियों को एक करती है।"<sup>49</sup> यह तो सही है कि स्त्री चाहे द्विज हो अथवा अछूत वह जैविक दृष्टि से समान हैं लेकिन सवाल उठता है कि स्त्री क्या एक जैविक ईकाई मात्र रह गई है? पुरुष वर्ग के अधीन होने के बावजूद एक द्विज स्त्री अछूत स्त्री से अपने को अलग समझती है। द्विज स्त्री जहाँ वर्ण—गर्व

से आप्लावित होती है वहीं अछूत स्त्री ग्लानि से पीड़ित है। इस प्रकार दलित स्त्री को दोहरा अभिशाप झेलना पड़ता है। वर्णवादी समाज के साथ-साथ पुरुष वर्ग के अत्याचारों का शिकार होती है— दलित स्त्री। अतः दलित स्त्री को दुहरा संघर्ष का सामना करना पड़ता है। जैसाकि मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं कि, “दलित महिलाओं की त्रासदी यह है कि उन्हें एक गाल पर ब्राह्मणवाद का तो दूसरे गाल पर पितृ सत्ता का थप्पड़ खाना पड़ता है।”<sup>50</sup> इसीलिए दलित स्त्री को ‘दलितों में भी दलित’ की संज्ञा दी जाती है जो सर्वथा उचित ही है। अतः यह कहा जा सकता है कि सभी स्त्रियों को एक ही मापदण्ड से देखना उचित नहीं होगा अर्थात् सभी स्त्रियों को एक ही दलित श्रेणी में रखना सही नहीं लगता।

एक स्वर राजनीति का है। बहुजन समाज की राजनीति के दौरान उभरे इस विचार में अस्पृश्यों, पिछड़ों, मुसलमानों (अल्पसंख्यकों) आदि को एक वर्ग में शामिल करते हुए इन्हें समान रूप से दलित मानकर एक संयुक्त मोर्चा बनाने की कोशिश की गई। पर इन समुदायों की समस्याएँ अलग-अलग हैं और इनके बीच में कई अन्तर्विरोध हैं। अतः इन्हें दलित वर्ग में रखना उचित नहीं लगता। धार्मिक सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो यह स्पष्ट है कि हिन्दू समाज एक श्रेणीबद्ध समाज है जिसका आधार तार वर्ण-व्यवस्था है। वर्ण-व्यवस्था पाँच सोपानों में विभाजित है— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पंचम वर्ण। यह पंचम वर्ण अतिशूद्र और अछूत अथवा अस्पृश्य भी कहलाता है। स्पष्ट है कि समाज के सबसे निचले पायदान पर अवस्थित वह समूह जो सदियों से गुलामी, शोषण और अत्याचार का शिकार रहा और आज भी कमोबेश गुलामी और शोषण का

कडुवा घूँट पीने को अभिशप्त है दलित है।

अतः समग्र रूप से देखें तो आज की परिस्थितियों में 'दलित' शब्द एक रूढ़ अर्थ ग्रहण कर चुका है। वर्तमान में 'दलित' शब्द पूर्व की अछूत अथवा पंचम जातियों के पर्याय के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। यहाँ हम दलित चिन्तक कंवल भारती को उद्धृत कर सकते हैं जिनके मन्तव्य पर प्रायः आम सहमति व्यक्त की जा सकती है, "दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गन्दे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतन्त्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और वही दलित है, और इसके अन्तर्गत वही जातियाँ आती हैं, जिन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है।"<sup>51</sup>

कंवल भारती की इस परिभाषा से 'दलित' शब्द का समकालीन अर्थ निश्चित हो जाता है। प्रस्तुत अध्याय में दलित शब्द को इसी अर्थ में ग्रहण किया गया है। स्पष्ट है कि 'दलित' शब्द का अभिप्रेत उन अस्पृश्य जातियों के लोगों से है जो सदियों के संताप के भोक्ता हैं। समाज के दबाये और कुचले हुए लोग हैं। प्रताड़ना और उत्पीड़न उनका जीवन यथार्थ रहा है। अतः दलितों के विरोध का केन्द्रीय बिन्दु जाति-पाँति का मूलाधार 'वर्णाश्रम-व्यवस्था' है। इसका भेदन या विखण्डन ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। क्योंकि व्यवस्था-संचालन के अनिवार्य अंग होते हुए भी उन्हें अस्पृश्य ठहराया गया। वे सामाजिक तिरस्कार, घोर अपमान और अन्याय के शिकार हुए। अतः दलित शब्द एक ओर जहाँ इस समुदाय की वेदना, पीड़ा और छटपटाहट को अभिव्यक्त करता है वहीं दूसरी ओर वह

विद्रोह और मुक्ति की भी प्रेरणा देता है। समानता, स्वतन्त्रता और बंधुत्व पर आधारित एक नये समाज का निर्माण करना दलित-चेतना के मूल में है और यही दलित चेतना दलित साहित्य की पृष्ठभूमि में भी दृष्टिगोचर होती है।

## 2. दलित साहित्य क्या है?

दलित शब्द का अर्थ निश्चय कर लेने के बाद यह जानना शेष रह जाता है कि दलित-साहित्य किसे कहते हैं? दलित साहित्य वस्तुतः दलित चेतना के गर्भ से ही पैदा हुआ है। अतः दलित चेतना को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य ही दलित-साहित्य है। लेकिन कुछ विद्वानों को 'दलित-साहित्य' जैसी संज्ञा पर ऐतराज है। उनका मानना है कि साहित्य साहित्य है उसे दलित अथवा किसी और श्रेणी में विभाजित करना उचित नहीं है। क्या साहित्य भी दलित होता है? इस प्रश्न का उत्तर, एक साक्षात्कार के दौरान देते हुए डॉ० पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी कहते हैं, "क्यों नहीं होता? भाषा के आधार पर पालि साहित्य, प्राकृत साहित्य, अपभ्रंश साहित्य, संस्कृत साहित्य, हिन्दी साहित्य, मराठी साहित्य, बंगाली साहित्य, मलयालम साहित्य आदि होता है। धर्म के आधार पर हम आर्य साहित्य या सनातन साहित्य, बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य, मुस्लिम साहित्य, ईसाई साहित्य को स्वीकारते हैं तो प्रवृत्ति के आधार पर आभिजात्य साहित्य, सामंती साहित्य, प्रगतिवादी साहित्य, जनवादी साहित्य, सन्त साहित्य, समकालीन साहित्य आदि की चर्चा करते हैं। जाति के आधार पर ब्राह्मण साहित्य, क्षत्रिय साहित्य, आदिवासी साहित्य कहते नहीं अघाते। फिर 'दलितों का साहित्य' या 'दलितों के लिए लिखे गये साहित्य' को दलित-साहित्य क्यों नहीं

कहा जा सकता। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि हमने संपूर्ण साहित्य को दलित नहीं कहा है, अपितु दलित साहित्य भी होता है— यही कहा है।... यह बात भी समझ से परे है कि दलित साहित्य के अस्तित्व एवं अस्मिता पर ही प्रश्न चिह्न क्यों लगाये जा रहे हैं?"<sup>52</sup>

दरअसल, दलित विषयक रचनाएँ हिन्दी में उपेक्षित सी रही थीं। उनकी मामूली नोटिस भी नहीं ली जाती थीं। उन्हें पत्र-पत्रिकाओं में जगह नहीं मिलती थी। यही स्थिति मराठी में भी एक समय में थी। तब नव-दलित लेखकों ने अपनी पत्रिकाएँ निकालीं। साहित्यिक संगठन स्थापित किए और दलित साहित्य का स्थान सुनिश्चित किया। दलित लेखकों की स्वतन्त्र और अलग साहित्यिक धारा प्रवाहित हुई।

दलित साहित्य की एक अन्य समस्या उसके रूप और अंतर्वस्तु को लेकर है। दलित साहित्य को लेकर जो कुछ प्रमुख परिभाषाएँ मिलती हैं, वे इस प्रकार हैं—

बाबूराव बागुल के शब्दों में, "दलित साहित्य वह लेखन है, जो वर्णव्यवस्था के विरोध में और उसके विपरीत मूल्यों के लिए संघर्षरत मनुष्य से प्रतिबद्ध है। वर्ण-व्यवस्था अर्थात् द्वेष, शत्रुता, मत्सर, तिरस्कार की युद्ध भावना। इसके विपरीत मूल्य अर्थात् प्रेम, बंधुत्व, समता, भ्रातृभावपूर्ण शांति और समृद्धि।"<sup>53</sup>

डॉ० शरण कुमार लिंबाले के मतानुसार, "दलितों का दुख, परेशानी, गुलामी, अधःपतन और उपहास के साथ ही दरिद्रता का कलात्मक शैली से चित्रण करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है। आह का उदात्त स्वरूप अर्थात् दलित साहित्य।"<sup>54</sup>

दलित चिन्तक कंवल भारती की मान्यता है कि, “दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है। जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उनकी उसी अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिए कला नहीं, बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है। इसीलिए कहना न होगा कि वास्तव में दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित-साहित्य की कोटि में आता है।<sup>55</sup>

डॉ० एम०एन० वानखेड़े लिखते हैं, “दलित लेखकों द्वारा दलितों के विषय में लिखा गया साहित्य दलित साहित्य है।<sup>56</sup>

प्रख्यात कथाकार एवं यशस्वी कवि ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार, “दलित साहित्य नकार का साहित्य है जो संघर्ष से उपजा है तथा जिसमें समता, स्वतंत्रता और बन्धुता का भाव है और वर्ण-व्यवस्था से उपजे जातिवाद का विरोध है।”<sup>57</sup>

उपर्युक्त मनीषियों के मतों के आधार पर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि दलित साहित्य से तात्पर्य उस साहित्य से है जिसमें दलितों की वेदना, पीड़ा, उनके संघर्षमय जीवन, उनकी सामाजिक स्थितियों एवं अन्याय के प्रति प्रतिरोध और विद्रोह की भावना प्रबल है।

दलित साहित्य को लेकर जो दूसरी महत्वपूर्ण बहस चल रही है—वह यह है कि, दलित साहित्य के अन्तर्गत केवल दलितों के द्वारा रचित साहित्य को रखा जाना चाहिए अथवा उस साहित्य को भी जो गैर-दलितों द्वारा दलितों के जीवन पर लिखे गये हों। एक ओर दलित साहित्यकार जैसे डॉ० धर्मवीर, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, जयप्रकाश

कर्दम, श्योराज सिंह बेचैन, पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, कंवल भारती आदि मानते हैं कि वास्तविक दलित साहित्य वही है जो जन्मना दलितों द्वारा लिखा गया हो। वे स्वानुभूति बनाम सहानुभूति का सवाल उठाते हैं। डॉ० शरण कुमार लिंबाले अपने एक साक्षात्कार में कहते हैं, "अमेरिकन नीग्रो ने जब अपना लेखन शुरू किया तो वहाँ भी श्वेत लेखकों ने यही सवाल उठाया था कि काले लोगों की समस्या व्यक्त करने के लिए क्या काला होना जरूरी है। 'अंकल टॉम्स केबिन' के श्वेत लेखक की लाखों प्रतियाँ बाजारों में बिकीं! इस पुस्तक ने काले और श्वेत लोगों के समाज को बहुत गहरे तक प्रभावित किया। इस सबके बावजूद वहाँ के नीग्रो ने जोर देकर कहा था कि वह सहानुभूति का लेखन है। ऐसा ही आज हमारे यहाँ हो रहा है। हमारे यहाँ कुछ प्रगतिशील लेखकों ने दलित लेखन किया है जिसमें सहानुभूति एवं दया का भाव है। कलावादियों ने मध्यवर्गीय या दलित समाज का भड़कीला वर्णन ही किया है। प्रगतिशील लेखकों द्वारा दलित समाज का ठीक-ठाक व सकारात्मक चित्रण न करने के कारण दलित लेखक उनके लेखन से अपनी सहमति प्रकट नहीं करता। दलित लेखक भोगा हुआ यथार्थ लिखता है। भोगा हुआ यथार्थ, उनकी भाषा और सामाजिक संदर्भ में उसका व्यक्त होना ही दलित लेखन में महत्वपूर्ण है। उसका इस तरह का लेखन ही उसे गैर-दलित लेखकों से अलग करता है। सीधे-सीधे कहूँ कि गैर-दलित लेखकों के लेखन में दलित चेतना नहीं होती। यहाँ अपनी एक बात स्पष्ट करना चाहूँगा कि चाहे कोई जन्म से ही दलित क्यों न हो यदि उसके लेखन में दलित चेतना नहीं है— वह प्रेमगीत, जासूसी उपन्यास या रोमांटिक कहानियाँ लिख रहा है और उसके

मन—मस्तिष्क में सांस्कृतिक कलावाद का भूत, पिशाच, राक्षस बैठा है जो परम्परावादी है, उसे हम कतई भी दलित साहित्यकार नहीं मानेंगे। हम चाहते हैं कि दलित आन्दोलन, दलित चेतना, दलित आदमी, दलित समाज का सही रूप व्यक्त हो। ऐसा काम केवल दलित लेखक ही कर सकता है।<sup>58</sup>

इस अर्थ में दलित साहित्यकारों का यह दावा कि वे ही आधिकारिक एवं प्रामाणिक अनुभूति की अभिव्यक्ति कर सकते हैं, कुछ सीमा तक औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। मैनेजर पाण्डेय और राजेन्द्र यादव जैसे गैर—दलित लेखक भी कमोबेश यही मानते हैं। प्रो० मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं “भारतीय समाज, संस्कृति और इतिहास जिस रूप में चलता है, उसमें जब दलितों को पढ़ने—लिखने की ही सुविधा नहीं थी, तो वे अपने बारे में साहित्य कहाँ से लिखते? इसलिए दलित साहित्य के रूप में अधिकांशतः वही साहित्य मिलता है, जो दलितों के बारे में गैर—दलितों ने लिखा है। इस साहित्य में बहुत कुछ ऐसा भी है जो काफी हद तक दलित जीवन की वास्तविकताओं और अनुभवों को गहरी सहानुभूति के साथ व्यक्त करता है। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द और निराला की दलित जीवन से जुड़ी रचनाओं को देखा जा सकता है। लेकिन सारी सहानुभूति, करुणा, सहृदयता और परकाया प्रवेश की कला के बावजूद गैर—दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखे गये साहित्य में कला चाहे जितनी हो, परन्तु अनुभव की वह प्रामाणिकता नहीं होती, जो किसी दलित द्वारा अपने समुदाय के बारे में स्वानुभूति की पुनर्चना से उपजे साहित्य में होती है।<sup>59</sup>

इतना ही नहीं प्रो० मैनेजर पाण्डेय ज्योतिबाफुले के इस कथन को



भी उद्धृत करते हुए कहते हैं “गुलामी की यातना को जो सहता है, वही जानता है और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है, जलने का अनुभव, कोई और नहीं।”<sup>60</sup>

श्यामराज सिंह ‘बेचैन’ भी जो प्रामाणिक दलित साहित्य का लेखन, दलित साहित्यकार द्वारा ही संभव मानते हैं। एक जगह वे कहते हैं कि, “दलित साहित्य वर्ण, जाति के भेदभाव की विषमतामूलक समाज व्यवस्था के प्रति आक्रोश और विद्रोह के रूप में आता है। यह साहित्य ब्राह्मण भी लिख सकता है। बुद्ध से प्रेरित अश्वघोष और बुद्ध एवं मार्क्स से प्रेरित राहुल इस कोटि में आ सकते हैं। हिन्दुओं के समाज व संस्थाओं से बहिष्कार की पीड़ा इन्होंने नहीं भोगी थी इसलिए उनका दलित साहित्य वैसा प्रामाणिक नहीं होगा जैसा कि एक भुक्तभोगी का होगा, सत्य यही है। लेकिन ब्राह्मणवाद के समर्थक न होने के कारण ये सामाजिक लोकतंत्र के अनुकूल ठहरते हैं। अतः ऐसे गैर-दलित विचारक दलित साहित्यकारों के मित्र हैं।”<sup>61</sup> यहाँ डॉ० बेचैन प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से गैर दलितों के लेखन को दलित साहित्य में शामिल करने से नहीं हिचकते; बशर्ते वह लेखन ब्राह्मणवाद और वर्णाश्रम व्यवस्था एवं सामंती संस्कारों के विरुद्ध हो। हाँ, इतना अवश्य है कि गैर दलितों की रचनाओं की प्रामाणिकता उनकी नज़र में उतनी नहीं है जितनी दलित लेखकों द्वारा रचित साहित्य की है; जो स्वाभाविक ही है।

यही बात एक दूसरे रूप में ओमप्रकाश वाल्मीकि एक साक्षात्कार में कहते हैं, “कोई जरूरी नहीं है कि एक दलित का लिखा ब्राह्मणवादी मानसिकता, सामंती सोच का रचना संसार दलित साहित्य की परिधि में

आयेगा। दलित चेतना के बगैर दलित साहित्य का कोई आधार नहीं है। और यह चेतना डॉ० अम्बेडकर जीवन—दर्शन—विचार से उत्पन्न है जिसने हजारों साल की मूक वेदना को वाणी दी है। एक मनुष्य के रूप में अपनी पहचान स्थापित करने की जो छटपटाहट थी वह दलित—साहित्य के द्वारा उभरी है। दलित चेतना का सीधा संबंध दृष्टि से है, जो दलितों की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक भूमिका की छवि के तिलिस्म को तोड़ती है— वह दलित चेतना। ‘दलित’ यानी मानवीय अधिकारों से वंचित सामाजिक तौर पर जिसे उत्पीड़ित किया गया, दबाया, कुचला गया— उसकी चेतना यानी दलित चेतना। यही दलित चेतना दलित—साहित्य की अंतः ऊर्जा में नदी के तेज बहाव की तरह समाविष्ट है, जो उसे पारम्परिक साहित्य से अलग करती है। साथ ही दलित—साहित्य, दलित आन्दोलन में एक अहम् भूमिका निभाता है, जो दलित मुक्ति का साहित्य है।”<sup>62</sup>

अतः दलित साहित्यकार अथवा दलित लेखक आज दलित साहित्य को सिर्फ दलितों के द्वारा लिखे साहित्य तक सीमित रखना चाहते हैं तो उसके ठोस कारण भी हैं। एक तो यह कि हिन्दी में दलित साहित्य की आवाज एक आन्दोलन के रूप में पहली बार दलित लेखकों ने ही उठाई। आज भी इसके लिए चल रहे संघर्ष में उन्हीं का सबसे ज्यादा हाथ है और यह होना भी चाहिए। दरअसल, यह आन्दोलन साहित्यिक होने के साथ—साथ अपनी अस्मिता की प्रतिष्ठा का आन्दोलन भी है जो अब तक हाशिये पर पड़े समुदाय के लिए स्वाभाविक है।

दूसरा और ठोस कारण, दलित लेखकों को यह भी भय है कि कहीं दलित साहित्य को सवर्ण लेखक अपने में आत्मसात् न करे लें। इसकी

क्रांतिकारिता, इस आन्दोलन की तेजस्विता का हरण न कर लें। जैसाकि मध्यकाल में भक्ति-आन्दोलन के साथ हुआ। कबीर आदि अवर्ण भक्तों से शुरू हुए भक्ति आन्दोलन में बाद में सूर, तुलसी आदि सवर्ण भक्त शामिल हुए और इन सवर्ण भक्तों ने भक्ति आन्दोलन की असली ताकत जाति प्रथा के खिलाफ उसकी क्रांतिकारिता का हरण कर लिया। अतः दलित लेखकों की चिन्ता लाजिमी है। इस संदर्भ में मैनेजर पाण्डेय का मत समीचीन लगता है— “मेरी चिन्ता यह है कि जो प्रक्रियाएँ गौतम बुद्ध और कबीर के साथ अपनायी गई हैं वही बाबा साहब अम्बेडकर के साथ भी अपनायी जा सकती हैं। जो लोग अम्बेडकर के विचारों का महत्व जानते हैं उन्हें इस बात से सावधान रहना होगा कि अम्बेडकर के विचारों को भी आत्मसातीकरण की प्रक्रिया का शिकार न बनाया जाए।”<sup>63</sup>

कहीं न कहीं यह खतरा दलित लेखकों के मन में भी मंडरा रहा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि इसी आशंका को व्यक्त करते हुए कहते हैं, “हिन्दी के महान् रचनाकार भी अपने जातीय संस्कारों से बंधे हुए हैं। जिन्हें सार्वभौम और शाश्वत मूल्य कहा जा रहा है, वे ब्राह्मणवादी एवं सामंती सोच के मूल्य हैं। पंत हो या फिर निराला, प्रसाद के चिन्तन की धारा क्या है? वर्ण व्यवस्था के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या है? ब्राह्मणवाद पर वे क्या सोचते हैं? इन तमाम तथ्यों पर गहन विश्लेषण एवं गंभीर अध्ययन, मनन और उन्हें व्याख्यायित करने की आवश्यकता है जिसे समीक्षक अनदेखा ही करते रहे हैं।”<sup>64</sup>

लेकिन यह भी सच है कि आज की परिस्थितियों और मध्य काल की परिस्थितियों में काफी बदलाव आया है। जो शक्तियाँ मध्य काल में जिस

रूप में कार्य कर रही थीं अब ठीक वैसा संभव नहीं है। संविधान, आरक्षण और लोकतंत्र की विचारधारा ने एक नई चेतना पैदा की है जिसने दलित समुदाय को जाग्रत एवं सचेत किया है। आज राजनीतिक—समीकरण भी बदल चुके हैं। दलितों में जबर्दस्त राजनैतिक उभार आया है। दलितों की सक्रिय राजनीति और नौकरशाही में बढ़ती भागीदारी के चलते आज उन्हें दबाना अथवा कुचलना उस रूप में संभव नहीं है जिस रूप में प्राचीन काल अथवा मध्यकाल में था। यद्यपि आज भी दलितों पर अत्याचार और शोषण की घटनाएँ आये दिन घट रही हैं लेकिन उनका प्रतिरोध और प्रतिकार भी किया जा रहा है। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आज दलित लेखन एवं दलित चेतना का समाहार उस रूप में संभव नहीं है जैसा पूर्ववर्ती कालों में हुआ।

अतः निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि दलित समुदाय में पैदा हुए व्यक्ति का लिखा सब कुछ दलित साहित्य नहीं है। दलित—साहित्य का संबंध चेतना से है— वह चेतना जो नकार और विद्रोह से बनी हो तथा जिसे अम्बेडकरवाद का आधार प्राप्त हो।

यह सही है कि स्वानुभूत यथार्थ अथवा आपबीती का सचमुच कोई विकल्प नहीं हो सकता। किन्तु देखे—सुने अथवा संवेदना के स्तर पर आत्मसात् किये गये यथार्थ की भी अपनी एक विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता होती है।

### 3. मार्क्सवाद, बौद्धमत और दलित-विमर्श

दलित-विमर्श में मार्क्सवाद और बौद्ध धम्म का सवाल शुरू से ही विवाद का विषय रहा है। बाबा साहब अंबेडकर ने मार्क्स और बुद्ध को तुलनात्मक दृष्टि से परखते हुए विकल्प के रूप में बुद्ध का विचार किया। बाबा साहब का मानना है कि मार्क्सवाद हिंसा और तानाशाही का समर्थन करता है। अतः वे मार्क्स की अपेक्षा बुद्ध का विचार आदर्श मानते हैं। कार्ल मार्क्स जहाँ वर्ग-संघर्ष के द्वारा वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं वहीं डॉ० अंबेडकर वर्ण-संघर्ष द्वारा जातिभेद का आधार नष्ट करते हुए वर्णविहीन समाज की। अतः दोनों विचारधाराओं का अंतिम लक्ष्य एक ही है— शोषण मुक्त समाज की स्थापना। लेकिन दलित साहित्य अम्बेडकर से प्रेरणा ग्रहण करता है अतः इसके मूल में अम्बेडकरवादी विचारधारा है। हिन्दी के दलित साहित्यकारों ने मार्क्स के दर्शन पर कोई सवाल नहीं उठाए लेकिन उसकी अपूर्णता की बात की। मार्क्सवाद में वर्ग-संघर्ष पर जोर दिया जाता है न कि वर्ण-संघर्ष पर। जैसा कि डॉ० शरण कुमार लिंबाले कहते हैं, “भारत में मार्क्सवादी लोग मजदूरों के प्रश्नों पर लड़ते रहे लेकिन जाति व्यवस्था और छूआछूत की ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। इसी कारण मार्क्सवादी दलितों के विश्वास-भाजक नहीं बन सके।”<sup>65</sup> अतः दलित लेखकों और समीक्षकों ने मार्क्सवाद के प्रति विरोध प्रकट किया है। जहाँ क्रान्ति की मार्क्सवादी कल्पना केवल आर्थिक विषमता पर आधारित है वहीं अम्बेडकरी कल्पना सामाजिक विषमता के मूल में होने वाली अस्पृश्यता पर आधारित है। चूँकि मार्क्सवाद सामाजिक विषमता का विचार नहीं करता इसलिए दलित लेखकों का मत है कि

माक्सवादी विचार पूरा नहीं, अधूरा है।

लेकिन यह भी तो सच है कि सामाजिक विषमता के साथ ही आर्थिक विषमता भी दलितों की शोषक है। इस संदर्भ में डॉ० शरण कुमार लिंबाले बीच का रास्ता निकालते हुए अपनी राय प्रकट करते हैं कि, “दलितों को सामाजिक और आर्थिक इन दोनों स्तरों पर संघर्ष करना होगा। दलित साहित्य दलितों के संघर्ष का साहित्य है। अब दलित साहित्य आन्दोलन को अम्बेडकरवाद के साथ—साथ माक्सवाद को भी स्वीकार करना होगा तथा यह संघर्ष अर्थपूर्ण होगा, ऐसी समझ स्थापित करनी पड़ेगी।”<sup>67</sup>

अतः विचारों की दिशा और व्यवहार का रास्ता अलग होते हुए भी माक्सवाद और अम्बेडकरवाद का अंतिम लक्ष्य एक ही है— शोषणमुक्त समाज का निर्माण। इस दृष्टि से माक्सवादी और दलित साहित्य प्रगतिशील साहित्य की दो धाराएँ हैं। अतः इन दोनों में परस्पर समन्वय स्थापित कर वर्गविहीन और वर्णविहीन समाज की स्थापना में दलितों और सवर्णों को योगदान देना चाहिए। तभी एक स्वस्थ और शोषण मुक्त समाज की स्थापना हो सकेगी। और यही बाबा साहब अम्बेडकर और कार्ल माक्स का अंतिम ध्येय है।

निष्कर्षतः दलित लेखन व आन्दोलन को अखिल भारतीय स्तर पर चले आन्दोलनों की अगली कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। बौद्धमत, भक्ति आन्दोलन और प्रगतिवादी आन्दोलन समाज परिवर्तन की जिस चिन्ता को लेकर चले उनकी निरन्तरता दलित आन्दोलन में भी दिखाई देती है। दलित विमर्श के पास एक भावी दृष्टि है। उसकी कामना एक

ऐसा समाज बनाने की है जिसमें वास्तविक जनतंत्र हो, जहाँ किसी व्यक्ति के साथ अन्याय करना संभव न हों, व्यक्ति अपनी पहचान खुद बनाए, उन पर कोई पहचान पैदा होने के साथ थोपी न जाए। हिंसा, घृणा और अपमान की जगह करुणा, विश्वास, भाईचारा और स्वतन्त्रता हो। जीवन मूल्य सार्वभौम मानवता के आधार पर पुनर्सृजित हों। अतः दलित साहित्य का प्रमुख उद्देश्य सवर्ण मानसिकता के षड्यंत्रों को बेनकाब करना है। वेदना, नकार और विद्रोह इस साहित्य की मूल पहचान है।

आज दलित-लेखन सभी महत्वपूर्ण विधाओं में हो रहा है। उपन्यास विधा को अपेक्षाकृत कम महत्व मिला है। हालांकि कुछेक महत्वपूर्ण उपन्यास भी लिखे हैं यथा—छप्पर (जयप्रकाश कर्दम), उस शहर तक (तेजिन्दर), किस्सा गुलाम (रमेशचन्द्र शाह), परिशिष्ट (गिरिराज किशोर), 'नरकुंड में बास' (जगदीशचन्द्र), 'मोरी की ईंट' (मदन दीक्षित) इत्यादि उपन्यास दलित और गैर दलित लेखकों द्वारा लिखे गये हैं।

1980 के बाद दलित जीवन को केन्द्र में रखकर लिखे गये कतिपय प्रमुख उपन्यास इस प्रकार हैं—

### **'परिशिष्ट' (1984)**

प्रख्यात कथाकार गिरिराज किशोर ने 'परिशिष्ट' उपन्यास में सामाजिक उत्पीड़न और क्रूरता के शिकार तथा प्रशासनिक व शैक्षणिक व्यवस्था के अमानवीय ढाँचे में पिसते, छटपटाते दलित वर्ग का चित्रण किया है। संविधान द्वारा शिक्षा में आरक्षण की सुविधा उपलब्ध होने से दलित छात्रों का तकनीकी संस्थाओं में प्रवेश तो संभव हो गया है पर उच्च वर्ग की

परम्परागत मानसिकता, जातिगत दम्भ और दलित विरोधी प्रच्छन्न वातावरण के कारण उन्हें ऐसी त्रासद स्थितियों से गुजरना पड़ता है, जो नितांत अमानवीय होती हैं। गिरिराज किशोर ने इन स्थितियों का अनुभवजन्य, प्रामाणिकता और संवेदनशीलता के साथ अंकन किया है। जैसा कि प्रो० गोपालराय लिखते हैं, “व्यक्तिगत रूप से एक तकनीकी संस्थान से जुड़े होने तथा रचनात्मक संवेदनशीलता के कारण गिरिराज किशोर इस विषय को उल्लेखनीय गहराई और धार दे पाने में समर्थ हुए हैं।”<sup>67</sup>

### *‘किस्सा गुलाम’ (1986)*

रमेश चन्द्र शाह ने ‘किस्सा गुलाम’ उपन्यास में दलित पात्र कुन्दन की कुंठा और विद्रोह-भावना का अंकन किया है। कुन्दन दलित समाज में पैदा हो रही राजनीतिक चेतना और सामाजिक विद्रोह का प्रतिनिधित्व करता है। वह उस सामाजिक व्यवस्था को नकारता है जिसमें एक शूद्र (दलित) किसी ब्राह्मण लड़की से विवाह नहीं कर सकता, वह उस धर्म को, उस शास्त्र को नकारता है जो दलितों को अकारण अपमानित करता है। इस विद्रोही मानसिकता के कारण वह विदेश में जा बसता है और अपने स्वदेश लौटता भी है तो एक विदेशी नागरिक के रूप में ताकि उसे समाज में सम्मान मिल सके। पर कुन्दन का विद्रोह प्रतिक्रियाजन्य ही लगता है जिसका खोखलापन एलिस से उसके संबंध-विच्छेद द्वारा प्रकट हो जाता है।



**‘नरककुण्ड में बास’ (1994)**

प्रख्यात कथाकार जगदीशचन्द्र ने ‘नरककुण्ड में बास’ उपन्यास में स्वाधीनता—पूर्व पंजाब की ग्रामीण पृष्ठभूमि में गहरी संवेदना के साथ दलित जीवन की कथा प्रस्तुत की है। इसमें दलितों की नारकीय जीवन स्थितियों और उच्चवर्गीय समाज द्वारा उनके शोषण और दमन का यथार्थ चित्रण किया गया है।

उपन्यास का मुख्य पात्र काली गाँव छोड़कर शहर की ओर पलायन करता है जहाँ वह रेढ़ा खींचने के काम में लग जाता है और फिर पूरी तरह पशुवत् जीवन व्यतीत करना उसकी क्रूर नियति बन जाती है। यदि कोई अपने गाँव भी जाता है तो अपनी जगह किसी को एवजी लगा जाता है और काम में पर लौट आने पर उस एवजी को हटना पड़ता है। काली भी ऐसे ही एवजी लगा था और अब उनके अपने काम पर तैनात हो जाने पर काली को वहाँ से हटना पड़ा था।

रेढ़ा खींचने का काम छूट जाने पर काली अपने वहीं के मित्रों की सहायता से जालंधर की बूटा मंडी में कच्चा चमड़ा बनाने के काम में लग जाता है। उसकी बेकारी की जिन्दगी की विवशता उसे पहले नरक से भी बड़े नरक में धकेल देती है। रेढ़ा खींचने वाले जीवन और इस कारखाने में काम करते हुए काली को गरीबी और अमीरी का यह अंतर बार—बार खलता है। कारखाने का फोरमैन जब काली से उसका पता पूछता है तो माँझे का यह कथन गरीबी की इस पीड़ा को वाणी देता है, “फोरमैन जी, गरीब आदमी का क्या अता—पता हो सकता है। अता—पता तो

जमीन—जायदाद से बनता है। पंछियों का अता—पता कौन बताएगा। जहाँ दाना—दुनका, रोटी—टुक्कड़, काम—काज मिल गया वहीं अता—पता बन जाता है।<sup>68</sup>

गरीब आदमी की यह बड़ी भारी पीड़ा रही है कि आजादी के बाद भी उसकी दशा में अपेक्षित सुधार नहीं हो पाया है। काली का एक मजदूर साथी मजदूरों के इस दर्द को इन शब्दों में व्यक्त करता है, “कहते हैं कि देश आजाद हो गया है। लेकिन लगता है कि आजादी सेठों, अफसरों और बड़े—बड़े चौधरियों की कोठियों और हवेलियों में ही फँसकर रह गई है। उसे छोटी—छोटी गलियों और कच्चे मकानों का रास्ता नहीं मिला।....साले! कितना बड़ा धोखा है।”<sup>69</sup>

काली का चाचा नंदसिंह भी अमीर—गरीब के इस फासले को सिद्धत से महसूस करता है। वह मानता है कि गरीब आदमी को बुढ़ापा बहुत तंग करता है क्योंकि वह बहुत लंबा होता है, छोटी उम्र से ही शुरू हो जाता है। गाँव के परिवेश को अच्छी तरह से देखभाल कर ही नंदसिंह यह निष्कर्ष व्यक्त करता है, “गाँव में कुछ भी हो जाए, कसूर गरीब आदमी का ही होता है। सजा भी उसे ही दी जाती है। तूने कसूर किया। तुम्हें गाँव छोड़ना पड़ा क्योंकि तू गरीब था। अपना कसूर संभाल नहीं सकता था। ....क्योंकि मैं भी गरीब था। कसूर बड़े आदमी ने किया था। अपनी जिन्दगी और इज्जत बचाने के लिए मुझे गाँव से भागना पड़ा।”<sup>70</sup>

अपना गाँव छोड़ते समय इन लोगों के मन में अनेक रंगीन कल्पनाएँ रही होंगी, लेकिन शहर एक ऐसी जगह का नाम है जो तमाम बेकस लोगों के सपनों को अपनी झोली में समेटकर, जिन्दगी की लड़ाई में उन्हें

निहत्था छोड़ देती है। और इस प्रकार अपने घर, अपने परिवार से दूर होकर वे जिस यातना से गुजरते हैं और अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए उन्हें जो भयानक संघर्ष करना पड़ता है, उसी का जीवन्त दस्तावेज जगदीश चन्द ने प्रस्तुत उपन्यास में प्रस्तुत किया है। यह आजादी के बाद घटित आर्थिक-सामाजिक बदलावों का औपन्यासिक दस्तावेज है।

### **‘छप्पर’ (1994ई०)**

प्रख्यात दलित रचनाकार जयप्रकाश कर्दम द्वारा रचित ‘छप्पर’ उपन्यास संभवतः किसी दलित लेखक द्वारा दलित जीवन पर लिखा गया पहला उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास में श्री कर्दम जी ने अपने जीवन में भोगे हुए अनुभव के आधार पर सवर्ण समाज द्वारा दलित समाज के उत्पीड़न तथा उसके विरुद्ध दलितों के उठ खड़े होने का चित्रण किया है। अतः इसमें दलित जीवन की कुरूपताएँ और कठिनाइयाँ केन्द्र में हैं।

जयप्रकाश कर्दम अपने उपन्यास ‘छप्पर’ में चन्दन के माध्यम से गंगा के तट पर बसे पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एक छोटे से गाँव मातापुर की एक ग्रामीण पृष्ठभूमि से पढ़ने के लिए शहर आये हुए एक ऐसे दलित युवक की विडम्बना को निरूपित करना चाहत हैं जो पढ़-लिखकर ऊँची तालीम पाना चाहता है और बड़े ओहदे तक पहुँचना चाहता है।

एक दलित छात्र का शहर में पढ़ने जाना जैसे एक भयंकर अनर्थ हो गया हो, सारे गाँव में सन्नाटा छा जाता है। गाँव का काणा पण्डित यानी श्रीराम शर्मा तो चंदन के पिता से इसके लिए प्रायश्चित्त करने हेतु भी कहता है, “प्रायश्चित्त करना पड़ेगा तुम्हें सुकखा-प्रायश्चित्त। जल्दी से

अपने बेटे को शहर से वापस बुला और प्रायश्चित्त करने का उपाय कर।<sup>71</sup> 'पर बेटा नहीं माना जिद कर बैठा आगे पढ़ने को और शहर चला गया है' सुक्खा की यह बात सुनकर काणा पण्डित ठाकुर हरनाम सिंह को संबोधित कर कहता है— "सुन लिया आपने भी ठाकुर साहब। आज तक किसी का बेटा शहर पढ़ने नहीं गया है। कई पीढ़ियों से हमारे—आपके पुरखे इस गाँव में रहते आये हैं। कभी किसी ब्राह्मण—ठाकुर या सेठ—साहूकार का बेटा इतना ऊँचा नहीं पढ़ा, लेकिन यह दो कौड़ी का आदमी, यह चमार की औलाद हम सबके मुँह पर कालिख पोतने चला है— बेटे को ऊँची तामील के लिए शहर भेजकर। यह अपमान है ठाकुर साहब, हम सबके मुँह पर एक चांटा है।"<sup>72</sup>

ठाकुर साहब सुक्खा और उसकी पत्नी रमिया को गाँव से बेदखल कर देते हैं क्योंकि उनकी मान्यता है कि, दलित समाज के, "यदि ये सब लोग पढ़—लिख कर ऊँचे ओहदों तक पहुँचने लगेंगे तो हमारी श्रेष्ठता कहाँ रह जायेगी। यदि ये सब स्वावलम्बन और स्वाभिमान का जीवन जीने लगेंगे तो फिर हमारा वर्चस्व किस पर रहेगा।"<sup>73</sup> ठाकुर साहब की बेटी रजनी अपने पिता का विरोध करती है तो ठाकुर हरनाम सिंह अपनी बेटी को समझाते हुए कहते हैं, "इतिहास और परम्परा से समाज में हमारा वर्चस्व रहा है। हमारा वर्चस्व कायम रहे हमारी अस्मिता इसी में है। अस्मिता के बिना मनुष्य जिन्दा नहीं रह सकता।"<sup>74</sup>

इस प्रकार चन्दन और उसका पिता सुक्खा ब्राह्मणवाद की साजिशों का शिकार होते हैं लेकिन वे उनके समक्ष कभी झुके नहीं, आहत जरूर हुए हैं। चन्दन का पिता बेदखली करने के पंचायत के फैसले से आहत तो

होता है मगर टूटता नहीं है क्योंकि वह जानता है कि सवर्ण समाज के वे लोग उसके बेटे का जीवन बर्बाद करने पर तुले हुए हैं। वह इसे कदापि स्वीकार नहीं कर सकता तभी तो वह दृढ़-निश्चय की मुद्रा में अपनी पत्नी रमिया से कहता है— “मैं मर जाऊँगा, भूखा प्राण तज दूँगा। सब कुछ बर्दाश्त कर लूँगा मैं पर चन्दन को इस नर्क में नहीं पड़ने दूँगा कभी, जिस नर्क में मुझे रहना पड़ा है।”<sup>75</sup> चन्दन समाज में जागरूकता लाने का भरपूर प्रयास करता है जिसमें हरिया, ठाकुर साहब की बेटी रजनी का भरपूर सहयोग मिलता है।

चन्दन तथाकथित धर्मग्रंथों को ही दलितों के शोषण और अत्याचार के मूल में देखता है। चन्दन अपने साथियों को समझाते हुए कहता है, “यदि समाज हमें समानता का दर्जा नहीं देता, वह हमें हमारे मनुष्यत्व के साथ स्वीकार नहीं करता, यह समाज का दोष है। समाज धर्म द्वारा प्रेरित और संचालित है, हमारी सामाजिक स्थिति धार्मिक आदेशों का ही परिणाम है। धर्म ग्रन्थ ही हमारे शोषण और अत्याचार की जड़ें हैं। इन जड़ों को उखाड़-फेंकने की जरूरत है। और उसके लिए जरूरी है कि लोग अधिक से अधिक पढ़े ताकि इन धर्म-ग्रंथों में निहित अन्याय और असमानता के दर्शन को समझ सकें तथा अन्याय, शोषण और असमानता के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए स्वयं को तैयार कर सकें। हमारे शोषण का आधार क्या है, हमारे उत्थान और विकास में कौन से तत्व बाधक हैं, यह जाने बिना संघर्ष नहीं किया जा सकता। यह ज्ञान शिक्षा से ही हो सकता है इसलिए शिक्षा का होना बहुत जरूरी है। जीवन की लड़ाइयों को लड़ने के लिए शिक्षा सबसे ज्यादा मारक और शक्तिशाली शस्त्र है। शिक्षा ही उत्थान और

विकास का आधार है, इसलिए आप अपने बच्चों को अवश्य पढ़ाइए। इस नर्क की जिन्दगी से ऊपर उठना है, तो शिक्षित होना पड़ेगा अन्यथा हमें यूँ ही मूर्ख बनाकर हमारा शोषण किया जाता रहेगा।”<sup>76</sup> यही उस उपन्यास का मूल प्रतिपाद्य भी है।

संक्षेप में, ‘छप्पर’ उपन्यास में पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एक छोटे से गाँव मातापुर की पृष्ठभूमि में एक दलित युवक चंदन के स्वावलंबन और सामाजिक बदलाव के लिए संघर्ष की कहानी वर्णित है।

### ‘मोटी की ईंट’ (1996ई०)

कथाकार मदन दीक्षित ने ‘मोरी की ईंट’ उपन्यास में मेहतर समाज की निर्धनता, शोषण और अपमानभरी जिन्दगी का अंकन किया है। इस उपन्यास में विशेष रूप से इस तथ्य का उद्घाटन किया गया है कि ६ मार्गान्तरण के बाद भी सामाजिक दृष्टि से मेहतर को वह सम्मान नहीं मिलता जिसकी उसे अपेक्षा होती है। क्योंकि अस्पृश्यता वहाँ भी उसका पीछा नहीं छोड़ती जोक की तरह उससे चिपकी ही रहती है।

### ‘उस शहर तक’ (1997ई०)

कथाकार तेजिन्दर ने ‘उस शहर तक’ उपन्यास में एक दलित जाति के शिक्षित युवक की त्रासदी का चित्रण किया है। दलित युवक को दिल्ली में अपना नाम बदल कर रहना पड़ता है क्योंकि उसकी जाति का पता चल जाने पर उसे किराया का मकान नहीं मिल सकता। ऐसी स्थिति में आजादी बेमानी नजर आती है— लोकतंत्र खोखला नजर आता है। क्योंकि

दलित जाति के ऐसे युवकों के लिए स्वाधीनता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। वे जैसे पहले थे वैसे ही आज भी हैं। उनकी सामाजिक हैसियत में कोई गुणात्मक बदलाव दिखाई नहीं देता। शायद यही स्थापित करना उपन्यासकार का उद्देश्य है।

संक्षेप में, दलित लेखकों ने उपन्यास विधा पर अपेक्षाकृत कम लिखा है उनका सबसे अधिक जोर आत्मकथा लेखन पर है।

### उत्तर-आधुनिकता

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाज, संस्कृति, राजनीति, कला, साहित्य, दर्शन, इतिहास, अर्थव्यवस्था और पूरे मानव-चिन्तन में जो परिवर्तन-चक्र तीव्रगति से घूमा है— उस स्थिति-परिस्थिति की ओर ध्यान आकृष्ट करने वाला नाम है— उत्तर आधुनिकतावाद। दरअसल, उत्तर-आधुनिकता वर्तमान युग की संस्कृति और उसके चिन्तन को रेखांकित करने वाली एक व्यापक अवधारणा है, जिसकी जन्मभूमि फ्रांस है लेकिन इसका चरमोत्कर्ष हुआ अमेरिका में।

मूलतः यह बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की नयी पूँजीवादी, साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी, संरचनावादी और नयी सांस्कृतिक-साम्राज्यवादी विचारधारा है, जिसे किसी निश्चित परिभाषा में नहीं बाँधा जा सकता। आधुनिकतावाद की भाँति इसके अर्थ भी निरन्तर बदल रहे हैं। इसमें भी अन्तर्विरोधों की कमी नहीं है। लेकिन फिर भी इस तथ्य को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता कि हमारा युग आधुनिकता के दौर से निकल कर उत्तर-आधुनिकतावाद के युग में प्रवेश कर चुका है। सुधीश पचौरी के

शब्दों में, “उत्तर—आधुनिकता वस्तुतः ज्ञान की ऐसी अवस्था है जो उच्च विकसित समाजों में पिछले दशकों में बनी है।”<sup>77</sup> फ्रांसुआ ल्योतार ज्ञान की इस अवस्था को ‘पोस्ट—मॉडर्न’ कहते हैं, जिसका हिन्दी अनुवाद है— उत्तर आधुनिक। उत्तर आधुनिक समाज की सच्चाई तो यही है कि आज पूरी दुनिया वैचारिक—शून्य में जी रही है। सूचना व तकनीकी युग होने के कारण गंभीर मुद्दे भी सामान्य प्रतीत होते हैं। पूँजीवाद समाज को अपनी गिरफ्त में दिनों—दिन जकड़ता जा रहा है। विकसित देश भारत जैसे विकासशील देशों को अपना पुनः उपनिवेश बना रहे हैं। उनकी बड़ी—बड़ी कम्पनियाँ अर्थ निवेश कर रही हैं। सच यही है कि भारत एक बाजार बनता जा रहा है। इस बाजारीकरण की प्रक्रिया में भौतिकता की अंधी दौड़ में शामिल भारतीय स्त्री—पुरुष और युवा वर्ग बिकने को तैयार हैं। रातों—रात सब कुछ बदल देने या पा लेने की उनमें छटपटाहट है। इस संदर्भ में सुधीश पचौरी का मत है कि, “उत्तर —आधुनिकता के केन्द्र में पूँजी की भूमण्डलीयता है। इस संदर्भ में गैट समझौता दृष्टव्य है। उत्तर—आधुनिकता उसका एक विशेषण भर है। उसके वृद्ध और विस्तृत होते जाने का।”<sup>78</sup>

उत्तर आधुनिकता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ :— उत्तर आधुनिकता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं—

### 1. विकेन्द्रीयता

उत्तर—आधुनिकतावाद हर तरह के ‘केन्द्रवाद’ का निषेध करता है। उसकी पूरी यात्रा केन्द्र से परिधि की ओर है। समाज का वह वर्ग जो अभी



तक हाशिए पर रहे हैं, जिनकी अस्मिता और आवाज को निरन्तर दबाया गया है या जिन्हें आभिजात्यवादी शक्तियों ने हाशिए पर दखेल दिया है—वे दमित नारी और दलित समुदाय उत्तर—आधुनिक चिन्तन में महत्वपूर्ण हो गये हैं।

दलित जनता अपने प्रभुत्व और अस्मिता के लिए संघर्ष कर रही है। इस संघर्ष का परिणाम यह हुआ है कि पुराने एकीकृत केन्द्र चरमाकर टूट रहे हैं और नये—नये समीकरण अस्तित्व में आ रहे हैं और यह सच है कि ये समीकरण निरन्तर बदल रहे हैं।

## 2. ऐतिहासिकता की वर्जना

उत्तर—आधुनिकता इतिहासबोध की अवधारणा को अस्वीकार करती है। इसमें वर्तमान का वर्चस्व है। उत्तर—आधुनिकतावादियों ने कहा कि इतिहास का अंत हो गया है और मार्क्सवाद की हवा निकल चुकी है। अब तकनीकी क्रांति का युग आ गया है जिसमें पुराने विचारों—प्रतिमानों के लिए कोई जगह नहीं है। अतः यह न तो अतीत के प्रति कोई मोह रखती है और न भविष्य के प्रति कोई चिन्ता। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जो हो रहा है, उसके प्रति इसका विशेष आग्रह है। जैसा कि देवेंद्र इस्सर कहते हैं, “उत्तर—आधुनिकतावाद सामाजिक एवं ऐतिहासिक चिन्तन की संपूर्णता के समस्त विचारों को रद्द करता है। तर्क की उपयोगितावादी प्रविधि को रद्द करता है। भविष्य की यूरोपीयन परिकल्पना को रद्द करता है।”<sup>79</sup>

प्रख्यात आलोचक बच्चन सिंह के अनुसार, “उत्तर—आधुनिकतावाद में कम्प्यूटर युग, दूरसंचार माध्यम, टेक्नोलॉजी के कारण जो नई स्थितियाँ

पैदा हुई हैं उन्हीं से उत्तर आधुनिकतावादी चेतना का विकास हुआ है। इसमें तर्क, यथार्थ, इतिहास, रूप सबका नकार है। यह एक अराजकतावादी निहलिस्ट प्रवृत्ति है।<sup>80</sup>

### 3. यथार्थवाद पर प्रहार

उत्तर— आधुनिकतावाद ने यथार्थ और यथार्थवाद पर कड़े प्रहार किए हैं। इसी चिन्तन ने मानववाद का क्रूर यथार्थ उजागर किया। इस वर्ग के चिन्तकों ने कहा कि कोई यथार्थ संसार नहीं है और जो यथार्थ दिखाई देता है वह भ्रम है। फिल्म, टेलीविजन, कम्प्यूटर आदि ने उस उपभोक्ता मानव को जन्म दिया है जो अपनी स्मृति का लोप कर रहा है। दूरदर्शन औरत की छवि को ऐसे परोसता है कि हम उसके यथार्थ से दूर रहें।

### 4. मुक्त अर्थव्यवस्था और बहुराष्ट्रीय पूँजीवाद

उत्तर—आधुनिकतावाद का एक बड़ा संसार मुक्त बाजारवाद, उपभोक्तावादी संस्कृति, बहुराष्ट्रीय निगम, भूमण्डलीकरण, विश्व-ग्राम की चिन्तन भूमि में गड़ड़मड़ड़ है। विद्युत-चालित यंत्रों की जगह कम्प्यूटर ने ले ली। फलस्वरूप मनुष्य कम्प्यूटर युग और मीडिया साम्राज्यवाद की पकड़ में आ गया। बहुराष्ट्रीय निगमों के उत्पाद के लिए उपभोक्ता बनने हेतु सूचना संचार का उपयोग अपरिहार्य हो गया। उत्तर—पूँजीवाद ने उत्पादन की सारी शक्तियों को अपने नियंत्रण में ले लिया और माल बेचने के लिए एमबीए, एमसीए कल्चर का मंत्र सिद्ध कर लिया। इस प्रकार सभी कुछ को 'मंडी' में बदलकर उत्तर—आधुनिकतावाद ने मानव संस्कृति के

सभी रूपों पर नियंत्रण कर लिया।

### 5. प्रभुत्व का संघर्ष

उत्तर आधुनिकतावाद ने क्षेत्रीयता और स्थानीयता पर बल दिया है। परिणामस्वरूप विभिन्न स्थानीय समूहों में शक्ति, सत्ता और प्रभुत्व का प्रबल संघर्ष शुरू हो गया है।

शक्ति-सत्ता प्राप्त करने के संघर्ष का समाज, धर्म एवं राजनीति में नतीजा यह हुआ है कि पुराने एकीकृत केन्द्र टूट रहे हैं और नये समीकरण उभर रहे हैं और ये समीकरण निरन्तर बदल रहे हैं।

### 6. लोकप्रिय संस्कृति

उत्तर-आधुनिकतावाद ने संस्कृति शब्द का इतना विस्तार कर दिया है कि इसमें अर्थ अनंत की पैठ हो गई है। फिर उत्तर-आधुनिकतावाद ने आभिजात्यवाद के छद्म को अस्वीकार करते हुए लोकप्रिय संस्कृति का खुलकर समर्थन किया है। वह लोकप्रिय कला-संस्कृति को आभिजात्य कला-दर्शन से कम महत्व नहीं देता। सच्चाई तो यह है कि यहाँ उच्च कला और निम्न कला में कोई भेद नहीं किया गया है। डॉ० नवलकिशोर उत्तर-आधुनिकता को एक भीड़ संस्कृति मानते हुए लिखते हैं, “उत्तर-आधुनिकता एक भीड़ संस्कृति हैं यहाँ समाज में रहने वाला व्यक्ति अपने प्रतिनिधि का चुनाव उसके व्यक्तिगत गुणों के आधार पर नहीं बल्कि बाहरी चमक-दमक द्वारा निर्मित उसके रूप को देखकर ही उसे अपना प्रतिनिधि बनाता है। उत्तर-आधुनिकता में गतानुगतिक रूप में उपभोगवाद

संस्कृति और समाज को मान्यता दी जाती है। इस भीड़ संस्कृति के विकास में संचार माध्यम और मीडिया का भरपूर सहयोग है। आरोप है कि इस संस्कृति में साहित्य और कला का महत्व मनोरंजन की दृष्टि से स्वीकार्य है।<sup>81</sup>

उत्तर-आधुनिकता उन तमाम समग्रतावाद, साकल्यवादी व्यवस्थाओं की कमियों और पक्की सांस्थानिक सीमाओं की कमियों, कमजोरियों के बारे में भी सचेत करती है। इसमें न सिद्धान्त स्वयान्त है, न अमित। जैसा कि सुधीश पचौरी लिखते हैं, “उत्तर-आधुनिकता विमर्श मानकर चलता है कि विमर्श के रूप में वह ‘सत्य’ की अंतिम ‘नींव’ नहीं है यह आत्म-संदेह विमर्श को उत्तर-आधुनिक बनाता है। इसीलिए हमारा विमर्श रुकता नहीं है, चलता जाता है। आधुनिकतावादी विमर्श-‘निष्कर्ष वादी’ होते हैं, इसीलिए रुकते हैं। विमर्श और फिर विमर्श। विचार और पुनर्विचार। यही उत्तर-आधुनिक विमर्श है।”<sup>85</sup>

उत्तर-आधुनिकतावाद किसी शाश्वत मूल्यांकन के प्रतिमान को स्वीकार नहीं करता है क्योंकि मान्यता है कि साहित्य के शाश्वततावादी प्रतिमान आभिजात्यवादी वर्गों का वर्चस्व होने के कारण इनमें दमित-शोषित वर्गों के साहित्य को न केवल उपेक्षित रखा गया बल्कि उसे हीन मानकर नजरअंदाज करने की एक सुनियोजित साजिश रची गयी है। उत्तर-आधुनिकतावाद पूरी ताकत से आभिजात्यवादी साजिश के चक्रव्यूह को तोड़ना चाहता है। इसलिए वह उस उपेक्षित और दमित साहित्य का एक नया सौंदर्यशास्त्र, समाजशास्त्र, काव्य-शास्त्र निर्मित करना चाहता है। उसका विश्वास है कि अब कोई स्वीकृत सौंदर्यशास्त्र अर्थवान नहीं है और

न कोई स्वीकृत कृति कालजयी और विश्वव्यापी। छवि और सूचना उत्तर-आधुनिकता के वे औजार हैं जो यथार्थ और कल्पना के भेद न केवल मिटाते हैं वरन् गड़बड़ाते भी है। 'छलना' स्वयं एक उत्तर-आधुनिक स्थिति है। अतः भारतीय समाज उत्तर-आधुनिक स्थितियों में जी रहा है। अतः साहित्य में भी उसकी अनुगूँज सुनायी पड़ने लगी है। उदाहरणार्थी, प्रभव जोशी का गद्य एक उत्तर-आधुनिक गद्य है। वीरेन्द्र जैन का उपन्यास 'डूब', सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चाँद चाहिए' तथा मनोहर श्याम जोशी का 'कुरु कुरु स्वाहा' तथा 'हरिया हरकुलीज की हैरानी' नये उत्तर-आधुनिक प्रमाण कहे जा सकते हैं।

संक्षेप में, उत्तर-आधुनिकतावाद सूचना-संचार युग, बहुराष्ट्रीय पूँजीवाद के वर्तमान युग की संस्कृति का नाम है जिसका कोई केन्द्रवाद नहीं है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कला, साहित्य, मीडिया, राजनीति, समाज, दर्शन, अर्थतंत्र आदि के क्षेत्रों में जो व्यापक परिवर्तन आए हैं उन सभी में उत्तर-आधुनिकतावाद की छाया देखी जा सकती है। इसने सभी पुरानी सिद्धान्तों और विचारधाराओं का अंत कर दिया है। क्योंकि उत्तर-आधुनिकतावाद का सबसे अधिक जोर इसी स्थापना पर है कि अब सभी विचारधाराएँ व्यर्थ हो गई हैं, उन पर विश्वास करना रूढ़िवादी होना है।

#### 4. साम्प्रदायिकता का संदर्भ

भारत अनेक धर्मों, जातियों और संस्कृतियों का देश है। यहाँ की बहुसंख्यक आबादी हिन्दुओं की है। उसके बाद मुसलमानों की। यहाँ के हिन्दू और मुसलमान साम्प्रदायिक इतिहास लेखन के शिकार रहे हैं। यही

कारण है कि हिन्दू और मुसलमान आरम्भ से ही प्रायः टकराव की स्थिति में रहे हैं। यद्यपि लगभग एक हजार वर्षों से एक साथ रहने से एक मिली-जुली संस्कृति का भी विकास होता रहा, पर मुसलमान अपनी आक्रामकता और हिन्दू अपनी कछुआधार्मिता के कारण दूध-पानी की तरह एक न हो सके। सत्ताधारी वर्ग और सत्ता लोलुप लोगों ने अपने लाभ के लिए इन्हें हमेशा ही टकराव की स्थिति में बनाये रखा। देश को अंग्रेजी शासन की लंबी दासता से मुक्ति भी मिल गई लेकिन इस मुक्ति (आजादी) की कीमत देश-विभाजन के रूप में चुकानी पड़ी जो बहुत बड़ी त्रासदी थी।

भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की संकल्पना की गई पर साम्प्रदायिक समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है, इसके पीछे आज की ओछी होती जा रही राजनीति ही काम कर रही है। मौजूदा दौर में राजनैतिक-वैचारिक परिप्रेक्ष्य इतना दूषित और सामाजिक विकास इतना दिशाहीन है कि जनसाधारण अपने आपको असहाय और ठगा-सा महसूस कर रहा है। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में भी इस निराशाजनक स्थिति के लक्षण साफ तौर पर देखे जा सकते हैं।

राजनीति का जिस तेजी के साथ अपराधीकरण हुआ है, वह भयावह है। सत्ता की राजनीति ने लोकतांत्रिक मूल्यों का मखौल बना दिया है। उसने धर्म, इतिहास, भाषा, संस्कृति सभी को अपने हितों की पूर्ति के लिए पूरी निर्लज्जता के साथ इस्तेमाल किया है। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दी के अनेक संवेदनशील उपन्यासकारों ने समाज में घटित इस

परिवर्तन को बड़ी सजगता और ईमानदारी के साथ अंकित किया है। इस दिशा में उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं— मंजूर एहतेशाम ('सूखा बरगद'), कामतानाथ ('कालकथा' दो भागों में), चित्रा मुद्गल ('आवाँ'), भगवान सिंह ('उन्माद'), द्रोणवीर कोहली ('तकसीम, 'वाह कैप') गीतांजलिश्री ('हमारा शहर उस बरस'), नासिरा शर्मा ('जिन्दा मुहावरे'), अभय ('जलसा'), प्रियंवद ('वे वहाँ कैद हैं'), शिवमूर्ति ('त्रिशूल') लक्ष्मीकांत वर्मा ('मुंशी रायजादा'), कमलेश्वर ('कितने पाकिस्तान'), और भगवानदास मोरवाल ('काला—पहाड़') इत्यादि। इन्होंने अपने उपन्यासों में साम्प्रदायिक विमर्श को अधिक महत्व दिया है। इस संबंध में उल्लेखनीय तथ्य है कि हिन्दी के उपन्यासकार साम्प्रदायिक सोच और भावना की दृष्टि से उदार, मानवीय और प्रजातांत्रिक मूल्यों से परिचालित हैं।

उक्त उपन्यासों का विवेचन—विश्लेषण आगे अध्याय छह में किया जायेगा जो कि प्रस्तुत शोध—प्रबंध का विवेच्य विषय भी है यहाँ सिर्फ इनका संकेत भर किया गया है।

### निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि समकालीन हिन्दी उपन्यास का वैचारिक परिपेक्ष्य बहुत व्यापक और समकालीन यथार्थ की जटिलताओं से सीधे मुठभेड़ करने वाला है। संवेदना की पूँजी और चिन्तन की ऊर्जा लेकर समकालीन उपन्यासकार मनुष्य के हित की चिन्ता को लेकर एक सकारात्मक चेतना जगाने का स्तुत्य प्रयास कर रहा है।

## संदर्भ

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (संपा०) : बीसवीं सदी का हिन्दी साहित्य, दिल्ली, 2007, पृ० 209
2. डॉ० प्रभा खेतान : स्त्री उपेक्षिता (अनूदित), दिल्ली, 1990, आवरण।
3. वही, पृ० 121
4. प्रभा खेतान : 'हंस', (संपा० राजेन्द्र यादव) : अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य (विशेषांक-1), जनवरी-फरवरी 2000, पृ० 42
5. डॉ० प्रभाखेतान : स्त्री उपेक्षिता (अनूदित), दिल्ली, 1990, पृ० 52
6. वही, पृ० 52
7. राजेन्द्र यादव: आदमी की निगाह में औरत, दिल्ली, 2007, पृ० 15
8. सुधीश पचौरी : उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श, दिल्ली, 1996, पृ० 121
9. उद्धृत द्वारा सुधीश पचौरी : वही, पृ० 121
10. सुधीश पचौरी : वही, पृ० 122
11. मैनेजर पाण्डेय : अश्लीलता के बहाने नारी के प्रश्न पर विचार, 'हंस' (संपा० राजेन्द्र यादव) औरत उत्तर-कथा विशेषांक, नव-दिस० 1994, पृ० 29
12. प्रभा खेतान : 'हंस' (संपा० राजेन्द्र यादव)- अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य (विशेषांक-1), जनवरी-फरवरी, पृ० 36
13. अनामिका : हम 'पुरबिया' औरतें और हमारा 'स्त्री-विमर्श', 'हंस' (संपा० राजेन्द्र यादव), पृ० 43-44
14. तसलीमा नसरीन : और मत रखो अंधेरे में, 'हंस' (संपा० राजेन्द्र यादव), औरत उत्तर-कथा (विशेषांक) नव०-दिस० 1994, पृ० 75
15. महोदवी वर्मा : श्रृंखला की कड़ियाँ, 'अपनी बात' से उद्धृत, दिल्ली, 1995।
16. प्रभा खेतान : 'हंस' (संपा० राजेन्द्र यादव),- अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य (विशेषांक-1), जनवरी-फरवरी, पृ० 22
17. उद्धृत द्वारा श्रीधरमः स्त्री : संघर्ष और सृजन, गाजियाबाद, 2008, पृ० 67
18. कमला प्रसाद (संपा०) : स्त्री मुक्ति का सपना, दिल्ली, 2004, संपादकीय।
19. प्रभा खेतान : हंस (संपा० राजेन्द्र यादव)- अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य (विशेषांक-1), जनवरी-फरवरी, पृ० 49
20. ममता कालिया: 'स्त्री-विमर्श के संतुलन बिन्दू', हिन्दी अनुशीलन



- (संपा० डॉ० रामकमल राय, डॉ० यतीन्द्र तिवारी), वर्ष 46, अंक-2, जून, 2004, पृ० 9
21. प्रभा खेतान : हंस (संपा० राजेन्द्र यादव)— अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य (विशेषांक-1), जनवरी-फरवरी, पृ० 182
  22. वही, पृ० 169
  23. राजेन्द्र यादव: आदमी की निगाह में औरत, दिल्ली, 2007, पृ० 38
  24. राजेन्द्र यादव: (संपा०) : हंस, अंक 11, वर्ष 22, पूर्णांक 260, जून, 2008, पृ० 15
  25. नासिरा शर्मा : ठीकरे की मंगनी, दिल्ली, 1987, पृ० 155-156
  26. वही, पृ० 109
  27. वही, पृ० 94
  28. वही, पृ० 128
  29. नासिरा शर्मा : ठीकरे की मंगनी, दिल्ली, 1989, पृ० 9
  30. वही, पृ० 197
  31. प्रभा खेतान : आओ पे पे घर चलें, दिल्ली, 1990, पृ० 45
  32. वही, पृ० 35
  33. वही, पृ० 72
  34. वही, पृ० 54
  35. वही, पृ० 35
  36. वही, पृ० 25
  37. प्रभा खेतान: छिन्नमस्ता, दिल्ली, 1993, पृ० 187
  38. वही, पृ० 12
  39. वही, पृ० 220
  40. चित्रा मुद्गल : एक जमीन अपनी, दिल्ली, 1999, पृ० 95
  41. वही, पृ० 160-161
  42. वही, पृ० 177
  43. चित्रा मुद्गल : आवाँ, दिल्ली, 2000, पृ० 540
  44. अभयकुमार दुबे (संपा०): आधुनिकता के आईने में दलित, दिल्ली, 2002, पृ० 373
  45. वही, पृ० 196
  46. रामचन्द्र वर्मा (संपा०) : हिन्दी शब्दसागर, चतुर्थ भाग, काशी, संपा० 2024, वि० (1968ई०), पृ० 2229
  47. श्यामसुन्दरदास (संपा०) : संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, काशी,

- 1971ई० (2028वि०), पृ० 468
48. ओमप्रकाश वाल्मीकि: दलित साहित्य का सौन्दर्य—शास्त्र, दिल्ली 2001, पृ० 13
  49. राजेन्द्र यादव: वसुधा— 58 (दलित विशेषांक) संपा० कमला प्रसाद, जुलाई—सितम्बर, 2003, 'दलित साहित्य बौद्धिक विमर्श के केन्द्र में है', पृ० 282
  50. अभयकुमार दुबे (संपा०) : दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, दिल्ली, 1997, पृ० 78
  51. ओमप्रकाश वाल्मीकि: दलित साहित्य का सौन्दर्य—शास्त्र, दिल्ली 2001, पृ० 13
  52. डॉ० पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी: दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, दिल्ली, 1997, पृ० 78
  53. कमला प्रसाद (संपा०) : वसुधा—58 (दलित विशेषांक), जुलाई—सितम्बर, 2003, पृ० 25
  54. शरण कुमार लिंबाले: दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र, दिल्ली, 2000, पृ० 42
  55. उद्धृत द्वारा ओमप्रकाश वाल्मीकि : दलित साहित्य का सौन्दर्य—शास्त्र, दिल्ली 2001, पृ० 14
  56. डॉ० एम०एन० वानखेड़े : हंस (संपा० राजेन्द्र यादव), अक्टूबर 1992, पृ० 23
  57. ओमप्रकाश वाल्मीकि : दलित साहित्य का सौन्दर्य—शास्त्र, दिल्ली 2001, पृ० 16
  58. शरण कुमार लिंबाले: दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र, दिल्ली, 2000, पृ० 156
  59. कमला प्रसाद (संपा०): वसुधा—58 (दलित विशेषांक), जुलाई—सितम्बर, 2003, पृ० 296—297
  60. वही, पृ० 297
  61. सदानन्द शाही (संपा०) : दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचन्द, गोरखपुर, 2000, पृ० 105
  62. हरिनारायण (संपा०) : कथादेश, अंक—1, वर्ष 25, मार्च 2005, पृ० 65 (ओमप्रकाश वाल्मीकि से बजरंग बिहारी तिवारी की बातचीत)
  63. मैनेजर पाण्डेय : वसुधा—58 (संपा० कमला प्रसाद), 'हिन्दी साहित्य में दलित लेखन', जुलाई—सित० 2003, पृ० 319
  64. ओमप्रकाश वाल्मीकि: दलित साहित्य का सौन्दर्य—शास्त्र, दिल्ली

- 2001, पृ० 39
65. शरण कुमार लिंबाले: दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र, दिल्ली, 2000, पृ० 69
66. वही, पृ० 72
67. गोपालराय : हिन्दी उपन्यास का इतिहास, दिल्ली, 2002, पृ० 429
68. जगदीश चन्द्र : नरककुंड में बास, दिल्ली, 1994, पृ० 131
69. वही, पृ० 155
70. वही, पृ० 312
71. जयप्रकाश कर्दम: छप्पर, दिल्ली, 1994, पृ० 36
72. वही, पृ० 37
73. वही, पृ० 68
74. वही, पृ० 68
75. वही, पृ० 39
76. वही, पृ० 44
77. सुधीश पचौरी : आलोचना से आगे (उत्तर आधुनिकतावादी और उत्तर-संरचनावादी विमर्श), दिल्ली, 2000, पृ० 67
78. सुधीश पचौरी : उत्तर आधुनिकता और उत्तर संरचनावाद, दिल्ली 1994, पृ० 11
79. देवेन्द्र इस्सर : 'उत्तर आधुनिकतावाद : प्रेरणा और परिदृश्य', इन्द्रप्रस्थ भारती (संपा० विजयमोहन सिंह), वर्ष 6, अंक-4, अक्टू०-दिस० 1993, पृ० 35
80. बच्चन सिंह : आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीच शब्द, दिल्ली, 2004, पृ० 28
81. डॉ० नवलकिशोर : 'मानवीय मूल्य और मानव-प्रकृति: संदर्भ : उत्तर-आधुनिकता', मधुमती (संपा० लक्ष्मीनारायण नन्दवाना), वर्ष 35, अंक-1, जनवरी, 1995, पृ० 79
82. सुधीश पचौरी : उत्तर आधुनिकता और उत्तर संरचनावाद, दिल्ली 1996, पृ० 116

## षष्ठ अध्याय

हिन्दी उपन्यास में साम्प्रदायिकता  
के विभिन्न रूप

## हिन्दी उपन्यास में साम्प्रदायिकता के विभिन्न रूप

भारतीय जीवन को जिन समस्याओं ने आन्दोलित और उद्वेलित किया है उनमें साम्प्रदायिकता एक प्रमुख समस्या है। यों सांप्रदायिकता की समस्या ने आज विश्वव्यापी रूप धारण कर लिया है तथापि भारत वर्ष इसके अनेक रूपों से लम्बे समय से ग्रसित है तथा भारतीय जन-जीवन निरन्तर साम्प्रदायिकता की चपेट में रहता है जिसकी अभिव्यक्ति हमें बाबरी मस्जिद के विध्वंस, उड़ीसा में ईसाइयों की हत्या तथा गुजरात दंगों के साथ ही भारत के विभिन्न शहरों में होने वाले बम विस्फोटों में होती दिखाई देती है।

इस समस्या के विकराल होते जाने का एक बहुत बड़ा कारण हमारी संकीर्ण राजनीतिक दृष्टि भी है जो पूरी तरह वोटों को अधिकृत करने तक सिमट गई है। आज अनेक राजनीतिक दल ऐसे हैं जो अपने को धर्मनिरपेक्ष कहते नहीं अघाते जबकि वे सभी अपने मूल चरित्र में साम्प्रदायिक हैं। विभिन्न दलों द्वारा सिमी और बजरंज दल का समर्थन उनकी संकुचित राजनैतिक सोच का प्रमाण है। अतः राजनीति का जिस तेजी से साथ अपराधीकरण हुआ है, वह भयावह है। सांप्रदायिकता ने हमारे जीवन में जो संशय, अविश्वास, प्रतिरोध-भावना, असहिष्णुता आदि को बढ़ावा दिया है उससे साम्प्रदायिकता ने अनेक रूप धारण कर लिये हैं जिनका विशद चित्रण हिन्दी के अनेक संवेदनशील उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में बड़े विश्वसनीय ढंग से किया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध में मैंने इन उपन्यासों का विवेचन-विश्लेषण

किया है जिनमें सांप्रदायिक— समस्या को मूल मुद्दे के रूप में उठाया गया है। अगले पृष्ठों में हम हिन्दी उपन्यासों में व्यक्त साम्प्रदायिकता की समस्या के विविध रूपों का आकलन करेंगे—

### 1. कितने पाकिस्तान (2000 ई०)

प्रख्यात कथाकार कमलेश्वर द्वारा रचित 'कितने पाकिस्तान' साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत उपन्यास है। यह उपन्यास भारत—पाक विभाजन को आधार बनाकर लिखा गया है। धर्म के आधार पर कौम का बँटवारा एक झूठ और मानवीय दृष्टि से अनैतिक है जिसे उपन्यास का कथानायक 'अदीब' मजबूरी में जी रहा है। इस उपन्यास में समूचे मानव इतिहास को खँगालते हुए लेखक ने लगभग उन सभी घटनाओं और अवसरों को उपस्थित किया है जब सहज मानवीय चेतना में फाँक पैदा करने की कोशिश की जाती रही है और यह फाँक हमेशा गैर—ऐतिहासिक और अमानवीय आधारों पर सत्ता के अपने तर्कों द्वारा पैदा की जाती रही है जिसका परिणाम एक असहज विभाजन या प्रतीक रूप में 'एक और पाकिस्तान' होता रहा है।

हरिनारायण ठाकुर 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास की समीक्षा करते हुए लिखते हैं "भारतीय संदर्भ में हिन्दू मुस्लिम संघर्ष, सांप्रदायिकता और विभाजन की पृष्ठभूमि पर केन्द्रित यह उपन्यास विश्व भर में फैले प्रांत, कबीले, राष्ट्र, जाति, धर्म और सभ्यता के संघर्षों में लहलुहान मानवता की मार्मिक दास्तान भी है।"<sup>1</sup>

स्वयं लेखक कमलेश्वर के शब्दों में “वैश्विक चिन्ताओं के बीच इसमें हर देश में मौजूद ‘अपने देश’ को पहचानने की कोशिश की गई है।”<sup>2</sup>

समकालीन चिन्ता का वैश्विक परिदृश्य उपन्यास के आरंभ के पूर्व ही किसी अज्ञात शायर की इन दो पंक्तियों से उभरता है— इन बंद कमरों में मेरी साँस घुटी जाती है। खिड़कियाँ खोलता हूँ तो ज़हरीली हवा आती है।”<sup>3</sup> जो देश, काल और स्थान के असंख्य सवालों से टकराता नजर आता है।

‘कितने पाकिस्तान’ उपन्यास का मुख्य पात्र अदीब (लेखक) यानी साहित्यकार है। उसकी चिंताएँ सहज मानवीय चिंताएँ हैं, जिनमें प्रेम एक मानवीय मूल्य के रूप में सर्वोपरि बनकर उभरा है। इस अदीब की एक अदालत है जो “सिर्फ सच्चाई की पैराकार है और सारी सच्चाइयाँ यहाँ कहानियाँ बनके खड़ी हैं।”<sup>4</sup> इस अदालत में वह दुनिया भर की सभ्यताओं व उनके नायकों—खलनायकों को बुलाता है और उनसे जिरह करता है। प्रस्तुत उपन्यास ‘कितने पाकिस्तान’ की भूमिका में कमलेश्वर ने कहा भी है कि “यह उपन्यास मन के भीतर लगातार चलने वाली एक जिरह का नतीजा है।... मेरी दो मजबूरियाँ भी इसके लेखन से जुड़ी हैं। एक तो यह कि कोई नायक या महानायक सामने नहीं था, इसलिए मुझे समय को ही नायक—महानायक या खलनायक बनाना पड़ा।”<sup>5</sup> निःसन्देह यह जिरह आदमी के अन्दर की आस्था—अनास्था, संशय—विश्वास, घृणा और प्रेम की भी जिरह है और बाहर की सत्ता, समाज, वैभव और विचारों की भी।

कमलेश्वर पाकिस्तान के अलग राष्ट्र के अस्तित्व के मूल में हिन्दुओं और मुसलमानों के हृदयों में विद्यमान शक और नफरत को मानते हैं।

इसीलिए उन्होंने उपन्यास के एक पात्र गुलाम महमूद बनातवाला के मुँह से कहलवाया भी है, “पाकिस्तान इसलिए बना कि आजादी से पहले हिन्दू-मुसलमानों के दिलों में एक-दूसरे के लिए शक और नफरत थी, मुसलमानों के हकों की गारण्टी नहीं थी... इसलिए पाकिस्तान बना।”<sup>6</sup> अतः कमलेश्वर का मानना है कि 1947 में भारत के विभाजन के साथ अस्तित्व में आया पाकिस्तान महज एक देश नहीं, बल्कि धार्मिक असहिष्णुता, घृणा, कट्टरता, प्रतिशोध, हिंसा व षड्यन्त्र पर आधारित विचार-पद्धति भी है, जो दुनिया की कई सभ्यताओं और देशों में न सिर्फ मौजूद है, बल्कि फल-फूल रही है। उपन्यास का मुख्य पात्र अदीब(लेखक) एक जगह कहता है, “लेकिन अब तो सब मुल्कों में नफरत का एक पाकिस्तान बनाने की कोशिशें जारी हैं... क्या हुआ बोस्निया में, क्या हुआ है साइप्रस में, क्या हुआ है तब के टूटे सोवियत यूनियन और अब के बने रशियन फेडरेशन में। क्या हो रहा है आज के अफगानिस्तान में? हर व्यक्ति नफरत के सहारे अपने ही लोगों के खिलाफ एक दूसरा पाकिस्तान ईजाद करना चाहता है।”<sup>7</sup> अदीब का यह बयान एक प्रकार से ‘कितने पाकिस्तान’ का मूल बिन्दू है, जिसे केन्द्रित कर उपन्यास में अंतहीन जिरह बहस की गई है।

कमलेश्वर के अनुसार यह विचार पद्धति अर्थात् अपना-अपना पाकिस्तान बनाने की मुहिम अनादि काल से चली आ रही है। यहाँ तक कि ब्राह्मण ग्रंथों में जब यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि ब्रह्मा के शरीर के अलग-अलग अंगों से अलग-अलग वर्ण या जाति के लोग पैदा हुए और ब्राह्मण के मुँह से पैदा हुए, तो यह ब्राह्मणों द्वारा अपना पाकिस्तान बना लेने की शुरुआत थी। उपन्यास की एक पात्र सलमा अदीब से कहती



है, “तुमने अपना वर्णाश्रम धर्म बना लिया था— हर बच्चा माँ के पेट से पैदा होता है पर तुम्हारे ब्राह्मणों और उनके ग्रंथों ने माँ की कोख का अपमान करते हुए मनुष्य को ब्रह्मा के अलग— अंगों से पैदा करने का सिद्धान्त पैदा किया... आज के शब्दों में कहूँ तो तुम्हारे ब्राह्मणों ने अपना पाकिस्तान बना लिया ...।”<sup>8</sup>

अखण्ड भारत का मजहब के आधार पर विभाजन तो हो गया लेकिन भारतीय मुसलमान अपनी पुश्तैनी जमीन से अपना मोह नहीं छोड़ पाते। यही पीड़ा ‘कितने पाकिस्तान’ की पात्र सलमा की है। वह कहती है— “जब मौत आती है। तब किसी को काबा या कर्बला याद नहीं आता, अपना घर याद आता है। मैं तो यह कह ही रही हूँ, यकीन न हो तो पूछिए जाके किसी भी मुल्क के मुसलमान से। यहाँ तक कि रियाद और तेहरान में रहने वाले मुसलमान से...खुदा का घर सबके लिए है लेकिन अपनी मौत के वक्त सिर्फ अपने घर—गाँव का घर अपना होता है।...यही आखिरी सच है।”<sup>9</sup>

विभाजन के दौरान जो साम्प्रदायिक दंगे भड़के उनकी सर्वाधिक शिकार स्त्री हुई। सलमा कहती है, “लेकिन मेरा सच हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की तरह विभाजित ही रहेगा। शायद यही हिन्दुस्तानी मुसलमान औरत का नसीब बन गया है..... औरत यहाँ की हो या वहाँ की, वह पहले भी आधी से कम थी, इस तक्सीम ने तो उसे आधे से भी आधा बनने पर मजबूर कर दिया है।”<sup>10</sup>

कुछ साम्प्रदायिक ताकतें मजहब का वास्ता देकर संकीर्ण साम्प्रदायिकता के विष वृक्ष को सींचते रहते रहते हैं। अतः तब तक यह ओछी राजनीति खत्म नहीं होती तब तक यह सांप्रदायिकता की विष—बेलि

पल्लवित— पुष्पित होती रहेगी। 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास का एक पात्र निखिल चक्रवर्ती कहता है— "पाकिस्तान से पाकिस्तान पैदा होता है....यह छूत का एक रोग है। जब तक धर्म, नस्ल, जाति और दुनिया की पहली शक्ति बनने का नशा नहीं टूटता, जब तक सत्ता और वर्चस्व की हवस नहीं टूटती तब तक इस धरती पर पाकिस्तान बनाये जाने की नृशंस परम्परा जारी रहेगी।"<sup>11</sup>

अतः इस विष वृक्ष को उखाड़कर उसके स्थान पर बोधिवृक्ष लगाये जाने की जरूरत है जो समय की माँग भी है। क्योंकि बोधिवृक्ष शांति, सह—अस्तित्व और बंधुत्व का प्रतीक है। 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास का पात्र अंधा कबीर कहता है, "बोधिवृक्ष की जड़ें नीलकंठ की तरह सारा विष पी लेती हैं... पहला बोधिवृक्ष मैं पोखरन में लगाऊँगा, फिर सरहद पार करके दूसरा वृक्ष मैं चगाई की पहाड़ियों में लगाऊँगा।"<sup>12</sup> आज भी कबीर की आत्मा प्रेम, संवेदना और करुणा के बोधिवृक्ष की जड़ों को बचाये उसे नफरत की भूमि में रोपने के लिए प्रयत्नशील है। यही 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास की कथा की मूल संवेदना है।

डॉ० रामचन्द्र तिवारी 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास की समीक्षा करते हुए लिखते हैं, "कितने पाकिस्तान लेखक के दीर्घकालीन अंतर्मथन का परिणाम है। समय और इतिहास ही इसके नायक हैं। इसमें लेखक ने मानव सभ्यता के लंबे इतिहास की गहरी पड़ताल करते हुए अनुभव किया है कि इतिहास के प्रत्येक कालखण्ड में नफरत और घृणा ने इंसान को दो फाँकों में बाँटा है और पाकिस्तान बनते आ रहे हैं। आज भी यह सिलसिला बदस्तूर जारी है। इसी की परिणति है देश का विभाजन और पाकिस्तान

भी सृष्टि।''<sup>13</sup>

निःसंदेह कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास घृणा की इस राजनीति का प्रतिवाद प्रस्तुत करता है, प्रेम जैसे शाश्वत मूल्य के आधार पर। वह विद्या-अदीब, जेनब और बूटा सिंह, सलमा और अदीब के प्रेम प्रसंगों द्वारा इसकी पुष्टि भी करता है। हरिनारायण ठाकुर ने ठीक ही कहा है कि "अदीब, विद्या और सलमा की कथा न तो प्रेम का त्रिकोण है और न जज्बाती जुनून ही। यह विभिन्न परिस्थितियों में जाति, मजहब और मुल्क की दरों-दीवारों के आर-पार दो दिलों को, जिनके सपने एक हैं, जोड़ने की इंसानी जहनीयत है।''<sup>14</sup>

कमलेश्वर भविष्य में इस तरह के विभाजन से बचने हेतु संपूर्ण मानवता को सजग-सचेत भी करते हैं। वे अदीब के मुख से मानो स्वयं कहते हैं- "सुनो करौंची के बाशिन्दो! जितना जो कुछ टूट गया, उसे भूल जाओ। जो कुछ टूटने के बाद बना है, उसे टूटने से बचाओ। जितने मुल्क बनेंगे, वे सिर्फ इंसान को तक्सीम करेंगे। जरूरत से ज्यादा इस दुनिया का बँटवारा हो चुका है.... खुदा के लिए बँटवारे की इस जहनियत को खत्म करो।''<sup>15</sup> इस प्रकार घटनाओं, संदर्भों और कहानियों के बीच कमलेश्वर जी लगातार यह बात सामने रखते हैं कि अब एक के बाद एक दूसरे पाकिस्तान बनाने की लहू से लथपथ यह परम्परा अब खत्म होनी चाहिए। यही इस उपन्यास का मूल प्रतिपाद्य भी है।

डॉ० गोपालराय ठीक ही लिखते हैं, "कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास में एक सांप्रदायिकता विरोधी विजन है जो धर्म, राजनीति, क्षेत्रीय महत्वाकांक्षा, भौतिक सुखों की होड़, प्रजातीय और बौद्धिक अहंकार आदि

के तहत देश, दुनिया और मानवता को बाँटने, एक—दूसरे से अलग और लहुलूहान करने की दानवी प्रवृत्ति के अंकन और उसके प्रतिरोध से युक्त है।<sup>16</sup>

संक्षेप में, कमलेश्वर 'कितने पाकिस्तान' में वैदिक सभ्यता से लेकर समकालीन समय की यात्रा करते हुए दिखाई देते हैं। वे इतिहास और संस्कृति की विविध कथाओं के बहाने अस्मिता, अस्तित्व और मुक्ति के सवालों को उठाते हैं जिसका एक मात्र समाधान सम्मान और शांतिपूर्ण सह—अस्तित्व ही हो सकता है। और यही मानव मुक्ति भी है जो उपन्यास का कथ्य भी है।

## 2. त्रिशूल (1993ई०)

प्रख्यात कथाकार शिवमूर्ति का लघु—उपन्यास 'त्रिशूल' रामजन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद विवाद को आधार बनाकर लिखा गया है। प्रस्तुत उपन्यास में हिन्दू सांप्रदायिकता निशाने पर है। जिसका प्रतिनिधि पात्र शास्त्री जी हैं। जो कथावाचक के घरेलू नौकर महमूद के धर्म की असलियत पता चल जाने पर पूरे मुहल्ले में सांप्रदायिक माहौल पैदा कर देते हैं। शास्त्री जी के पोते के तथाकथित अपहरण में उसे जान—बूझकर नामजद किया जाता है और फिर उसे पुलिस की नारकीय यातनाओं का शिकार बना दिया जाता है।

जबकि महमूद एक सरल, निष्ठावान बालक कथावाचक का घरेलू नौकर ही नहीं वरन् मोहल्ले भर का ताबेदार नौकर भी है। उसकी आज्ञाकारिता सबका मन मोहे रहती है। स्वयं शास्त्री जी उसे प्रेम से

‘चेलवा’ कहकर पुकारते हैं। उसकी निष्ठा और कर्मठता के आगे लंबे समय तक लोग यह ध्यान नहीं देते कि उसका धर्म या मजहब क्या है? लेकिन यह ज्ञात होते ही कि वह मुसलमान है, उसके सारे मानवीय गुण गौण हो जाते हैं और उभरती है सिर्फ नफरत और घृणा। उसके बारे में पहले तो कई आशंकाएँ पैदा होती हैं तथा अंततः सांप्रदायिक विद्वेष आकार ग्रहण करने लगता है।

उपन्यास की एक पात्र मिसराइन कथावाचक की पत्नी से आरोपित करने वाले अंदाज में कहती है “यह बात छिपाकर आपने अच्छा नहीं किया।

पत्नी को समझने में थोड़ा समय लगता है, “कौनसी बात?”

“यही कि आपका नौकर मुसलमान है।

लाल बहू दरहम—बरहम करने का प्रयास करती है, ‘लड़का है तो साफ—सुथरा, स्वभाव का भी अच्छा है।’

“स्वभाव से क्या होता है जी? स्वभाव है तो चौके में घुस जायेगा? मलिच्छ होकर बर्तन भांड़ा छुएगा? सब कुछ भरभंड करके रख किया।”<sup>16</sup> जबकि मिसराइन यह भूल जाती है कि वह इसी महमूद से मछली का पका मांस होटल से मंगाकर अपनी आत्मा को तृप्त करती थी। इसे हिन्दू समाज की एक बहुत बड़ी बिडम्बना ही कहा जायेगा। कि एक मुसलमान के घर में घुसने से उनका धर्म नष्ट हो जाता है और मांसाहार से नहीं।

इस प्रकार आस्था के अंधे कुएँ को अपनी तर्क दृष्टि से देखता यह लघु उपन्यास जहाँ एक तरफ धर्म की आड़ में रोटी तोड़ने वाले, अपना स्वार्थ सिद्ध करने वालों तथा समाज नियंता कहे जाने वाले संप्रभु वर्ग के

दोहरे चरित्र को उजागर करता है वहीं दूसरी तरफ उस शख्सियत को भी आड़े हाथों लेते हुए कटघरे में ला खड़ा करता है जिसे हम भगवान मानकर हर मोर्चे पर अपनी जान बचा लेते हैं। कथावाचक पाल साहब कहता है—  
 “हमारा ईश्वर सिद्धान्ततः जितना उजला है व्यवहार में उतना ही काला। अन्यथा जिस समाज का भगवान समदर्शी है उसी समाज में जाति—पाँति और छूआछूत के रूप में इतनी विषमता न रहती। जिस समाज का ईश्वर पतिता स्त्रियों का उद्धारक कहा गया उसी के मंदिर देवदासियों के रूप में पतिता बनाने के कारखाने न बनते। यही नहीं हमने अपने शोषण से अपने भगवान तक को नहीं बख्शा, उन्हें कोर्ट कचहरी तक घसीटा है।”<sup>17</sup>

ऊपर से नीचे तक इस बिकी हुई व्यवस्था में धर्म—जाति, सम्प्रदाय के नाम पर सत्ता हथियाने के लिए सत्तालोलुप सफेदपोश लोग ही ज्यादा जिम्मेदार हैं। शास्त्री जी के माध्यम से शिवमूर्ति ने ‘संघी’ मानसिकता का ही ताना—बाना बुना है। हिन्दुत्व के ठेकेदार शास्त्री जी अपनी रामवादी पार्टी द्वारा मस्जिद पर केसरिया लहराये जाने की खुशी में लड्डू बाँटते हैं और मुसलमानों के विषय में संघी तर्कों को बार—बार दुहराते हैं, “जब धर्म के नाम पर इन मुसल्लों ने देश की छाती चीरकर दो टुकड़े कर दिया तो फिर यहाँ क्या करने के लिए रह गये? अपनी ऐसी—तैसी कराने?...मैं तो कहता हूँ अभी भी वक्त है कि इन ‘कटुओं’ को खदेड़कर पाकिस्तान भगा दिया जाए। वरना पचास साल बाद क्या होगा जानते हैं?...एक—एक मुसल्ला चार—चार शादी कर रहा है और एक—एक से चौदह—चौदह बच्चे निकाल रहा है। परिवार नियोजन इनके लिए हराम है। यही रफ्तार जारी रही जो पचास साल बाद देश की दो तिहाई आबादी मुसलमान होंगे। तब

दो—तिहाई बहुमत से देश का संविधान बदला जायेगा और भारतवर्ष 'इस्लामिक कंट्री' घोषित होगा। देश के सारे मंदिरों को तोड़कर मस्जिदें बनायी जायेंगी, हजारों हजार बाबरी मस्जिदें। भारत माता जार जार रोयेंगी। मैं साफ—साफ देख रहा हूँ, देश फिर बाबर की संतानों की गुलामी में जकड़ा जाने वाला है।"<sup>18</sup>

शास्त्री जी पूरे मुहल्ले में कुछ स्टिकर और पोस्टर वितरित करने का काम भी एक साजिश के तहत ही करते हैं, जो छद्म हिन्दुत्ववादी सांप्रदायिकता का मुखौटा भर ही है।

शास्त्री जी जैसे कट्टर हिन्दुत्ववादी के बहकावे में आकर मुहल्ले के कुछ बच्चे भी सांप्रदायिक संकीर्णता का शिकार हो जाते हैं जिसे बालमन पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की विचारधारा का दुष्प्रभाव कहा जा सकता है। मुहल्ले के ये बच्चे महमूद की साइकिल का हैंडिल खींच लेते हैं जब वह बाजार से सब्जी लेकर आ रहा होता है। एक लड़का महमूद से कहता है— "रुक वे, कटुए। महमूद गिरते—गिरते बचता है। साइकिल से उतरते ही लड़कों से घिर जाता है। हैंडिल खींचने वाला लड़का गुराता है, "साले हिन्दुओं के मुहल्ले में क्या करने जा रहा है?" दूसरा कहता है, "झोले की तलाशी लो साले की, जरूर बम छिपाये होगा, वे झोले में झाँकते हैं। .... एक उसके बाल पकड़कर दिखाता है और दूसरा दो हाथ लंबा त्रिशूल उसके गले पर अड़ाकर पान से लाल मुंह टेढ़ा करके कहता है, "बोल साले, जै सिरी राम।"<sup>19</sup>

इस प्रकार शिवमूर्ति बाल मन पर पड़े संघी विचारधारा के दुष्प्रभाव को भी रेखांकित करने का प्रयास करते हैं जो निश्चय ही एक खतरनाक

स्थिति है।

महमूद शास्त्री के पोते के तथाकथित अपहरण में नामजद तो होता है लेकिन इसकी पोल भी खुल जाती है। 'त्रिशूल' उपन्यास का एक पात्र एस०ओ० पुलिस जज साहब को संबोधित करते हुए कहता है "वही हाफ वालों की नौटंकी है हुजूर। बच्चे को कहीं छिपा दिया है और इसी की आड़ में टेंशन फैलाना चाहते हैं।"<sup>20</sup>

हिन्दू सांप्रदायिकता की प्रतिक्रियास्वरूप मुस्लिम सांप्रदायिकता उभरती है। जब महमूद को पुलिस थाने की हिरासत से छुड़ाकर शहर की मुस्लिम कमेटी के पदाधिकारियों की हिफाजत में बड़ी मस्जिद में रखा जाता है। वहाँ मुस्लिम समुदाय का एक व्यक्ति महमूद की ओर संकेत करते हुए कहता है, "इससे पूछो, क्या दुनिया के सारे मुसलमान मर गये थे, जो एक हिन्दू के घर में इतने दिन झाड़ू लगाता रहा?"<sup>21</sup>

कथावाचक और उसके परिजनों का महमूद के प्रति लगाव बड़ा मार्मिक है जो मानव-मानव के प्रति निश्छल प्रेम की प्रतिष्ठा करता है। जब महमूद कथावाचक का घर छोड़ता है तो उसके परिजनों का बुरा हाल दृष्टव्य है जो बहुत ही मार्मिक है, "बेटा रोने लगता है। चल पड़े लोग। हम लोग लौट पड़ते हैं। मुड़-मुड़कर क्या देखती हो? द्वार बंद। चला गया महमूद। सभी रो रहे हैं।"<sup>22</sup>

संक्षेप में, शिवमूर्ति ने 'त्रिशूल' उपन्यास में हिन्दूओं के ओछे हिन्दूवाद को झकझोरा है। कुछ फिरकापरस्तों द्वारा सांप्रदायिकता का बीज जो मानव हृदय में बोया जा रहा है उसका अंत निश्चय ही बहुत बुरा होगा— इसकी भी मुखर अभिव्यक्ति 'त्रिशूल' में हुई है। अतः सामयिक देशव्यापी



घटना को उपन्यास का कथ्य बना कर एक बेबाक सच्चाई को प्रत्यक्ष करते हुए कथाकार शिवमूर्ति ने सांप्रदायिकता की साजिश को निरावरण कर दिया है। रामजन्मभूमि— बाबरी मस्जिद विवाद कितना बेमानी है। कथावाचक पाल साहब ठीक ही कहते हैं कि, “मेरा वश चले तो मैं मंदिर—मस्जिद दोनों को जमींदोज कराकर वहाँ बच्चों के खेलने के लिए पार्क बनवा दूँ।”<sup>23</sup> देश को शास्त्री जैसे लोगों से बचाने की जरूरत है। यही इस उपन्यास का मूल प्रतिपाद्य है।

### 3. उन्माद (1999ई०)

कथाकार भगवान सिंह ने अपने ‘उन्माद’ उपन्यास में धार्मिक सांप्रदायिक उन्माद के मनोवैज्ञानिक कारणों का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उपन्यास का पात्र रतन एक प्रतिभाशाली छात्र है जो कालान्तर में अपने आत्मिक द्वन्द्वों के कारण पागलपन का शिकार हो जाता है। उसका पिता पंडित सदानन्द एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति हैं जो अपने बेटे को महान बनाने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखा में भेजता है। एक ओर पिता की महत्वाकांक्षा और दूसरी ओर रतन की खुद की आंतरिक इच्छा शक्ति एवं जीवन के बीच का द्वन्द्व रतन को पागलपन या उन्माद की ओर ले जाता है और वह सांप्रदायिकता के घेरे में आ जाता है। रतन अपने पिता पंडित सदानन्द से कहता है, “आपने मुझे अपनी महत्वाकांक्षाओं से कुचल कर रख दिया पिताजी। मुझे आपने अपने सपने की तरह जिन्दा रखा और स्वयं उस सपने को बचाने में अपनी जिन्दगी भी नहीं जी पाए। मैं भीतर से कितना पिसा हुआ, रौंदा हुआ, महसूस करता रहा हूँ, यह न आपने देखा,

न मैंने कभी चेता।''<sup>24</sup>

कथाकार भगवान सिंह सांप्रदायिकता को दिमागी बुखार की तरह खतरनाक मानते हुए लिखते हैं, "यह जो सांप्रदायिकता है यह भी एक तरह का दिमागी बुखार है। ये जो सांप्रदायिकता की राजनीति करने वाले हैं और ये जो धर्म के नाम पर अपनी दुकान चलाने वाले मुल्ले और पंडे होते हैं, ये सभी इस दिमागी बुखार के वायरस को पालने वाले होस्ट हैं। इससे इनका कुछ बिगड़ता नहीं। ये मस्त-मुस्तंड ही नहीं पड़े रहते हैं, बल्कि इस वायरस को फैलाने की धौंस देकर राजनीतिक सौदेबाजी करते हैं।''<sup>25</sup> प्रस्तुत उपन्यास का पात्र चिन्तामणि भी एक ऐसा ही धर्मप्रचारक है जो धर्म की ठेकेदारी करते हुए सांप्रदायिकता के वायरस फैलाता है।

रतन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे संगठनों की गतिविधियों की कलई खोलकर रख देता है। वह अपने पिता का प्रतिवाद करते हुए कहता है— "आज इस तरह के जितने भी निजी संगठन दुनिया के किसी भी देश में हैं उनकी एक ही भूमिका है। किसी जाति या जनसमुदाय को लक्ष्य बनाकर तनाव पैदा करना और समाज को निरन्तर अस्थिरता की स्थिति में रखना।''<sup>26</sup> इतना ही नहीं वह शाखा को 'इंसानों की रेवडबंदी' का सबसे सशक्त माध्यम भी मानता है— "यदि इसको सांस्कृतिक विरासत माने तो इसे रेवडबंदी की विरासत मानना होगा, जिसमें किसी धोखे में आए जानवरों को घेरकर, अपनी दौलत बनाकर रखा जाता था, कि जरूरत पड़ने पर जिबह किया जा सके। हर्डिंग ऑफ़ ह्यूमन्स। इंसानों की रेवडबंदी। उनकी बात असत्य नहीं लगती। यह सोचकर शर्म आती है कि इतने समय तक मैंने इसको कैसे सहन किया।''<sup>27</sup>

इतने समय तक मैंने इसको कैसे सहन किया।”<sup>27</sup>

लेकिन यही रतन चिन्तामणि जी की हिन्दूधर्म के महात्म्य का बखान करने वाली चमत्कारिक बातों के पीछे छिपे खोखलेपन को नहीं समझ पाता। वह पैम्फलेट बाँटता फिरता है जिसमें ‘हिन्दू जागों देश बचाओं’, ‘हिन्दुओं का अपमान’, ‘हिन्दू क्या करें’ और ‘अनुरोध’ नामक उप-शीर्षकों के अन्तर्गत तथ्यों एवं आकड़ों को देते हुए अपने ही देश में ‘तीसरे दर्जे का नागरिक’ होने की पीड़ा का उल्लेख किया गया है— “भारत देश का उत्थान उतना मुस्लिम व ईसाइयों पर निर्भर नहीं है जितना इस बात पर कि हिन्दू अपने धर्म की रक्षा कैसे करता है।...अपने ही देश में हिन्दू तीसरे दर्जे के नागरिक बना दिए गये हैं।”<sup>28</sup>

चिन्तामणि जी हिन्दुओं में घोर सांप्रदायिकता का विषममन करते हैं। वे कहते हैं “भारत पर कई बार म्लेच्छों ने अधिकार कर लिया और इस पर उनकी सत्ता सैकड़ों वर्ष रही। इससे क्या भारत बदल गया। यह भारती प्रजा के लिए लज्जा की बात है कि म्लेच्छ आज तक इस देश में बचे हुए हैं।...उनका स्वर कांप रहा था, यह भारत भूमि आज भी म्लेच्छों के पद भार से मर्दित हो रही है। भारत माता कराह रही है।”<sup>29</sup>

भगवान सिंह ने न केवल सांप्रदायिकता की भयावहता का ही चित्रण किया है अपितु सांप्रदायिकता के यथार्थ पर आबिदा और रतन (रत्नशंकर) के पारस्परिक प्रेम प्रसंगों द्वारा सदभावना की जमीन भी तैयार की है। उदाहरणार्थ जैसे वह पागल रतन को मनोचिकित्सक के पास बहकावे में रखकर ले जाती है और उसका इलाज भी करवाती है। यह सब निःस्वार्थ प्रेम ही हो सकता है। जब आबिदा की अम्मी उससे कहती है, “तुझे पता

है, यहाँ बात फैलते देर नहीं लगती। यह लड़का सिर्फ पागल ही नहीं है, हिन्दू भी है। इस इलाके के लोग इसे कभी बरदाश्त नहीं करेंगे। बात फैली तो गदर मच जाएगा। तू जानती है इसका क्या नतीजा होगा। लोग तेरा और उसका गला काटकर रख देंगे।”<sup>30</sup> तो आबिदा दो टूक शब्दों में अपनी अम्मी को जवाब देती हुई कहती है, “मुझे मौत का डर नहीं है, अम्मी। मैं इसके साथ मरने को भी तैयार हूँ। दोजख की आग में जलने को भी तैयार हूँ। अब दुनिया की कोई चीज मुझे रोक नहीं सकती।”<sup>31</sup>

लेकिन दूसरी ओर रतन की माँ मनोरमा जी हैं जो हिन्दूवाद की डोर से बंधी हुई हैं, वह कहती हैं, “मुझे अपना पागल रतन मंजूर है, उसे मुसलमान नहीं बनने दूँगी।”<sup>32</sup> कितना अच्छा होता यदि वह भी आबिदा की तरह साहस दिखाते हुए धार्मिक सदभाव का परिचय देतीं। किन्तु वह धार्मिक संकीर्णता के दलदल में कहीं गहरे तक धंसी हुई हैं। यही कारण है कि धार्मिक सदभाव की जमीन आज तक तैयार नहीं हो पायी।

संक्षेप में, भगवान सिंह ने अपने ‘उन्माद’ उपन्यास में सांप्रदायिकता को एक उन्माद की ही किस्म के रूप में पकड़ने की कोशिश की है जो बहुत सार्थक बन पड़ा है।

#### 4. ‘हमारा शहर उस बरस’ (1998ई०)

गीतांजलि श्री के ‘हमारा शहर उस बरस’ उपन्यास में हिन्दू सांप्रदायिकता का पूरी उद्दामता के साथ चित्रण हुआ है। प्रस्तुत उपन्यास में एक शहर है, जहाँ एक मठ और एक विश्वविद्यालय हैं और ये दोनों ही संस्थाएँ सांप्रदायिकता को हवा देती हुई फासीवादी और आतंक से भरी हुई

दुनिया का सृजन करती हैं। सांप्रदायिक दंगों का भय इस उपन्यास में आद्यन्त व्याप्त है। गीतांजलि श्री ने 'हमारा शहर उस बरस' में सांप्रदायिक दंगों के भय को उपन्यास का मूल कथ्य बनाया है। उपन्यास के आवरण पर छपी 'विज्ञप्ति' के अनुसार, "बात 'उस बरस' की है जब 'हमारा शहर' आये दिन सांप्रदायिक दंगों से ग्रस्त हो जाता था। आगजनी, मारकाट और तदजनित दहशत रोजमर्रा का जीवन बनकर एक भयावह सहजता पाते जा रहे थे। कृत्रिम जीवन शैली का यों सहज होना शहरवासियों की मानसिकता, व्यक्तित्व बल्कि पूरे वजूद पर चोट कर रहा था। बात दरअसल उस बरस भर की नहीं है। उस बरस को हम आज में घसीट लाए हैं। न ही बात है सिर्फ हमारे शहर की। और शहरों जैसा ही है हमारा शहर— सुलगता, खदकता— 'स्रोत और प्रतिबिम्ब दोनों ही' मौजूदा स्थिति का।...अभी भी जो समझ रहे हैं कि दंगे उधर हैं—दूर, उस पार, उन लोगों में—पाते हैं कि 'उधर' इधर' बढ आया है, 'वे' लोग 'हम' लोग भी है, और इधर—उधर, वे—हम करके खुद को झूठी तसल्ली नहीं दी जा सकती। दंगे जहाँ हो रहे हैं, वहाँ खून बह रहा है। सो, यहाँ भी बह रहा है, हमारी खाल के नीचे। अपनी ही खाल के नीचे छिड़े दंगे से दरपेश होने की कोशिश है इस गाथा का मूल।"<sup>33</sup>

निःसंदेह हमारा शहर सिर्फ उस बरस नहीं था बल्कि हजारों वर्षों पूर्व 'उस' से लेकर आज 'इस' तक सदैव विद्यमान है। शहर में पुल के, सड़क के, नाले के, गली के, दीवार के इस पार और उस पार है। जैसा कि गीतांजलि श्री 'हमारा शहर उस बरस' में लिखती हैं, "हमारा शहर देश की दंगों—राशि का स्रोत और प्रतिबिम्ब दोनों बना हुआ है। देवी मठ यहीं है

और उसकी शाखाएँ दूसरे शहरों में फूटती जा रही हैं। यहाँ घूम लो तो मान लो भारत—भ्रमण हो गया।”<sup>34</sup>

शहर के दोनों पार के लोग अपने को सुरक्षित महसूस करते हैं पर अंदर से डरे रहते हैं— “उस बरस एक बार सड़कों पर ऐसी ही नदियाँ बहने लगी थीं, पर वह बारिश नहीं थी, टंकियों का पानी था, जो मुहल्लों के मुहल्लों ने जहर के डर से खोल कर बहा दिया था।”<sup>35</sup> दरअसल सड़कों पर उन्माद की नदियाँ उतर आयी थीं। साथ ही उसमें संदेह और अफवाह ने बड़ी खतरनाक भूमिका निभायी थी। हवा बही थी कि पानी में जहर हिन्दुओं ने तो दूसरी तरफ मुस्लिमों ने मिलाया है। उधर पीलिया के रोग ने आतंकित कर रखा था तो इधर पानी की तबाही से सड़कें नदियों में तब्दील हो गई थीं। इसी प्रकार की अनेक अफवाहें दंगे को परवान चढ़ाती हैं। चारों तरफ भय, संदेह और अफवाह उस बरस सांप्रदायिक दंगों की आग जलाये रखते हैं, बार—बार दंगे हुए, हत्याएँ हुई, लूटपाट मची, लाशों के ढेर लग गये, कफरू लगा और फिर—फिर अनेक बार हुआ। मुट्ठियाँ उछाल—उछाल कर जैश्रीराम का उद्घोष और मठ पर लगे लाउड स्पीकरों से छन—छन कर फैलता धार्मिक प्रदूषण भारत के धर्म निरपेक्ष चरित्र पर करारी चोट करता है। खासकर पुलिस अधिकारी कापड़िया की यह गर्वोन्मत्त टिप्पणी कि ‘मैंने सालों का मोहरम का जुलूस ही बन्द कर दिया। उनका तो बज गया बाजा।... यह हिन्दुस्तान है कि पाकिस्तान? तो फिर होली कि ताजियाँ?’<sup>36</sup> भारत के धर्मनिरपेक्ष चरित्र को धता बता देती है।

मठ तो निरन्तर हिन्दुओं को भड़काता रहता है। यह मठ हिन्दू

सांप्रदायिकता का प्रतीक है जो सांप्रदायिकता, फासीवादी और आतंक से भरी दुनिया का सृजन करता है। गीतांजलि श्री के शब्दों में, “वे लोग समझा रहे हैं कि हिन्दू जागो, देश बचाओं। कि नहीं तो हम पर अन्याय बढ़ता जायेगा। हमारे रक्त की नदियाँ बहेगी। बह रही हैं। मंदिर और गुरुद्वारें नष्ट होंगे। हो रहे हैं। हमारी इज्जत और संपत्ति लूटी जाएगी, हमारी लड़कियों का सरेआम अपहरण होगा। हो रहा है। लुट रही हैं। हिन्दू कुत्ते बिल्ली की तरह मारे-मारे फिरेंगे। फिर रहे हैं। मार तो हिन्दू सारी दुनिया में खा रहा है, क्योंकि वह अति सहनशील है। जुलूस से चिंघाड़ उठी है: कायरता दूर करो या हिन्द महासागर में डूब मरो। ‘हिन्द नहीं’ दहाड़ उठी है, हिन्दू महासागर कहो। हिन्दू महासागर है वह। कायरता दूर करो या हिन्दू महासागर में डूब मरो, क्योंकि और कोई जगह मरने के लिए भी तुम्हारे पास नहीं बचेगी। अपने ही देश में तुम दूसरे और तीसरे दर्जे के नागरिक हो। औरों के लिए तो पचासों देश हैं, पर हमारे लिए तो बस हिन्दूस्तान है।”<sup>37</sup> निःसन्देह यहाँ ‘औरों’ से तात्पर्य मुसलमानों से है। अतः हिन्दुत्ववादी सांप्रदायिकता यहाँ भयावहता के साथ उभरी है।

अंग्रेजों के भारत आने और धीरे-धीरे यहाँ की जमीन पर अपनी सरकार कायम करने के पहले तक हिन्दू और मुसलमान जनता में जाहिर तौर पर वैर भाव (कडवाहट) नहीं दिखाई देता। यद्यपि दोनों धर्मों में ऐसी कुछ प्रवृत्तियाँ थीं जो एक-दूसरे के लिए खलने वाली थीं। राष्ट्रीय आन्दोलन के जन्म के साथ ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। उन्होंने भारतीय जनता में ‘फूट डालो और शासन करो’ की नीति अपना कर खास तौर पर हिन्दू और मुस्लिम समुदाय को उन्होंने आपस में

भड़काया। भारतीय इतिहास को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया। 'हमारा शहर उस बरस' का पात्र प्रो० हनीफ भी इसी ओर संकेत करते हुए छात्रों से कहते हैं, "हम अपने देश का इतिहास क्यों नहीं जानते? तभी तो हैवानी आत्माएँ इतिहास के पन्नों से कुछ का कुछ उठा कर उसका मलीदा बनाकर जहर-बुझे तीरों पर लगातार तान देती हैं। और हम अपनी जाहिली में उन पर यकीन कर लेते हैं।"<sup>38</sup> हनीफ की इन बातों से यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि वह बच्चों में साफ-सुथरी धारणा का बीजवपन करना चाहता है। वह चाहता है कि छात्र समाज को इतिहास की सही तस्वीर दिखायें, अमन का संदेश फैलायें, राजनीतिज्ञों की कुटिल नीतियों के झांसों में न आयें।

'हमारा शहर उस बरस' का एक अन्य पात्र शरद भी हनीफ की तरह इतिहास का प्रो० और अमन पंसद आदमी है। वह तमाम दकियानूसी विचारों के खिलाफ एकजुट होने की अपील करता है— "लेकिन आज अगर हम दृढ़ संकल्प और साम्प्रदायिकता विरोधी तमाम ताकतों के साथ उठें तो दकियानूसी तथा रूढ़िवादी ताकतों को पछाड़ देंगे। हम इस तथ्य से मुंह नहीं चुरा सकते कि अब यही एक लड़ाई है और घर बैठे चाहें सड़कों पर निकलें, हम सब इस तरफ या उस तरफ लड़ रहे हैं....।"<sup>39</sup>

प्रो० नन्दन भी सांप्रदायिकता विरोधी माहौल तैयार करने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। वे कहते हैं, "हमारे देश में जो हो रहा है, किसी से छिपा नहीं है। यह जनवाद और सांप्रदायिक फासीवाद की लड़ाई छिड़ी है और हम सब जानते हैं कि हम किस तरफ हैं। यह संघर्ष बहुत व्यापक होगा। हम सब को अपने-अपने हलकों में कोशिश करनी होगी, जिससे



हमारे समाज में यह आवाज एकजुट होकर बुलंद हो। सब देशभक्त नागरिकों का आज यह फर्ज है।”<sup>40</sup>

दरअसल, दंगों की आग पंडित, मुल्ला—मौलवी राजनेता अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति करने हेतु भड़काते हैं लेकिन उसका खामियाजा निर्दोष और गरीब जनता को भुगतना पड़ता है। अतः ऐसी स्वार्थी ताकतों के झांसें से बचना चाहिए, जो धार्मिक सद्भाव का माहौल बिगाड़ते हैं। ‘हमारा शहर उस बरस’ का पात्र शरद कहता है, “मुल्ला, पंडित, पादरी, राजनीतिज्ञ बहुत से देशों में त्राहि त्राहि मचा रहे हैं और पूरी कौम को बदनाम कर रहे हैं। मगर हमें देखना पड़ेगा कि जहाँ हम रहते हैं वहाँ की वास्तविकता क्या है, यहाँ कौन पिट रहा है, कौन झूठ बोल रहा है....।”<sup>41</sup>

‘हमारा शहर उस बरस’ उपन्यास में सांप्रदायिकता शिक्षण संस्थानों जैसी पवित्र जगह में भी सेंध मारती दिखाई गई है। विश्वविद्यालय के पास ही एक मठ होता है उस मठ में लाउडस्पीकर से प्रवचन आग के गोले की भाँति दागे जाते हैं। इसका विशेष प्रयोजन होता है कि विभाग के शिक्षकों के बीच धर्म के आधार पर फूट डालना और अध्ययन—अध्यापन को तबाह करना। जिसका दुष्प्रभाव छात्रों पर भी पड़ने लगता है। विश्वविद्यालय में पनपी इस सांप्रदायिकता का शिकार प्रो० हनीफ होता है। वह विभागाध्यक्ष (हेड) बनते— बनते नहीं बना क्योंकि वह एक ऐसा नाम था जिसका शहर में छिड़े दंगों से मतलब था। वह अपने मुसलमान होने को सहता है। अपनी वफादारी में संदेह को सहता है। पर वह यह नहीं सह पाता कि विद्यार्थी उसकी क्लास छोड़कर नंदन, उर्मिला की क्लास में चले जायें। वह फूट—फूट कर रोता है। इस प्रकार गीतांजलि श्री ने हनीफ के अकेला होने

और अलग—थलग पड़ जाने की मानसिकता का भी यथार्थ चित्रण किया है, “जिस तरह मुल्क में ईंटे टूटें, उसमें तो शायद सच यह है कि नींव तो मुल्क की हिली।”<sup>42</sup>

हनीफ जो कि हिन्दू युवती श्रुति से शादी कर सफल दाम्पत्य जीवन जी रहे हैं। उन पर शक, संदहे करना बेमानी लगता है। किन्तु सांप्रदायिक तनाव की इस असामान्य स्थिति में वे अकेले और अलग—थलग पड़ते चले जाते हैं और इसी मानसिकता में जीते हैं। इस प्रकार हमारे देश की शिक्षा—व्यवस्था कैसी हो? इस पर शिक्षाविद् नहीं बल्कि महंत विचार करते हैं। जब विश्वविद्यालय के छात्रों द्वारा मठ का लाउडस्पीकर बन्द करने के लिए ज्ञापन दिया जाता है क्योंकि इससे उनकी पढ़ाई में बाधा उपस्थित हो रही थी। इस पर महंत की टिप्पणी संकीर्ण सांप्रदायिकता की ही परिचायक है— “यह पाप बहुत हो गया, अब प्रायश्चित्त करो। देवी का नाम सुनकर बच्चों की पढ़ाई में अवरोध? क्षमा क्षमा हे जगदम्बे माते।.... आवश्यकता गुरुकुलों की है। हमारी सभ्यता संकट में है। यह क्या हमने अपनी संतानों को सिखा दिया है कि अकबर महान है? अकबर क्रूर विदेशी था। अंग्रेज था।....हमारे देवी—देवताओं को मिथ्या कहते हो? क्षमा—क्षमा—क्षमा।....विधर्मी विधर्म बांचे, वह जनतंत्र। हमें चुप रहने को बाध्य करो, वह जनतंत्र। देश को बंटने दो। हैं? हम अखण्ड भारत फिर बनायेंगे। चुप्पी कायरता है। ....देश प्रेम से ओत—प्रोत हो जाओ। हमारा भारत महान्।.... हमारा भारत हमारा।....हम अब सहिष्णु नहीं हो सकते। हमारे बच्चों की वेदना हमें ललकार रही है। आम जनता का स्वर फूट पड़ा है। जै जगदम्बे।”<sup>43</sup> इस प्रकार धीरे—धीरे मठ की गतिविधियाँ दिन—दिन और तेज

होती चली जाती हैं जिसके शिकार विश्वविद्यालय के छात्र होते हैं। वे अपने शिक्षक हनीफ के खिलाफ मोर्चाबंदी करते हैं क्योंकि वह मुसलमान था। वे ललकारते हैं, “निकालो उसे बाहर, हमारा टीचर कहलाने वाला। ...उसे नंगा करके, मुंह काला करके, गधे पर उल्टा बिठा कर पूरे शहर में घुमाएंगे।”<sup>44</sup> इस प्रकार यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि जो सांप्रदायिकता के घनघोर विरोधी हैं, अपने व्यावहारिक जीवन में भी, उन पर सांप्रदायिकता फैलाने का आरोप लगता है, उनकी बेइज्जती की जाती है।

इस प्रकार गीतांजलि श्री विघटन के खतरों की ओर भी संकेत करती हैं कि भारत के उदार लोकतांत्रिक चरित्र में संकीर्ण अनुदार ताकतों का गिरोह सक्रिय है। वृद्ध पुरुष पात्र दददू सांप्रदायिकता के उन्माद से गुजर रहे मानव को देखकर आहत हैं। दददू को लगता है कि दंगों और आतंकों का माहौल बनाने वाले मनुष्यों के जीवन में संवेदना का क्षरण हो गया है। दददू कहते भी हैं, “अपने को प्रगतिशील समझने वाली पीढ़ी के जीवन से कविता ही गायब है।”<sup>45</sup> जीवन की अमूल्य धरोहर है हंसी, जो दददू के पास थी उसे हमारी पीढ़ी संभाल नहीं पायी। सिर्फ हंसना बचा है उसमें निहित निश्छलता गायब है। दददू हनीफ को बचाने के लिए दंगाइयों के सामने हिमालय बनकर खड़े हो जाते हैं। हनीफ के बारे में छात्रों के उक्त अपशब्द सुनते ही दददू बौखलाकर गाली देने लगते हैं। उन्मादियों की भीड़ दददू को दबोचकर उछाल देती है। गीतांजलि श्री लिखती हैं, “दददू मुंह के बल गिर पड़े थे। उनकी धोती जांघों के ऊपर तक उलग गई थी। और उनकी पतली नंगी टांगे बेइज्जत होकर धूल में पड़ी थी।”<sup>46</sup> इस प्रकार जिस दददू की पीढ़ी ने हमें भौतिकता और अतिरेक

से बचाया था, सांप्रदायिकता के जुनून से उभारा था आज हम उसके सामने लज्जित हैं और दददू हमारे सामने अपमानित। क्या दददू वर्तमान पीढ़ी के प्रति आस्था रख पायेंगे? निःसंदेह नहीं।

दददू अपने अतीत में झाँककर हिन्दू-मुसलमान में परस्पर भेद मानते हुए भी परस्पर आत्मीयता का प्रसार करने का दावा भी करते हैं— “तुम भेदभाव नहीं करते, हम करते थे, मगर हम हिन्दू-मुसलमान में कहीं ज्यादा अपनाया था।”<sup>47</sup> और जीवन के बरअक्स धर्म को तो जरा भी अहमियत नहीं देते— “अरे, टूट गई मस्जिद और टूट गया मंदिर तो क्या होगा? भगवान, अल्लाह से उससे तो जिए—मरे नहीं? इंसान ही तो मेरे? उसे तो मरना ही है।”<sup>48</sup> सचमुच नुकसान अवाम का ही होता है। दंगे में तबाह बब्बू खाँ दर्जी ऐसा ही एक पात्र हैं। जो आखिर जाए तो कहाँ जाये। ऐसे हजारों लोग हैं जो घर द्वार न छोड़ बार बार मरने को तैयार रहते हैं। बब्बू खाँ ठीक ही कहता है कि “दंगे पहले भी होते थे, पर अब ओपन हो गया है।”<sup>49</sup> यह आज की सच्चाई है। श्रुति ठीक ही कहती है कि, “भरी-पूरी इंडस्ट्री चल रही है।”<sup>50</sup> यहाँ ‘इंडस्ट्री’ से अभिप्राय सांप्रदायिकता से ही है। गीतांजलि श्री हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता के मूल में दोनों समुदायों में आपसी अविश्वास को मानते हुए ‘हमारा शहर उस बरस में लिखती हैं, “असल में उस शक-शुबहों के माहौल में हम अनायास ही आपस में ही अविश्वास करने लगे थे। नामों में इतना मतलब भरने वाली प्रवृत्ति के खिलाफ बोलते-बोलते हम खुद उसी प्रवृत्ति के होते जा रहे थे। ऐसे बात करने लगे थे कि जैसे सच में दो ही पहचानें रह गई थीं और सब कुछ हो चुका था हिन्दू या मुसलमान। हिन्दू-मुसलमान हो गई थी हर

चीज, हर रंग, हर शब्द, हर सलाम—नमस्कार, अचकन—धोती, हरा—पीला। जिस किताब घर का नाम सरस्वती था, उसके मुसलमान नाम के मालिक ने सरस्वती काट दिया। जिस होटल का नाम मुगल महल था, उसका सेट सिकुड़ी हुई 'हिंदुई' शब्दावली में दूसरा नाम खोजने लगा।....जिद्दी बरस था, जो हर चीज, हर रंग, हर शब्द, हर लोग को हिन्दू और मुसलमान में बांटने पर आमादा था। इतना कुछ हिन्दू में से निकाल कर, इतना कुछ मुसलमान में से खाली करके कि जो बचा, वह न हिन्दू था, न मुसलमान, न हम में से ही कोई था वह!"<sup>51</sup>

दरअसल धर्म सांप्रदायिकता के मूल में नहीं हैं। क्योंकि धर्म तो लोगों को आपस में जोड़ने का ही काम करता है न कि तोड़ने का। इसे तो राजनेताओं ने अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति हेतु गलत ढंग से इस्तेमाल किया है। 'हमारा शहर उस बरस' का पात्र दददू कहता भी है— "धर्म हल्लेबाजी है ही नहीं....धर्म अपने रीति—रिवाजों से लोगों को जुड़ने का सुंदर सलीका देता है.....कट्टरता धर्म का हिस्सा नहीं है, प्रभुत्व का है.. ..मैं भगवानों को नहीं पहचानता था, पर भक्त था।"<sup>52</sup>

गीतांजलि श्री हिन्दू समाज में फैले दो पूर्वाग्रहों को भी विशेष रूप से प्रश्नांकित और खारिज करती हैं कि मुसलमानों के आने के बाद ही यहां पर्दा और सती प्रथा शुरू हुई और व्यापक स्तर पर हिन्दुओं का नरसंहार हुआ। लेखिका शरद—हनीफ की खीझ को विस्फोटक रूप देते हुए हिन्दुत्ववादी ताकतों पर प्रहार करती है— "क्यों नहीं लोग जानते कि सब से पहले मुसलमान उत्तर नहीं, दक्षिण भारत में आए, मलाबार तट पर व्यापार के लिए, बिना हमला किये? बिना खून—खराबे के वहीं साउथ में बसे और

उधर के राष्ट्रकूट और चालुक्य राजाओं ने, जो हिन्दू थे उनका स्वागत किया। यहाँ तक कि मिली-जुली शादियाँ हुई और इनसे जो बच्चे उन्होंने 'बयासरा' के नाम से नई कौम बनाई। ये मेल था, झगड़ा नहीं। क्यों ये बातें आम जनता तक नहीं पहुँची हैं? क्यों लोग भूल गये हैं? कोई भुलवा रहा है? वे खुद भूलना चाहते हैं? सोचो....।<sup>53</sup>

दूसरा पूर्वाग्रह यह कि हिन्दू स्वभाव से शांत और मुसलमान आक्रामक होता है। डॉ० छोटे जोश के रिसर्च पेपर के माध्यम से लेखिका यह सिद्ध करने का प्रयास करती हैं कि लोगों की ऐतिहासिक-भौगोलिक स्थितियाँ उनकी कौम और मजहब के चरित्र को बनाती हैं— "जहाँ औपनिवेशिक साम्राज्य ने और लोगों के साथ-साथ मुसलमानों में भी अपनी अस्मिता को लेकर डर और चेतना और उम्मीदें पैदा कीं, वहाँ वहाँ कौमवाद ने सिर उठाया। जहाँ मुसलमान की पहचान को खतरा नहीं है, उन देशों में हालात कुछ और हैं...कि इस्लाम का मूल स्वभाव न तो कट्टर ही कहा जा सकता है, न ही हर हालत में उदार....कि मुसलमान भी अपनी परिस्थितियों के हिसाब से इस्लाम की जानिब अपना रुख तय करते हैं।"<sup>54</sup>

अतः गीतांजलि श्री इतिहास के धर्मनिरपेक्ष अध्ययन पर बराबर बल देती रहती हैं। वे इतिहास को सामान्यीकृत करने की संकीर्ण कोशिशों का विरोध करती हैं कि "स्याह और सफेद में नहीं बंटी हैं कौमें, न सच न समाज।"<sup>55</sup> इस प्रकार एक ध्रुवीय विश्व और आर्थिक उदारीकरण के बाद हमारे देश में जो स्थिति बनी है उसका वास्तविक प्रतिबिम्ब है 'हमारा शहर उस बरस'।

### 5. 'जिन्दा मुहावरे' (1993ई०)

प्रख्यात लेखिका नासिरा शर्मा अपने 'जिन्दा मुहावरे' शीर्षक उपन्यास में भारत विभाजन की त्रासदी को भोगते परिवारों की पीड़ा, घुटन, छटपटाहट को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जैसा कि स्वयं लेखिका नासिरा शर्मा 'जिन्दा मुहावरे' की भूमिका में लिखती हैं 'इस उपन्यास की पृष्ठभूमि बंटवारे के बाद का भारत-पाक समाज है इस हकीकत से इंकार नहीं किया जा सकता है। कि आज दोनों देशों में रहने वाली अधेड़ और जवान होती नस्लें बंटवारे जैसी ऐतिहासिक घटना की चश्मदीद गवाह नहीं हैं मगर उसकी अनुगूँज न किए गये गुनाह की प्रताड़ना बन बचपन से उनका पीछा करती उनके दिल व दिमाग पर फसाद और कटाक्ष के रूप में कोड़े बरसाती उन्हें आत्मग्लानि के सरोवर में गर्दन तक डुबोती रही है। जो राजनीति यहाँ बिजली बन कर लोगों पर गिरती है। वही सियासत वहाँ जलते तवे पर चलने की साजिश देती है और दोनों तरफ एक इल्जाम कटी पतंग बन फड़फड़ाता है कि तुम यहाँ के नहीं हो, परदेशी हो, गैर हो। इसलिए दोनों तरफ के बाशिन्दों के दर्द की जमीन एक है। खून का रंग वही इंसानी है बस जरा सा फर्क यह है कि इधर वाले जाने वालों के गुनाह की सलीब पर टांग दिए गये हैं और उधर वाले लगातार यादों के तहखाने से गुजर रहे हैं।'<sup>56</sup>

इस प्रकार उक्त भूमिका से यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि 'जिन्दा मुहावरे' देश के बंटवारे की भयंकर त्रासदी को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। उपन्यास की कथा भारत के उत्तर प्रदेश के शहरों और गांवों तथा पाकिस्तान के करांची शहर के मुहल्लों और उससे जुड़े इलाकों

का समावेश करती है। बंटवारे के समय अपने परिवार के लोगों के विरोध के बावजूद निजाम पाकिस्तान चला जाता है। वहां धीरे-धीरे अपने परिश्रम और लगन के बल पर सम्पन्न तो हो जाता है किन्तु वह अपनी धरती, अपने लोगों को भुलाये नहीं भूल पाता। उसे भारत छोड़ते समय पाकिस्तान अपना वतन लगा था। जैसा कि वह कहता है, “जहाँ जात हैं अब वही हमारा वतन कहलईहे। नया ही सही अपना तो होइए। जहाँ रोज-रोज ओकी खुद्दारी को कोई ललकारिये तो नाही। कोई ओके गरिबान पर हाथ डालै की जुर्रत तो न करिहे।”<sup>57</sup>

जो निजाम उर्फ नन्हें जो मजबूरी में नहीं बल्कि पाकिस्तान को ही अपना सब कुछ समझ कर चला था। वहां जाकर उसको पता चलता है कि उसको जो रंगीन सपने दिखाए गये थे वे कितने झूठे थे। वह सोचता है, “क्या इसी अनजान-वीरान बस्ती का ख्याब लेकर ही चला था? वह जन्नत कहां खो गई? बीसियों बीघा, जमीन बाग, कुआं, घर-बार छोड़कर जिस मुल्क को वह अपना समझ कर आया, वहां दो गज जमीन के लाले पड़े थे।”<sup>58</sup>

वहाँ पहुँचकर भी वह पाकिस्तानी नहीं बन सका बल्कि उसे मुहाजिर यानी शरणार्थी की ही पहचान मिलती है। यह वास्तविकता है कि मुहाजिर यानी शरणार्थी की संज्ञा से अपनी पहचान बना चुके भारतीय भू-भाग से गये मुसलमान पाकिस्तानी नहीं हो सके— आज भी। इसीलिए उन्हें सहृदयी मुल्क में भी समय-समय पर हिंसा शिकार होना पड़ता है। वहां स्थापित होकर समाज में प्रभावशाली स्थान बना लेने के बावजूद निजाम जैसे ताजिर (व्यापारी) का पुत्र मुहाजिरों के साथ हो रही हिंसक वारदातों



के बीच गायब हो जाता है तो सामान्य जीवन जी रहे मुहाजिरों की स्थिति का अनुमान सहजतापूर्वक लगाया जा सकता है।

हिंसा में लापता निजाम का पुत्र फिर कभी वापस नहीं आता है। सिवाय बेबसी के निजाम के हाथ कुछ नहीं लगता। प्रस्तुत उपन्यास में निजाम की विवशता का चित्रण मुहाजिरों की पीड़ा और बेबसी की पराकाष्ठा को दर्शाता है— “शहर की हालत बदल रही थी। बम्ब के धमाके, गोली और कत्ल....जैसे एक डरावना ख्वाब...। यह सब देखकर निजाम दिल ही दिल में सोचता यह शहर कितना बदल गया। क्या सोचा था और क्या हो गया। ख्वाब की ताबीर कितनी हकीकी, मगर कितनी डरावनी? कभी—कभी अकेला बैठा—बैठा, सोचते—सोचते भी ऊब जाता और घबराकर खुद से कहता, यहाँ से भाग कर कहाँ जाऊँ, या रब।”<sup>59</sup>

इस प्रकार लेखिका ने विस्थापितों की मनोवैज्ञानिक समस्या से संचालित मानसिकता की जटिलताओं का यथार्थ चित्रण किया है। निजाम के पाकिस्तान चले जाने पर उसके परिजनों की मानसिक दशा बड़ी कारुणिक होकर उपस्थित होती है। नासिरा शर्मा लिखती हैं, “निजाम के पाकिस्तान चले जाने के बाद, उसके इंतजार की तख्ती सबकी आंखों में लटकी रही। हर आहट, हर खटके पर सबके कान खड़े हो जाते। रहीमउद्दीन चारपाई पर बैठे—बैठे गांव आने वाली पगडंडी की तरफ नजर गाड़े अक्सर सोचते कि किसी दिन थका—हारा नन्हें पैरों की धूल झाड़ता उनके पायताने आकर बैठ जाएगा और उनके कंधे पर अपना थका सर रखकर कहेगा— सच कहत रहे अब्बा घर से बाहर निकलो तो बस जिल्लत और दुख के सिवाए कुछ हाथ नहीं लगत है।”<sup>60</sup> विस्थापित होने की

प्रक्रिया में निजाम कुछ दिन के लिए अपने अतीत की स्मृतियों को भुला देता है परन्तु जब उसके जीवन में थोड़ा स्थायित्व आया तो रह-रह कर अपने घर-परिवार अपनी मंगेतर सुगरा की याद आने लगी। वह सवालों से घिर जाता है— “उस भरे पूरे खानदान में किसे मेरी याद आती होगी। भला। सुगरा....सुगरा के लिए भी तो मैंने लिखा था कि क्या वह कराची आकर बसना पसन्द करेगी?.....उसके माँ बाप भी अब्बा के ख्याल वाले हैं। उन्हें भी मेरा पाकिस्तान आना भला न लगा तो फिर लड़की को क्यों कर अपने से जुदा करेंगे?”<sup>61</sup>

दरअसल, निजाम और अन्य शरणार्थियों की स्थिति आशा और निराशा के बीच लटकते पेण्डुलम की भांति हो गई। जब निजाम को अपने स्वदेश भारत लौटने हेतु वीजा के लिए चक्कर काटने पड़ते हैं तब उसे क्या महसूस होता है, स्वयं लेखिका के शब्दों में “निजाम को महसूस हुआ कि यादों को सूँघते-सूँघते इंसान जी तो सकता है, मगर बिल्ली की तरह अपने पुराने ठिकाने अगर आना भी चाहे, तो हालात उसे इजाजत कब देते हैं कि वह लौट सके?”<sup>62</sup> जिस मुल्क की जमीन पर मनुष्य पैदा हुआ, पला-बढ़ा वही उसके लिए पराया हो गया। गैर-मुल्की। बहुत दिनों बाद निजाम घर लौटता है तो देखता है कि पुराने लोग बड़े अपनत्व के साथ मिलते हैं किन्तु जब वह अपने ही एक खानदानी दोस्त सैफउल्लाह से उसकी बेटी का हाथ अपने बेटे अख्तर के लिए मांगता है तो वह कहता है— “कौन अपनी लड़की नेपाल, अफगानिस्तान, ईरान ब्याहता है? फिर पाकिस्तान क्यों हम ब्याहें? मिट्टी की किस्म इंसान को इंसान से बाँधती है, भले ही उसकी इंसानी हमदर्दी जापानी, चीनी, अफ्रीकी इंसान से हो...।”<sup>63</sup>

इस पर निजाम अनुभव करता है कि अब उसकी हैसियत गैर-मुल्क के एक नागरिक की हो गई है। बंटवारे के बयालीस वर्षों बाद एक ही कौम के लोग एक चने की दो दाल न रहकर दो अलग-अलग दरख्त बन गये हैं। धर्म और संप्रदाय की राजनीति ने लोगों के मन में जहर घोल दिया है। 'जिन्दा मुहावरे' उपन्यास का एक पात्र हसनैन एडवोकेट ठीक ही कहता है, "तारीख को हमने जख्मी किया, उसने हमें घायल किया। हम उस तहखाने से निकल आये, मगर आज फिर इंसानों को तहखानों में बंद करने की साजिश शुरू हो गई है।"<sup>64</sup> निःसंदेह यह साजिश हमारी राजनीति के खिलाड़ियों द्वारा ही शुरू की गई है।

एक ऐसे ही पात्र प्रो० ज्वाला प्रसाद हैं जो पाकिस्तान के लाहौर से भारत आये हैं लेकिन उनके दिलो-दिमाग पर से अपने पुराने वतन की मिट्टी की खुशबू बरकारार रहती है। वे अपने मित्र तालिब को भुला नहीं पाते। वे कहते हैं, "सच पूछे तो बंटवारा हमारी सोच का, हमारी भावना का हिस्सा बन चुका है। उस मानवीय विलाप से हम आज भी निकल नहीं पाए हैं, शायद अगले पचास वर्ष तक इससे निकल भी नहीं पायेंगे। मैं लाहौर का हूँ। ना शहर भूला, ना दोस्त, ना वह खुशबू। आज भी तालिब मुझे ख्वाबों में नजर आता है।"<sup>65</sup>

नासिरा शर्मा ने अपने उपन्यास 'जिन्दा मुहावरे' में विभाजन के कारण विस्थापित मुस्लिम समुदाय की मानसिकता को भारत और पाकिस्तान दोनों देशों की परिस्थितियों में एक-दूसरे के समानान्तर रखकर जाँचने-परखने का प्रयास भी किया है। निजाम की तरह रईस भी हिन्दुस्तान से पाकिस्तान के कराची शहर में शरणार्थी जीवन जीता है। वह वहां जाकर

अनुभव करता है— “हम बंटवारे में बिहार से चटगांव जाकर बसे और वहां से भागकर कराची आना पड़ा। यहां पर बिहारी होने की वजह से मार खाई। खैर, छोड़ो असलियत तो यह है कि सियासत ने हमें अहसास और सोच की जमीन पर जरूरत से ज्यादा एक्सपोज किया है। अब एक जगह चैन से बैठना हम जैसों के लिए मुश्किल हो गया है।”<sup>66</sup>

हिन्दुस्तान में एक ही जगह पर बसने वाले इमाम के परिवार के लोग और मंगरू काका, सुंदर काकी, ब्रजा, ब्रजबहू और लच्छू एक साथ मिलकर रहते हैं। इनकी वफादारी से खुश होकर इमाम ने इन्हें जमीन देने को कहा पर ब्रजा जमीन की बजाय साथ रहता पसंद करता है। मंगरू काका के परिवार के साथ हिन्दू-मुस्लिम के जाति-धर्म के भेदों को पार करता इमाम बंटवारे के बाद भी परिवार की तरह मिलजुल कर रहते हैं, आज भी कई क्षेत्रों में लोग एक परिवार की तरह रहते हैं। और अपनी परेशानियाँ बांटते हैं। दो भिन्न जातियाँ होते हुए भी जिन व्यक्तियों में मैत्री संबंध थे उसे बटवारों की रेखाएँ समाप्त नहीं कर सकीं। निजाम के बड़े भाई को तो बंटवारे से बेहद दुख होता है, वह जावेद से कहता है “एक हाथ कट जाने के बाद इंसान को कैसा महसूस होता है, यह तुम नहीं मैं जानता हूँ.....मैं जिसे सियासत से नफरत है.... शदीद नफरत है।”<sup>67</sup>

विस्थापितों की मानसिकता के द्वन्द्व को जन्मभूमि से लगाव और पुनर्स्थापन के मार्ग में अवरोधी शक्तियों की सक्रियता की सहज और स्वाभाविक परिणति के रूप में देखा जा सकता है, परन्तु वह पीढ़ी जो नये मुल्क में न केवल पैदा हो बल्कि परवान चढ़े, यदि उसके भी अस्तित्व को संकट का सामना करने पड़े तो स्थिति की गंभीरता का अनुमान सहज ही

हो सकता है। आबादी की अदला-बदली के बाद पाकिस्तान गये लोगों की अगली पीढ़ी को भी संकट से मुक्ति नहीं मिली— यह एक वास्तविकता है। निजाम का बड़ा बेटा तो खो ही जाता है छोटा बेटा बेटा अख्तर भी पाकिस्तान के घुटन भरे माहौल में जीता दिखाई देता है, वह कहता है, “यह तर्जुबा कितना तकलीफदेह होता है कि जहाँ आप पैदा हों, जिस जमीन को आप अपना वतन समझें, उसे बाकी लोग आपका गलत कब्जा बताएं। कदम-कदम पर यह अहसास दिलाएं कि तुम यहां के नहीं बाहर के हो। हिन्दुस्तान के गांव से निकल कर आए हो। तुम्हारी पहचान एक पनाहगीर की और यह ‘टेक इट इजी’ तक का मसला नहीं रह जाता है।”<sup>68</sup>

इस संदर्भ में अख्तर खां पठान ठीक ही लिखते हैं, “बंटवारा किसी भी कारण हुआ हो लेकिन भारत पाकिस्तान की राजनैतिक स्थिति आज भी कमोबेश एक समान ही है, जैसी बंटवारे से पहले थी। आम इंसान को इससे पहले कुछ भुगतना पड़ा और आज भी भुगत रहा है। इस अधूरे, अव्यवस्थित और अमानवीय बंटवारे ने हिन्दू-मुस्लिम दो कौमों की मानवीय संवेदना पर ही नहीं अपितु एक ही कौम के एक परिवार की मानवीय संवेदना पर भी असर किया। अनेक लोगों को भावनात्मक, विचारात्मक, मनोवैज्ञानिक, मानसिक और आत्मिक स्तरों पर प्रभावित किया।”<sup>69</sup>

संक्षेप में, नासिरा शर्मा ने अपने ‘जिन्दा मुहावरे’ नामक उपन्यास में बंटवारे से उपजी शरणार्थी समस्या को, शरणार्थियों की मनोदशा तथा उनके संघर्षों को अपनी समग्रता के साथ प्रस्तुत किया है। लेखिका हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में स्थित अपनी जड़ों से अलग हुए लोगों के

संघर्ष और उनकी मानसिकता को यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत करती हैं। प्रो० गोपालराय के शब्दों में, “जिन्दा मुहावरे’ भारत—विभाजन की त्रासदी पर आधारित उपन्यास है। विभाजन ने भारत में रह गये मुसलमानों के लिए अनेक समस्याएँ पैदा कीं जिनमें सबसे दुखद उनका मुख्यधारा से अलगावबोध था। आज यह बात अनुभव की जा रही है कि देश का बंटवारा मुसलमानों के लिए भी विनाशकारी ही था। यहां तक कि पाकिस्तान जाने वाले युवकों को भी वहां की मुस्लिम आबादी ने हृदय से नहीं अपनाया। धर्मान्धता की तो जीत हुई, पर मनुष्यता का हनन हो गया। ‘जिन्दा मुहावरे’ इसी मानव नियति का साक्षात्कार कराता है।”<sup>70</sup>

निजाम का पैंतालीस वर्ष के लंबे अरसे के बाद हिन्दुस्तान आने का ख्वाब पूरा होता है। निजाम ने घर में कदम रखा तो अपनी भाभी शमीमा से कहा, “भाभी सलाम...। बिलाई की तरह सूंघता—सूंघता आखिर हम अपने ठिकाने को लौट आए।”<sup>71</sup> यहाँ आने के बाद निजाम को भी यह बात कचोटती रही कि जिस चीज को हासिल करने के लिए उसने जिन्दगी के अधिकतर वर्ष गंवा दिये। वह तो उसके हर रिस्तेदार के पास मौजूद है फिर उसने हासिल क्या किया? निजाम यहीं रुकना चाहता है पर वीजा नहीं बढ़ पाता। इस प्रकार जो नौजवान निजाम अपनी मर्जी से पाकिस्तान गया था और मुहाजिर बनने के बाद आज वर्षों के बाद फिर से बूढ़ा पैंसठ साल का टूटा हुआ, अपने लोगों की याद लिए न चाहते हुए भी मजबूरी में फिर पाकिस्तान जा रहा था— “सबीहा ने इमाम को सलाम किया और गयास को लिपटा माथे को चूमा और आंखों में आए आंसुओं को पिया। सब एक सरे से बड़ी मुश्किल से अपने आपको जुदा कर पाए। बाप को संभाल

अख्तर आगे बढ़ा। चलते-चलते निजाम ने पीछे मुड़कर देखा, कस्टम के आखरी छोर तक जहां नजर पहुंच सकती थी। हाथ दोनों तरफ से हिलाए जाते रहे।<sup>72</sup>

संक्षेप में, लेखिका नासिरा शर्मा ने 'जिन्दा मुहावरे' उपन्यास आने वाली नस्लों के नाम संदेश देते हुए उद्देश्यपूर्ण लिखा है। 'जिन्दा मुहावरे' उपन्यास लिखते हुए लेखिका ने यह विश्वास प्रकट किया है कि, "भविष्य में आनेवाली नस्लों के सामने बुर्जुगों का शर्मिदा तर्जुबा और उसकी अदायगी की कीमत कुर्बानी की शक्ल में उनके सामने होगी। विश्वास है कि वे मानवीय पीड़ा और काले अनुभवों से सबक लेगी और ऐसी राजनीति से हाथ खींचेगी जो अभिशाप बन दिलों को काटती, जमीन को बांटती, घरों को उजाड़ती, बारूद के ढेर पर बैठे इंसान को रूहानी तौर पर लगातार कमजोर बनाती जा रही हैं। मेरी कोशिश इस उपन्यास के जरिए सिर्फ इतनी है कि मैं 'जिन्दा मुहावरे' से पाठकों को उस सेतू पर लाकर खड़ा कर सकूँ जो एक इंसान से दूसरे इंसान तक जाता है और जिसके नीचे मोहब्बत का समन्दर ठाठें मारता है।"<sup>73</sup>

#### 6. 'सूखा बरगद'(1986ई०)

प्रख्यात कथाकार मंजूर एहतेशाम ने अपने 'सूखा बरगद' उपन्यास में देश-विभाजन के बाद सामूहिक मुस्लिम मनोभाव को गहरी संवेदनशीलता और तार्किक विचारशीलता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। हमारे देश में मजहब किस प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक संबंधों में फाँक पैदा करता रहा है, इस यथार्थ को तथा हिन्दू-मुस्लिम संबंधों की समस्या

को मंजूर एहतेशाम ने गहरी संवेदनाशीलता के साथ प्रस्तुत किया है।

उपन्यास के आवरण पर छपी विज्ञप्ति के अनुसार, “धर्म, जातीयता, क्षेत्रीयता, भाषा और सांप्रदायिकता के जो सवाल आजादी के बाद हमारे समाज में यथार्थ के विभिन्न चेहरों में उभरे हैं, उनकी असहनीय आंच इस समूची कथाकृति में मौजूद है। ये सारे सवाल ही एक ऐसे बरगद की झूलती जड़ें बनकर फैले हुए हैं, जिसके नीचे किसी भी कौम की तरक्की और खुशहाली असंभव है। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण है यह जानना कि इस त्रासदी के पीछे किसका हाथ है? कहना न होगा कि इस प्रश्न का उत्तर देते हैं वे तमाम लोग जो इस समाज में शोषित, पीड़ित, अपमानित और लांछित हैं, लेकिन आज भी टूटे नहीं हैं।”<sup>74</sup>

प्रस्तुत उपन्यास के केन्द्र में रशीदा बिया, उसके पिता अब्बू (अब्दुलवहीद खाँ) और सुहैल हैं। अब्बू धार्मिक कट्टरता से दूर एक उदार इंसान हैं। वे देश का बँटवारा होने पर पाकिस्तान नहीं जाते। वे पाकिस्तानियों को अजनबी मानते हैं। आजीवन उन्हें संकीर्ण संप्रदायिक मनोवृत्ति वाले लोगों से जूझना पड़ता है। पर सामाजिक व आर्थिक दबावों के सामने वह घुटने नहीं टेकता। उसका धार्मिक विद्वेष रहित समाज की स्थापना करने का स्वप्न पूरा नहीं होता। ‘सूखा बरगद’ उपन्यास उन शक्तियों की पड़ताल करने का प्रयत्न करता है जो इस सपने को पूरा नहीं होने देतीं।

सुहैल के सांप्रदायिक भटकाव को उपन्यासकार मंजूर एहतेशाम ने आम मुसलमान के भटकाव के रूप में प्रस्तुत किया है। सुहैल में सांप्रदायिक संकीर्णता का भाव उसके मामू, अम्मी, असगर साहब आदि कट्टर धार्मिक प्रवृत्ति वाले लोग भर देते हैं। जब सुहैल अपने मामू को सलाम नहीं करता



तो उसके मामू व्यंग्यात्मक स्वर में कहता है— “एक नस्ल के लिए एक ही इंकलाबी काफी होता है बेटे। बाप के कदमों पर चले तो औंधे मुंह गिरोगे।”<sup>75</sup>

लेखक ने भोपाल शहर में बंटवारे के समय भी सांप्रदायिक सद्भाव का माहौल तलाशा है। लेकिन ज्यों ही इसका नाम तात्या टोपे नगर रखा जाता है तो इससे हिन्दू—मुस्लिम अलगाव की नींव पड़ने लगती है। मंजूर एहतेशाम लिखते हैं, “एक मुस्लिम रियासत होने के बावजूद बंटवारे के समय भी यहाँ कभी हिन्दू—मुस्लिम तनातनी या झगड़ा फसाद नहीं हुआ था। बुर्जुगों की जबान में कहा जाए तो यहाँ हिन्दू—मुस्लिम भाई—भाई की तरह रहते थे। ज्यादा तादाद गरीबों की थी— हिन्दू भी और मुसलमान भी इसलिए वैसे भी लड़ने के लिए दोनों का एक ही दुश्मन था। बंटवारे के बाद यहाँ पाकिस्तान से आकर बसे सिन्धी और पंजाबी शरणार्थी भी थे और आज ऐसे मुसलमान भी जो देश छोड़कर पाकिस्तान जाना नहीं चाहते थे। पुरानी आबादी में ऐसे हिन्दू भी थे और मुसलमान भी, जो नवाब साहब के नाम पर अपना सिर कटवा दें, और ऐसे भी जो उनसे नफरत करते थे।”<sup>76</sup>

असगर साहब सुहैल को उसके अब्बू द्वारा एक बार सूअर खाने की घटना बताकर उसके बाल मन पर धार्मिक संकीर्णता का पौधा रोप देते हैं। सुहैल अपने अब्बू का प्रतिकार करते हुए कहता है “कौन हिन्दू गाय खाता है? और मुसलमान तो उन्हें सुअर खाने से नहीं रोकते, वह कौन होते हैं हमें गाय खाने से रोकने वाले? माम ठीक कहते हैं! इस शहर को राजधानी बनाया ही इसलिए गया था कि यहाँ मुसलमानों का पत्ता साफ हो जाए। और असगर साहब क्या गलत कहते हैं? सही है, इसलिए शहर को

राजधानी बनाया गया कि धीरे-धीरे मुसलमान गिनती में कम हो जाएँ और हिन्दू उनके सिर पर जूतें बजाएँ।”<sup>77</sup>

इस प्रकार सुहेल ऐसे लोगों के ही प्रमाद में आकर धार्मिक भटकाव का शिकार हो जाता है। उसके अब्बू अब्दुल मियाँ खाँ उसे इस धार्मिक संकीर्णता से बाहर निकालने का भरसर प्रयत्न करते हैं, उसे अपनी तरह ही धार्मिक सद्भाव की नींव पर खड़ा करना चाहते हैं, तभी तो वह कहते हैं— “अरे सुहेल मियाँ, यहाँ तो कई करोड़ ऐसे भी हैं, जिन्हें न गाय से कुछ लेना न सुवर से। दाल-सब्जी खाते हैं, आराम से रहते हैं। यार, अब आपको किस तरह बताएँ यह गाय और सुवर का मसला बड़ा तारीखी, बहुत पुराना है। हिस्ट्री में तुम लोगों ने 1857 के बारे में पढ़ा होगा कि किस तरह इस गाय और सुवर के मामले ने अंग्रेजों की हुकूमत को हिला डाला था? पढ़ा है ना? इंकलाबियों ने मुसलमान सिपाहियों को अपने साथ मिलाने के लिए उनमें यह खबर फैला दी कि अंग्रेज की बन्दूक में चलने वाले कारतूसों की पैकिंग सुवर की चर्बी से बनती है और हिन्दुओं में यह कि गाय की चर्बी से। शायद पूरी तारीख में पहली बार, हिन्दू-मुस्लिम के बीच, आम तौर पर नफरत फैलाने का यह फर्क किसी अच्छे काम के लिए इस्तेमाल किया गया।”<sup>78</sup>

भारतवर्ष में पनपी सांप्रदायिकता निःसंदेह अंग्रेजी साम्राज्य की देन है। उन्होंने अपने साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए भारतीय जनता में ‘फूट डालो’ और राज करो’ की नीति अपनायी। विभिन्न धर्मों के नाम पर लोगों को बाँटना शुरू किया और भारतीय राजनीति में सांप्रदायिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना शुरू किया। उनकी यह नीति कारगर सिद्ध हुई जिसकी

चरम परिणति हम भारत-पाक विभाजन के रूप में देखते हैं। विभाजन के दौरान जो सरेआम कत्लेआम हुए, शरणार्थी समस्या उभरी वह बीसवीं शताब्दी की सबसे भयंकर त्रासदी थी।

जब सुहैल के अबोध मन में यह बात गहरे तक बैठाई गई कि सारे मुल्क में हर जगह तो हिन्दुओं की तादाद मुसलमानों से ज्यादा है तो उसके अब्बू का यह जवाब सांप्रदायिक संकीर्णता फैलाने वाले लोगों के गाल पर एक कड़ा तमाचा लगाता है— “यही हिन्दुओं की तादाद और मुसलमानों की तादाद का खेल एकबार इस मुल्क को दो टुकड़ों में बँटवा चुका है, हजारों लोगों को हलाकत और बर्बादी में डाल चुका है।”<sup>79</sup>

इस प्रकार विजेता का अहंकार और अधिकार एवं पराजित की आत्मरक्षा की भावना से उसका सामाजिक बहिष्कार करना उन्हें एक दूसरे से इतना दूर ले गया कि सदियों एक साथ रहने पर भी वे वे अंदर से एक-दूसरे से कटते गये और राजनीति के खिलाड़ियों द्वारा जरा सी हवा देने से ही नफरत की दबी हुई चिंगारी भड़क उठी। इसके भड़कने का लाभ किसी को भी नहीं हुआ, दोनों धर्म मनुष्य की भलाई का दावा करते-करते मनुष्य को ही नष्ट करने लगे। ‘सूखा बरगद’ उपन्यास में मंजूर एहतेशाम लिखते हैं, “ऐसे-ऐसे, जो साल हा-साल से हम-निवाला, हम प्याला थे, एक-दूसरे के खिलाफ बड़ी से बड़ी झूठी गवाही देने पर तैयार थे। मजहब, जो कल तक चार-दीवारी के अंदर का मसला था, एकदम सड़कों पर निकल आया था। सारे मुल्क में इंसान गायब, हिन्दू था या मुसलमान। और वह मुकद्दमा था, जिसे हर सूरत में जीता जाना था। हुआ क्या? वही जिसका सबसे ज्यादा खतरा था। अंग्रेज बहादुर का

फैसला इतना हकीकत पसंद था कि दोनों ही कौमें जीत गई।<sup>80</sup>

यह एक वास्तविक सच्चाई है कि अखण्ड भारत का मजहब के आधार पर जो विभाजन हुआ वह लाखों लोगों की मर्जी के खिलाफ हुआ यानी उनकी भावनाओं के साथ खिलवाड़ किया गया था। वतन से अपनी जान बचाकर भागने वालों में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जो जाते समय खुश हो।

जिस जमीन को बचाने के लिए हिन्दू-मुसलमान कभी एक होकर लड़े थे उसी जमीन से अपना घर-परिवार, धन-दौलत सब कुछ छोड़कर भागना पड़ा। किसी दूसरे ने उन्हें पराजित कर वहाँ से नहीं निकाला था, बल्कि चंद स्वार्थी नेताओं के बहकावे में आकर धर्मोन्मत्त होकर उन्होंने खुद अपने लिए विषवृक्ष को बो लिया था 'सूखा बरगद' के अब्दुल मियाँ खाँ इसी प्रकार सोचते हैं। उनका मानना है कि, "जिन्हें एक अलग मुल्क चाहिए था, वह मुसलमान चांद-तारे के परचम के साए में पाकिस्तान चले गये, कुछ जो नहीं जाना चाहते थे, फसादों में हलाक हुए। इसी तरह जो हिन्दू अपना घर-बार छोड़कर एकदम से बना दी गई एक सरहद के पार किसी सूरत जाने पर राजी न था, उसे मार-मार कर अपना घर छोड़ने पर मजबूर किया गया। बाकी सारा मुल्क इस अफरातफरी, कत्ल, गारतगरी का खामोश तमाशाई था। हम जैसे मुसलमान जिनकी जात का कोई सीधा नुकसान इस बंटवारे से नहीं था या ऐसे ही हिन्दू, फटी आंखों और खड़े कानों से सब कुछ करना भी चाहा तो नफरत की तेज धार में उसके गांव उखड़ गए और वह इस तरह से खत्म हुआ कि दोनों में से किसी भी कौम की आंखों में शहीद का रूतबा न पा सका।...उस जमाने में बंटवारे

से दस साल पहले से लेकर बंटवारे तक, जो इंसानी हकों की पायमाली, जुल्मों जबर्दस्ती और दुश्मनी मजहब के नाम पर देखेने में आई, उसे देखकर लगा इंसान के लिए इंसानों का बनाया कानून ही ज्यादा बेहतर हो सकता है।<sup>81</sup>

सांस्कृतिक संक्रमण के इस पूरे दौर में विस्थापन की पीड़ा सबसे अधिक त्रासद थी। पौधे को तो उखाड़कर दूसरी जगह लगाया जा सकता है पर गहरी जड़ों वाले विशाल वटवृक्ष को एक जगह से उखाड़कर दूसरी जगह लगाना अत्यन्त असंभव है। अपनी जमीन से उखड़ने का दर्द आज भी विस्थापितों के हृदय को सालता रहता है। अपने ही घर—परिवार में, गाँव में यदि दूसरों के साथ भी रहना पड़े तो वह ज्यादा अच्छा है अपेक्षाकृत इसके कि किसी नई, अनजान अपरिचित जगह में सहधर्मियों, सजातियों के साथ रहना पड़े। विभाजन के दौरान जो लोग पाकिस्तान चले गये थे उन्हें वहाँ की जनता हृदय से स्वीकार नहीं कर पायी और आज भी यही स्थिति है कि उन्हें सिर्फ एक शरणार्थी की पहचान दी जाती है। अतः अजनबी मुसलमानों के साथ जिन्दगी बिताने से वाकई यह अच्छा है कि अपने से लगने वाले हिन्दुओं के बीच ही रहा जाए। ऐसा ही विचार 'सूखा बरगद' के सुहेल मियाँ का है। वह कहता है— "हमारे बाप बेवकूफ नहीं थे जो सन् 47 में यहाँ रहना तय किया। अगर सिर्फ कमाई देखी जाए तो उन जितने पढ़े—लिखे लोगों के लिए एक नये मुल्क में कहीं ज्यादा संभावनाएँ थी। लेकिन अजनबी मुसलमानों के बीच चाहे वह अरब के हों चाहे पाकिस्तान के—जीने और मरने से बेहतर अपने—से हिन्दुओं के बीच जीवन बिताना था।"<sup>82</sup>

इस प्रकार विभाजन के दौरान हुई आबादी की अदला-बदली में सारे ही मुसलमान पाकिस्तान नहीं गये, कारण नई जगह में, अपरिचित वातावरण में अपने आपको एडजस्ट करना काफी मुश्किल था और फिर अपनी जमीन से मोह तो था ही। 'सूखा बरगद' के अब्बू मियाँ भी ऐसे ही मुस्लिम पात्र हैं जो पाकिस्तान नहीं जाते और कारण पूछने पर कहते हैं— "मैं किसी मजबूरी में यहाँ नहीं रुका। चाहता तो खुला रास्ता था पाकिस्तान जाने का। मालों— असबाब के नाम पर ऐसी कौन-सी जागीरें मेरे नाम थीं कि पैर पकड़कर जाने से रोकतीं। लेकिन मैं वहाँ अजनबियों के बीच क्यों जाता और जाकर क्या करता?"<sup>83</sup>

इस प्रकार एक बहुत देश को दो टुकड़ों में बाँटा गया धर्म की दुहाई देकर और धर्म के आधार पर भारत-पाक के रूप में अखण्ड देश का विभाजन कर दिया गया था। कुछ सत्तालोलुप नेताओं की हठधर्मिता से आम आदमी की मानसिकता को समझे बिना आबादी की अदला-बदली शुरू हो गई थी लेकिन विडम्बना तो यह थी कि वे नेता स्वयं कट्टर हिन्दू या मुस्लिम थे केवल जनशक्ति का सामूहिक दोहन ही उनका राजनीतिक लक्ष्य था। जबकि आम आदमी तो अपनी मातृभूमि, अपनी पुश्तैनी जमीन से बहुत गहरे तक जुड़ा हुआ था। मंजूर एहतेशाम ने अपने 'सूखा बरगद' उपन्यास में भारत में रह गये मुसलमानों की मानसिकता को सशक्त अभिव्यक्ति दी है— "यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है कि एक मुल्क दो टुकड़ों में, मजहब के नाम पर बांट दिया गया और लाखों लोगों की मर्जी के खिलाफ ऐसा हुआ। मजहब चाहे जितनी बड़ी सच्चाई हो, संस्कार को कैसे नकारा जा सकता है? यू०पी० का मुसलमान अपने संस्कारों में यू०पी०

के हिन्दू के अधिक निकट होगा या पंजाब के मुसलमान के? लेकिन एक आम आदमी के लिए धर्म का महत्व नहीं, यह भी कहना झूठ होगा। हमारे अब्बू ने धर्म और संस्कार में से संस्कार को चुना और असूलन हमें पाकिस्तान या वहाँ बसने वालों से कुछ लेना देना नहीं, लेकिन उन क्षणों की सच्चाई से भी क्या इंकार किया जा सकता है, जब न चाहते हुए भी हम उन लोगों के बारे में सोचने पर मजबूर हो जाते हैं? इन्हें हम अपने कमजोर क्षण कह सकते हैं।<sup>84</sup> यह बिलकुल सच है कि आज भी हम अपने कमजोर क्षणों से निजात नहीं पा सके हैं। इन्हीं कमजोर क्षणों की कमजोरी का फायदा किंचित स्वार्थी लोग तब भी उठाते रहे और अब भी उठा रहे हैं। ये स्वार्थी—तत्व अफवाहें फैला—फैलाकर, इतिहास का सहारा लेकर आम जनता को भड़काते हैं जिसकी परिणति सांप्रदायिक दंगों में होती है। ‘सूखा बरगद’ के अब्बू मियाँ ठीक ही कहते हैं कि “किसी भी मुल्क को बनाने या बिगाड़ने में सबसे बड़ा हाथ वहाँ की ज्यूडिशरी और जर्नलिस्ट्स का होता है।.....पॉलिटिशन्स बुनियादी तौर पर क्या है? आज बहुत नारे लगाए जाते हैं कि सियासत गुंडों का पेशा है अगर ऐसा है तो उनकी गुंडागर्दी लोगों की नजरों के सामने लाने में अब्बल तो यहाँ का प्रेस नाकाम है, दूसरे कानून, जिसने गुण्डों को इस तरह खुला हुआ छोड़ रखा है। अगर प्रेस अपनी जिम्मेदारी और कानून अपना फर्ज ईमानदारी से निभाए, तो देखें यह गुंडे क्या करते हैं। और खैर, कानून तो फिर भी बड़े दांव—पेंच की चीज है, इस मुल्क में अगर अच्छे जर्नलिस्ट ही हों तो आधे से ज्यादा मुश्किलें हल हो जाएँ।<sup>85</sup> निःसंदेह मंजूर एहतेशाम पत्रकारिता जिसे लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ माना जाता है, के नैतिक पतन की ओर भी

स्पष्ट संकेत करते हैं।

सुहेल गीता शर्मा नाम की लड़की से प्रेम करते हैं। और इसी प्रेम प्रसंग के चलते वह परीक्षा में पूरक रह जाता है लेकिन इसका दोष वह कॉलेज प्रशासन पर लगाता है क्योंकि कॉलेज किसी हिन्दू मालिक का है। वह प्रो० रजा की बर्खास्तगी जो कि उसके रिजल्ट के बहुत पहले ही हो गई थी, से जोड़कर देखता है— “जो कॉलेज वाले एक मुसलमान हेड ऑफ द डिपार्टमेंट तक को इस तरह जलील करके नौकरी से निकलवा सकते हैं, वह होने देंगे मुझे अच्छे नंबरों से पास।”<sup>86</sup> रशीदा बियाँ सुहेल के इस जवाब से अपने अंदर चुभन—सी महसूस करती है। वह कहती है “हिन्दुस्तानी —हिन्दुस्तानी का दम भरते—भरते एक लड़की के इश्क में नाकामी आपको इतना बौखला दे कि आप न सिर्फ हिन्दू और मुसलमान, बल्कि उनके बीच नफरत और दरी की पैरवी करने लगे? सारी बहसें, सारे इतिहास में से छोटकर जो उदाहरण कल तक आप अपने लिए इकट्ठे करते रहे थे, वह एक पल में अपनी बुनियाद ही खो दे? बल्कि इससे भी आगे बढ़कर देखा जाए तो वह इमारत ही गिराकर, उसके कंकर—पत्थर बीनकर, आप दूसरों को मारने के लिए इस्तेमाल करने लगें? डर मुझे सुहेल से लाख रहे हों, उम्मीद यह नहीं थी। और फिर जिस तरह उसने हिन्दू—मुस्लिम की बात निकाली, वह अपने आप में कितनी हास्यास्पद थी।”<sup>87</sup>

कथाकार मंजूर एहतेशाम सुहेल और विजय के वार्तालाप द्वारा भी सांप्रदायिकता का उद्घाटन करते हैं। सुहेल विजय से कहता है— “यहीं कि यह इण्डिया है और मैं यहाँ का एक सेंकिड क्लास सिटीजन। मैं चाहे



जो भी सोचूँ, जो भी करूँ, मुसलमान होने के नाते एक हिन्दू की बराबरी कभी नहीं कर सकता। यहाँ मेरी नहीं, जिनका मुल्क है, उनकी चलेगी।”<sup>88</sup>

भारतीय मुसलमानों को विभाजन के कारण एक और समस्या का सामना करना पड़ा, वह है उनकी राष्ट्रीयता पर संदेह करना। यह समस्या पाकिस्तान के संदर्भ में विशेष रूप से उभर कर आयी। भारत का विभाजन हिन्दू मुस्लिम सांप्रदायिकता के आधार पर हुआ था। पाकिस्तान मुस्लिम बहुल प्रदेशों को मिलाकर बना था। पाकिस्तान में आज तक हजारों मुसलमान ऐसे बसे हुए हैं जिनके भाई-बन्धु भारत में रह रहे हैं। सन् 1965 के भारत-पाक युद्ध के समय में भारतीय मुसलमानों को संदेह, भय, आतंक और अंतर्विरोधों का सामना करना पड़ा है। भारत में रह रहे मुसलमानों को शक की नजर से देखे जाने का वर्णन ‘सूखा बरगद’ में मंजूर एहतेशाम ने भी किया है। ‘सूखा बरगद’ के विजय और सुहेल में बहस छिड़ती है। सुहेल कहता है— “मुसलमान को इतनी इज्जत दी ही कहाँ गई कि उसमें इतना सेल्फ-कान्फिडेंस आ सके। उसे तो ज्यादा से ज्यादा यह समझ लिया गया है कि पड़ा रहने दो। जाना तो इसे पाकिस्तान ही है। जब तक हो सके बर्दाश्त कर लो।”<sup>89</sup>

सुहेल को सबसे बड़ा दुख इसी बात का है कि उन्हें शक की निगाह से देखा जाता है। सुहेल व्यंग्यात्मक स्वर में कहता है— “हिन्दू को यह साबित नहीं करना पड़ता कि उसका मुल्क हिन्दुस्तान है।” इस पर विजय कहता है— और तुम से कौन सबूत माँगता है हिन्दुस्तानी होने का? सुहेल कहता है— ‘न सबूत ही माँगते, ना ही यह मानते कि यह हमारा मुल्क है।’<sup>90</sup> इस प्रकार वे संबंध जो गहरे प्रेम के परिचायक थे वे धीरे-धीरे शक

के कारण समाप्तप्रायः होते चले गये। मंजूर एहतेशाम ठीक ही लिखते हैं, “और क्या सचमुच कोई भी इतना तनावर, इतना विराट दरख्त—बरगद अपनी जड़ों पर ही खड़े खड़े सूख भी सकता है?”<sup>91</sup>

संक्षेप में, मंजूर एहतेशाम ने अपने ‘सूखा बरगद’ उपन्यास में स्वातन्त्र्योत्तर भारत में मुसलमानों के अजनबीबोध से ग्रस्त होने, विश्वास संकट से गुजरने, राष्ट्रीय जीवन धारा से कट जाने तथा बहुसंख्यकों के लिए अविश्वसनीय हो जाने की दुःखद स्थिति का गहरी संवेदनाशीलता के साथ अंकन किया है। डॉ० रामचन्द्र तिवारी के शब्दों में, “सूखा बरगद” उपन्यास में सब कुछ गहरी संवेदना के स्तर पर घटित होता है। केवल वैचारिक बहस नहीं कराई गई है। निश्चय ही यह उपन्यास मानवीय संवेदना और प्रगतिशील सोच के स्तर पर एक श्रेष्ठ कृति है।”<sup>92</sup>

### 7. ‘वे वहाँ कैद हैं’ (1994ई०)

प्रख्यात कथाकार प्रियंवद ने अपने लघु उपन्यास ‘वे वहाँ कैद हैं’ में बड़ी ही संवेदनाशीलता के साथ हिन्दुत्ववादी सांप्रदायिकता और उसके भीतर से पनपते हुए फासीवाद के भयानक चेहरे को उभारने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत उपन्यास का केन्द्रीय पात्र चिन्मय है जो इतिहास का बुद्धिजीवी छात्र है। किन्तु अपनी तमाम बौद्धिकता, तार्किकता और शराफत के बावजूद वह मठ के प्रभावशाली उन्मादी शक्तियों के हाथ का खिलौना बन जाता है जहाँ लूका और सुक्खी बाबू जैसे आपराधिक तत्व भी गुटबाजी और धन बल के साथ पनाह पाते हैं। चिन्मय गलत राजनीति का शिकार

होकर त्रिशूल और भगवा पताका में ही देश का भविष्य देखते लगता है। कथाकार प्रियंवद लिखते हैं— “डिब्बी खोल कर चिन्मय ने अविनाश की तरफ बढ़ा दी। अविनाश ने उठाकर देखा। एक छोटा सा त्रिशूल था करीब छह इंच का चमकता हुआ। क्या है यह? त्रिशूल है। क्यों? हिन्दुओं को पूरे शहर में बाँटने हैं अब।”<sup>93</sup>

चिन्मय हिंसा का जवाब हिंसा से देने का हामी है। वह हिन्दुओं के जानबूझकर माँस खाने और शराब पीने का भी सतर्क जवाब देता है, “मतलब बुनियादी तौर पर हिन्दू हिंसक नहीं होता। करुणा होती है उसके मन में। यह सब खाने से करुणा मर जाती है...इसलिए”<sup>94</sup> लेकिन सांप्रदायिक विद्वेष के जवाब में साम्प्रदायिक वैमनस्य ही बढ़ता है, प्रेम—सद्भाव नहीं। चिन्मय का यह कहना भी गलत है कि, “जब कोई आतंक एक झटके से अंदर उतार दिया जाता है तब वह सारी जिन्दगी नसों में खून के साथ दौड़ता है। और चिता तक साथ जाता है।”<sup>95</sup>

दादू अविनाश और प्रातू चिन्मय की निरन्तर सांप्रदायिक संकीर्णता से दुखी होते हैं। प्रातू दादू से कहती है, “युद्ध...घृणा...हिंसा और बर्बरता के बीच कहीं कुछ भी शेष नहीं बचा है जैसे। यहाँ की बस्ती में बच्चों से कोई चित्र बनाने के लिए कहो तो वह दीवार पर फूल या चिड़िया नहीं टैंक और बंदूकें बनाते हैं। हर घर में हत्या की एक परछाई है। उन्माद, क्रोध और हिंसा के बुलबुले हैं। अपाहिज, विधवाओं और अनाथों से भरा है हर घर। ..चारों ओर खून और लोहा बिलकुल देवताओं की तरह पूजा जाने लगा है। ..कैसी दुनिया हो गई है यह? तुम लोगों ने क्या ऐसी ही लहुलूहान दुनिया रचनी चाही थी?”<sup>96</sup>

जब शहर में सांप्रदायिक तनाव व्याप्त हो जाता है। चिन्मय हिन्दू संगठन का बड़ा नेता है। अतः वह हिंसा के समर्थन में हिन्दू राष्ट्र की बातें करता है। वह अविनाश से कहता है, “हर हिन्दू घर में भगवे झण्डे लगाये जायेंगे। हिन्दू तिलक लगाकर निकलेंगे और उस दिन से रोज रात को ठीक नौ बजे हर घर में घण्टे, घड़ियाल और शंख बजेंगे...एक साथ जयघोष होगा।”<sup>97</sup> इसे हिन्दू राष्ट्र तो नहीं कहा जा सकता। हाँ, इसे हिन्दू राष्ट्र का छद्म चेहरा जरूर कहा जा सकता है।

इसी प्रकार मसूद भी एक ऐसा ही सांप्रदायिक संकीर्णता से ग्रस्त पात्र है जो हर हिन्दू से घृणा करता है। 1947 में भारत का जब बँटवारा हुआ तो मसूद का ताऊ शाकिर अली पाकिस्तान चला जाता है क्योंकि उनकी दृष्टि में उनका असली वतन पाकिस्तान ही था और जहाँ उनकी संतानों का भविष्य सुरक्षित था। मसूद भी अपने ताऊ के समान ही विचार वाला व्यक्ति है। वह सुक्खी बाबू के अहाते पर कब्जा करना चाहता है। शहर में जमीन की कीमतें बढ़ने लगती हैं तो सुक्खी बाबू का अपने किराये पर दे रखे अहाते की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। कथाकार प्रियंवद के शब्दों में, “सुक्खी बाबू का अहाता जहाँ था उससे थोड़ी दूर पर तीन हजार गज का एक अहाता जिस दिन एक करोड़ का बिका था उस दिन सुक्खी बाबू की नींद उड़ गई। उस दिन उनको समझ में आया कि मसूद उनके अहाते पर नहीं बल्कि दो करोड़ रुपये पर कुंडली मारकर बैठा है। पिछले—चालीस सालों से वह उसको दो रुपये किराये की किरायेदारी की रसीदें दे रहे थे। मसूद अहाता कभी खाली करेगा, इसकी उनको कोई उम्मीद नहीं थी। जिस दिन मसूद ने उनसे उस तरह तख्त पर लेटकर

सिगरेट फूँकते हुए बात की थी उसी दिन सुक्खी बाबू समझ गये थे अब उन्हें शाकिर अली के भतीजे से नहीं एक मुसलमान से अपना दो करोड़ रुपये का अहाता खाली कराना है।<sup>98</sup> और वास्तव में हुआ भी वही जिसका सुक्खी बाबू को भय था। मसूद ने अहाता खाली करने के बजाय सुक्खी बाबू और उसके बावर्ची गुठली को धार्मिक गालियाँ देते हुए चाकू दिखाया। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप सुक्खी बाबू हिन्दू संगठन के नेताओं के साथ मिलकर इस विवाद को भी हिन्दू मुस्लिम सांप्रदायिकता के रंग में रंग देते हैं। संयोगवश उस दौरान शहर में सांप्रदायिक तनाव का माहौल भी चल रहा था। सुक्खी बाबू ने हिन्दू संगठन के नेताओं को सलाह दी कि बन्द के दिन हिन्दू घरों पर भगवें झण्डें लगें जिस पर 'ओउम्' लिखा हो। उस काम के लिए वह अकेला ही पचास हजार रुपये भी देने का वायदा करता है। भगवे झण्डें के प्रयोग से बन्द का स्वरूप भी बदल गया यह सिर्फ हिन्दुओं की एक अभिव्यक्ति बनकर रह गया। अतः ऐसे बन्द से दूसरे सम्प्रदाय के लोगों का सशंकित होना स्वाभाविक ही है। सुक्खी बाबू मसूद से बदला लेना चाहता है। लेकिन वह सीधे-सीधे चिन्मय से यह नहीं कहता कि वह उसके अहाते पर कब्जा जमाये बैठा है। उसका नौकर गुठली भी मसूद को ही नहीं पूरे मुस्लिम समुदाय को ही कटघरे में ला खड़ा कर देता है। वह अविनाश से कहता है, "नाराज मत होइएगा, पर सच तो यह है कि इस देश का हर मुसलमान अंदर से मसूद है। वह पाकिस्तान रेडियो सुनता है। उसकी बात को सच मानता है...हर तीसरे घर में बम कट्टा है। पूरी पुलिस जानती है। है किसी सरकार या अफसर में दम कुछ कहने की? सच तो यह है कि सारे कायदे कानून हमारे लिए हैं। हम

पर तो आज भी उनके राज वाला जजिया लगा है बाबू साहब। क्या है यह सब? यह सरकार साली हमको मेमना समझती है। इसका बस चले तो कानून बना दे कि हर हिन्दू का खतना जरूरी है। दबाने के लिए हर समय हम हैं, ये नहीं जो चार-चार शादियाँ करके अपनी गिनती बढ़ाते जा रहे हैं। मसूद जैसे लोग हमारे सामने छाती तानकर घूमते हैं, हमारे ही देश में। हमको तो लगता है जैसे हम आज भी बाबर, औरंगजेब के राज्य में हैं। मैं तो अनपढ़ आदमी हूँ साहब, पर एक बात जानता हूँ। अगर इन लोगों को ऐसे ही छूट दी गई तो ये एक दिन फिर हमें गुलाम बना लेंगे। हमारे देवी-देवता फिर तोड़े जायेंगे।”<sup>99</sup> निरक्षर गुठली की उक्त बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सांप्रदायिकता रूपी कैंसर की जड़ें बहुत गहरें तक फैली हुई हैं। इससे कोई भी व्यक्ति बचा हुआ नहीं है, चाहे वह शिक्षित हो या अनपढ़-गँवार।

प्रस्तुत उपन्यास में हिन्दुत्ववादी सांप्रदायिकता एक नये चेहरे के रूप में भी उभरती दिखाई देती है। हिन्दुत्ववादी ताकतें हर मुसलमान की राष्ट्रीयता पर शक करती हैं जो कि निराधार है। चिन्मय अविनाश से कहता है, “हम गले लगायेंगे हर मुसलमान को, तुम उनसे कहो कि वे फतवा जारी करें कि भारत उनकी भी माँ है।”<sup>100</sup> लेकिन यही चिन्मय जब हिन्दू राष्ट्र की बात करता है तब उसकी राष्ट्रीयता कहाँ चली जाती है। उसका यह कहना बड़ा हास्यास्पद लगता है, “अभी हम राष्ट्र हैं ही नहीं। बनने की प्रक्रिया में भी नहीं हैं। सौ मील के क्षेत्र में हम एक नहीं हैं। भाषा, भोजन, वस्त्र, धर्म और विचार किसी भी स्तर पर। यह सब अब एक होना होगा तब हम कह सकते हैं कि हम एक राष्ट्र की धारणा पर। इन

छोटे-छोटे अल्पसंख्यकों को सर पर चढ़ाकर नहीं जिन्हें हम हर समय एक अलग पहचान देते चले आये हैं...।<sup>101</sup> चिन्मय का इस तरह के हिन्दू राष्ट्र का सपना देखना निःसन्देह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की विचारधारा का ही छद्मरूप है।

कथाकार प्रियंवद धार्मिकता को उस अंधेरी गुफा के समान मानते हैं जहाँ मनुष्य खुली हवा में सांस भी नहीं ले सकता। उपन्यास 'वे वहाँ कैद हैं' का एक पात्र दादू कहता है— "धार्मिकता धीरे-धीरे एक बर्बर अंधेरी गुफा में ले जाती है मनुष्य को जहाँ खुली हवा में सांस भी नहीं लेने दी जाती। यह दिशा निश्चित है। धर्म या जाति की महानता का उन्माद सिर्फ एक बर्बर तानाशाही में खत्म होता है जिसे कुछ मूर्ख लोग या मूर्ख पुस्तकें नियंत्रित करते हैं"<sup>102</sup>

हिन्दू संगठन के नेताओं के बहकावे में आकर कुछ लड़के बन्द के दिन सिर पर पीले रंग की पट्टी बांध कर तथा तिलक लगाकर शहर भर में आतंक का माहौल पैदा कर देते हैं। कथाकार प्रियंवद के शब्दों में, "जुलूस...धार्मिक रथ....आरती झण्डों के उन्माद से शहर की हवाएँ मथी जा रही थीं। रात को ठीक नौ बजे पूरा शहर पांच मिनट के लिए शंख, घड़ियाल और हर-हर महादेव से हिलने लगता।....दूसरे धर्मों को दहाड़ते हुए गुण्डों की भाषा में धमकाया जा रहा था। आतंक के टुकड़े तान-तान कर फेंके जा रहे थे।"<sup>103</sup>

दादू जब दंगाइयों से इंसानियत का झण्डा गाड़ने की बात कहते हैं तो दंगाइयों की भीड़ द्वारा दादू के साथ जिस कदर दुर्व्यवहार किया जाता है वह सचमुच दिल दहलाने वाला है— "जानते हो यह झंडा कहाँ गाड़ेंगे?

तुम्हारी बिटिया की जाँघों के बीच में...लो देखों झण्डा। लड़के ने एक झटके से दादू का हाथ खींचा और शिश्न से छुआ दिया। चीखने लगे दादू।<sup>104</sup>

दादू उस भीड़ से मसूद को अपने घर की छत पर रखी पानी की टंकी के अंदर छिपाकर उसकी रक्षा कर धर्मनिरपेक्षता का परिचय देते हैं। भीड़ द्वारा उन्हें एक गद्दार और गन्दे हिन्दू की संज्ञा दी जाती है तो भी वह बिना विचलित हुए कहता है— “अपवित्र वह नहीं है जो भीड़ के देवताओं को मानने से इनकार कर देता है बल्कि वह है जो देवताओं के संबंध में भीड़ की राय को स्वीकार कर लेता है।”<sup>105</sup> अन्ततः दादू की हत्या हिन्दू संप्रदायवादियों द्वारा कर दी जाती है। यह हिन्दुत्ववादी सांप्रदायिकता का धिनौना रूप है।

लेखक लोकतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष भारत में रहने वाले चिन्मय की निराधार आस्था को तोड़ने का प्रयास करते हैं ताकि एक जागृत आधुनिक धार्मिक राष्ट्र बने— “संभव है एक बार पूरा देश अस्थिरता में डूब जाये पर उसी से फिर जन्म लेगा एक दीर्घ, स्थिर और निश्चित रूप हिन्दू राष्ट्र का जो इस देश की मुक्ति है सारी समस्याओं का समाधान है।”<sup>106</sup> क्योंकि चिन्मय के नेत्रों में जिस त्रिशूलधारी हिन्दू योद्धा का स्वप्न है, वह मूलतः आतंकवादी है और आतंकवादी कभी मुक्तिदाता नहीं हो सकता। यही कारण है कि दादू जैसा उदार, धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति अन्ततः अपनी ही जमात के हाथों मारे जाते हैं। प्रो० गोपालराय के शब्दों में, “सांप्रदायिक सोच और फासीवाद पर सर्जनात्मक विमर्श किसी राजनीतिक प्रतिबद्धता या फैशन के तहत नहीं बल्कि पीड़ा की गहरी अनुभूति से प्रेरित विमर्श है। इस विमर्श



में एक ऐसी वैचारिक तटस्थता, ईमानदारी और संवेदनाशीलता है, जो पाठक को तिलमिलाती और विचलित करती है।<sup>107</sup>

### 8. 'मुखड़ा क्या देखे' (1996ई०)

प्रख्यात कथाकार अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अपने 'मुखड़ा क्या देखे' नामक उपन्यास में भारत के आजाद होने तथा देश-विभाजन से लेकर आपातकाल तक के समय को एक गांव बलापुर (इलाहाबाद) के माध्यम से प्रस्तुत किया है। दरअसल इस उपन्यास में यह छोटा सा गांव पूरे भारत का प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि समूचे भारत की समस्याएँ लेखक ने इसी गांव के माध्यम से चित्रित की हैं। इसलिए बलापुर गांव महज एक गांव न रहकर एक ऐसा पात्र बन जाता है जो इस उपन्यास के केन्द्र में है।

बलापुर एक ऐसा गांव है जो आजादी मिलने के बाद बदलने का प्रयास कर रहा है किन्तु यह गांव अपने अन्तर्विरोधों से इतना ग्रसित है कि बदलाव की दिशा प्रतिगामी प्रतीत होती है। इसीलिए ऐसा लगता है कि आजादी मिलने के बाद भी इस गांव के जीवन की लय बराबर टूटती जा रही है। इसका कारण यही है कि जो पात्र इस गांव में हैं वे अपनी जटिल विषमताओं को छोड़ नहीं पा रहे हैं। यह उपन्यास अपने छोटे से कर्म क्षेत्र में भारत की उन समस्याओं को उभारता है जो भारत के पूरे जीवन को प्रभावित कर रही हैं तथा देश के जीवन को और अधिक जटिल और भयानक बना रही हैं। सबसे पहले आजादी के बाद बराबर बढ़ती जा रही सांप्रदायिकता की समस्या हमारा ध्यान खींचती है। सांप्रदायिकता अपनी जड़ें किस तरह फैलाती हैं, यह इस उपन्यास में देखा जा सकता है।

वस्तुतः सांप्रदायिकता की जड़ें हमारी सामंती मानसिकता में हैं जिसके प्रतिनिधि पंडित रामवृक्ष हैं। उनकी पुत्री लता के विवाह पर अल्ली चुड़िहार अपनी पत्नी के प्रसव के कारण चूड़ी पहनाने नहीं आ पाता। बस पंडित रामवृक्ष अल्ली पर बिफर जाते हैं, वे कहने लगते हैं— “जरूर उस मुसल्ले का दिमाग खराब हो गया है अब बन न गया पाकिस्तान, हिन्दुस्तान में जगह न मिली तो पाकिस्तान चले जायेंगे। वरना एक परजा की यह मजाल, कि गांव के प्रतिष्ठित ब्राह्मण की कन्या का शुभ विवाह हो और वह अनुपस्थित रहे। वाह रे गांधी बाबा, खूब आजादी दिलवायी है तुमने.....।”<sup>108</sup>

इस प्रकार पंडित रामवृक्ष का ब्राह्मणत्व आग बबूला हो जाता है जब अल्ली चुड़िहार रामवृक्ष के घर जाता है तो रामवृक्ष उसे बिना कुछ कहे पीटने लगता है। कथाकार के शब्दों में, “पंडित रामवृक्ष पाण्डे का ब्रह्मतेज बलबला उठा। न तो उन्होंने अल्ली चुड़िहार की पैलगी का उत्तर दिया, न ही उससे कोई प्रश्न किया। वे ताबड़तोड़ उसे पीटने लगे।...पंडित जी रुके तब, जब वे थक गए। और थके तब, जब उनका क्रोध कुछ शांत हो गया। अली अहमद खुद तो क्या बाहर निकलता, पंडित जी के धक्के से गली में आ गया और चुपचाप सिर निहुराए चल पड़ा।”<sup>109</sup>

इस प्रकार बिना बात पीटने पर अल्ली चुड़िहार को पहली बार यह समझ में आता है कि वह एक मुसलमान है और पंडित रामवृक्ष गांव का साधन-संपन्न ही नहीं, सत्ता सम्पन्न ब्राह्मण भी है। वह अपनी अलग पहचान बनाये इसलिए वह अपना गांव छोड़ देता है। यद्यपि उसकी पत्नी नहीं चाहती कि वे लोग गांव छोड़ें पर अली इस अपमान को सह नहीं पाता वह अपनी पत्नी से कहता है, “बबवा की अम्माँ, अब ई गांव से हमारा जी

उचट गया है। चलो कहीं दूसरी जगह चलें।...हम बेइज्जती की जिंदगी नहीं जिएँगे।”<sup>110</sup> और अन्ततः अली अहमद अपनी पत्नी और बच्चे के साथ गांव छोड़कर मध्यप्रदेश के शहपुरा नामक स्थान पर चला जाता है। वहाँ से वह दुल्लोपुर जाता है जहाँ एक छोटी सी दुकान चलाता है। यहाँ वह ईसाइयों के सम्पर्क में आता है किन्तु वहाँ भी छोटे-बड़े का भेद उतने ही भयानक रूप में पाता है जितना बलापुर गांव में था। यहां उसे यह भी पता चलता है कि जातिवाद केवल हिन्दू या मुसलमानों में ही नहीं है, ईसाइयों में भी विद्यमान है। वह वहाँ ईसाइयों को गोंड ईसाई, कोल ईसाई जैसे भेदों में देखता है। अली को यह भी पता चलता है कि जाति अनेक मामलों में निर्णायक हो जाती है। रफी अहमद एक अछूत हिन्दू लड़की को अपना लेता है तो यह घटना अनेक प्रश्न हमारे सामने खड़े कर देती है। इस मामले को सुलझाने के लिए सृष्टिनारायण मौलवी जब्बार अली से मिलते हैं तो वहाँ मुस्लिम जातिवाद का नया चेहरा हमारे सामने आता है। सृष्टिनारायण का तो यही सोचना था कि मौलवी जब्बार अली अपनी जाति के रफी अहमद को समझा देंगे और मामला सुलझ जाएगा किन्तु मौलवी साहब तो उनसे दूसरा ही प्रश्न कर देते हैं— “देखिए पंडित जी, अब ऐसी गाली तो न दीजिए। ऊ चुड़िहार है और हम तुरक। एक जात—बिरादरी के कैसे हुए?”<sup>111</sup> मौलवी साहब के ये शब्द ने केवल मुस्लिम जातिवाद का खुलासा करते हैं वरन् मुस्लिम जाति की भीतरी संरचना का भी आभास देते हैं।

लेखक ने मुस्लिम समाज का बहुत अंतरंग तथा विश्वसनीय चित्र भी प्रस्तुत किया है। जब पंडित रामवृक्ष अल्ली चुड़िहार को पीटकर अपमानित

करते हैं तो अली तथा उसका भाई इस उम्मीद से मौलवी जब्बार अली के पास जाते हैं कि मुसलमान होने के नाते वे उनकी मदद कर सकेंगे लेकिन मौलवी उल्टे रामवृक्ष का ही पक्ष लेते हैं— “कोई सख्ख बिला वजह किसी को क्यों बेइज्जत करेगा?”<sup>112</sup> इतना ही नहीं वे अपनी बीवी को भी अब सख्त हिदायत देते हुए कहते हैं— “देखों सत्तार की अम्मा, मैं कहे देता हूँ तुमसे, इन धुनियों—चुड़िहारों के घर तुम न जाया—आया करो। इन्हें सिर पर चढ़ाने की कोई जरूरत नहीं है। तुम क्या समझती हो कि इस चुड़िहार की जात के वास्ते मैं पंडित जी से दुश्मनी मोल लूँ?”<sup>113</sup> इसके विपरीत मखदूम नाई उसकी वेदना को पूरी हमदर्दी के साथ सुनता है पर वह अपनी गरीबी के कारण कुछ भी नहीं कर पाता। इस घटना से यह सीधा सा निष्कर्ष निकलता है कि पं० रामवृक्ष और मौलवी जब्बार अली मुसलमान होते हुए भी उच्च एवं अर्द्ध सामंती वर्ग के हैं इसलिए वे एक हैं जबकि अहमद अली तथा मखदूम नाई गरीब वर्ग से हैं इसलिए उनमें पारस्परिक हमदर्दी है। इस प्रकार लेखक अमीरी और गरीबी के भेद को बड़ी बारीकी से प्रस्तुत करता है।

‘मुखड़ा क्या देखें’ उपन्यास में अनेक जहाँ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और जमाअते इस्लामी जैसी सांप्रदायिक ताकतों पर भी चोट की गई है जो कि सांप्रदायिकता की भावना को अधिक भड़काने का घृणित कार्य करती हैं उदाहरणार्थ, आर०एस०एस० का कार्यकर्ता पं० रामवृक्ष का पौत्र अशोक कुमार पाण्डेय हिन्दू और मुस्लिम के भेद को बड़े भद्दे तरीके से प्रस्तुत करता है— “अरे कटुवा है न....इन लोगों के सारे काम उल्टे होते हैं। हम लोग सीधे ढंग से हाथ धोते हैं, तो ये लोग उल्टे ढंग से। हम लोगों के यहाँ

सीधे तवे पर रोटी बनती है, इनके यहाँ उल्टे तवे पर। हम लोग बाल मुड़ाते हैं, ये लोग नूनी कटाते हैं। सुना नहीं है? हिन्दूअन की फलान और मियन की घाढ़ी ..।”<sup>114</sup>

यह सन् 1960 के आसपास का दौर है जब गांव में शाखा भी लगने लगती है। जब अली अहमद का बेटा रफी अहमद (बुद्ध) अपने बाप को यह सूचना देता है कि स्कूल में शाखा लगने लगी है तो अली को आन्तरिक वेदना होती है और उसे लगता है कि उन लोगों का अस्तित्व खतरे में है। रफी अहमद के साथ शाखा जाने वाले छात्रों द्वारा नफरत भरी बातें की जाती हैं फलस्वरूप वह स्कूल की पढ़ाई छोड़ने पर मजबूर हो जाता है। वह सिसकते हुए अपने पिता से कहता है— “हमारे स्कूल में न, शाम को ‘शाखा’ लगती है, मुझे उसमें जाने नहीं देते। कहते हैं, तुम मियाँ, हो, शाखा में तुम्हारा क्या काम? और अब सारे लड़के हमें मियां—मियां, मुसल्ला, कटुवा कहके चिढ़ाते हैं। बहुत बुरी बुरी गालियाँ बकते हैं। मैं अब स्कूल नहीं जाऊँगा।”<sup>115</sup> यहाँ लेखक बहुत बारीकी से यह संकेत भी करता है कि हिन्दू—मुसलमानों के मनो में जो परस्पर घृणा का भाव है उसे आसानी से दूर नहीं किया जा सकता तथा जरा सा अवसर मिलते ही यह बद्धमूल भावना उभर कर सतह पर आ जाती है और कोई भी विद्रूप रूप धारण कर लेती है।

प्रस्तुत उपन्यास जाति और संप्रदाय के राजनीतिकरण की प्रक्रिया तथा उसके भयानक परिणामों की ओर भी संकेत करता है और साथ ही यह भी बताता है कि हम ऐसे महत्वपूर्ण सवालों से किस प्रकार बचकर निकलने का प्रयास करते रहे हैं। पतरस और अली अहमद के संवाद द्वारा

लेखक ने यही बात स्पष्ट करने का प्रयास किया है— “अली अहमद भाई, यह तो तुम जानते हो न कि जनसंघ एक ऐसी पार्टी है, जो तुम मुसलमानों के लिए आगे चलकर बहुत खतरनाक साबित हो सकती है। ‘तो’? अली अहमद बुरी तरह डर गया। घबराओं नहीं, इस इलेक्सन में उसे करारा धक्का लगा है। सिर्फ चार सीटें मिली हैं संसद में। अच्छा, और तुम्हारी कांग्रेस के क्या हाल हैं? दो बैलों की जोड़ी को भला कौन मार सकता है? हाँ केरल में जरूर गड़बड़ी हुई है। क्या हुआ वहाँ? वहाँ कम्युनिस्टों का बोलबाला हो गया है। मगर तुम तो बता रहे हो कि वहाँ ईसाई लोग बहुत हैं। और कभी तुम यह भी कहा करते थे कि ईसाइयों को तो कांग्रेस को ही वोट देना चाहिए— लेकिन सब ईसाई एक जैसे थोड़े होते हैं।”<sup>116</sup> सचमुच यह स्थिति सभी संप्रदाय वालों की है और इसे पाटना आसान नहीं है।

कथाकार अब्दुल बिसमिल्लाह ने भाषा के प्रति सांप्रदायिक दृष्टिकोण की जड़ों की ओर भी संकेत किया है। उपन्यास में इस तथ्य का उद्घाटन किया गया है कि आजादी के ठीक बाद ही संप्रदाय से जोड़कर भाषा की पहचान बनाई जाने लगी थी। करीब पांच दशकों के अंतराल के बाद अब यह मनोवृत्ति अपनी चरम स्थिति पर पहुँच गई है। सांप्रदायिक विचारों वाले शिक्षित मध्य वर्ग ने इस मनोवृत्ति को निचले तबको के बीच प्रचारित किया है। सत्तार की अम्मा जगत भाभी है। गांव की बोली में उन्हें ‘भउजी’ कहा जाता है। लेकिन वे अपने लिए ‘भउजी’ के बजाय ‘भाभी’ संबोधन पसंद करती है, क्योंकि उनके पति को इलाहाबाद शहर के एक मौलाना ने भाभी और ‘भउजी’ का अंतर समझाया था। इसीलिए वह अली अहमद

की पत्नी से कहती है, “तुम लोगन को कितनी बार समझाया कि भाभी कहा करो, मगर बोलोगी वही गंवरपन वाली जबान।”<sup>117</sup>

संक्षेप में, कथाकार अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अपने ‘मुखड़ा क्या देखे’ उपन्यास में व्यवस्था से पैदा हुई सांप्रदायिक, सिद्धान्तहीन राजनीति और आर्थिक गैर-बराबरी का ऐसा चित्रण किया है जो जीवन के किसी भी कोने को नहीं छोड़ता। वस्तुतः कथाकार बलापुर गांव और उसके आसपास के जीवन को उसकी पूरी समस्याओं के साथ चित्रित करते हैं। डॉ० रामचन्द्र तिवारी के शब्दों में, “इस उपन्यास की बड़ी विशेषता यह है कि इसमें ग्रामीण संबंधों की जटिल, सघन और संस्कारपुष्ट संरचना का गहराई के साथ विश्लेषण करते हुए पूरे गांव की कथा कही गई है। इस दृष्टि से इसे प्रेमचन्द्र की परम्परा का महत्वपूर्ण उपन्यास कह सकते हैं।”<sup>118</sup>

### 9. ‘काल कथा’ (दो खण्डों में) (1998ई)

हिन्दी के अग्रणी कथाकार कामतानाथ का ‘कालकथा’ नामक वृहदकाय उपन्यास प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति से लेकर कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन की समाप्ति अर्थात् 31 दिसम्बर, 1929 तक के बारह साल के कालखण्ड पर लिखा गया एक ऐसा उपन्यास है, जो एक ओर इस काल की राजनीतिक हलचलों का विश्वसनीय ब्यौरा सारी तथ्यात्मक जानकारियों के साथ प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर इसमें उस काल की सामाजिक स्थितियों का भी चित्रण है, जिनमें उस काल की जनता राजनीतिक हलचलों का हिस्सा बनने की आकांक्षा को साकार रूप देना चाहती है। ‘झूठा-सच’ के बाद संभवतः कालकथा हिन्दी साहित्य की ऐसी कृति है

जिसने भारतीय समाज के यथार्थ को इतने व्यापक फलक पर उठाया है। प्रस्तुत उपन्यास जहाँ राजनीतिक स्तर पर उस कालखण्ड को सजीव करता है वहीं इस कालखण्ड के भारतीय समाज—जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं, की पारिवारिक एवं सामाजिक गतिविधियों, परस्पर रागात्मक और भावनात्मक संबंधों, रीति—रिवाजों, कुप्रथाओं, अंधविश्वासों, स्वराज के लिए चलाए जा रहे आन्दोलन के प्रति श्रद्धा और विश्वास की भावनाओं को बड़े व्यापक धरातल पर चित्रित करता है।

उपन्यास के दोनों खण्ड आठ उपखण्डों में रचे गये हैं— चंदनपुर, एक वर्ष में स्वराज, बोल गई माई लार्ड कुकडू कूं, गिरते हैं शहसवार (प्रथम खण्ड), चंदनपुर—दो, बिखरे शीराजे, सरफरोशी की तमन्ना, रावी तट पर भांगड़ा (द्वितीय खण्ड)। उपन्यास के केन्द्र में उन्नाव जिले के चंदनपुर नामक कस्बे के पारिवारिक जीवन तथा सामाजिक जीवन की गतिविधियों, उनके सामंती संस्कारों, अंधविश्वासों, परस्पर भावनात्मक तथा व्यक्तिगत संबंधों के माध्यम से हिन्दू—मुसलमानों के बीच के सच्चे भाईचारे, विश्वास, आत्मीयता आदि का सहज चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। जिसे गंगा—जमुनी संस्कृति कहते हैं उसके विविध रूप इस उपन्यास को तत्कालीन जीवन का दस्तावेज बनाते हैं।

चंदनपुर गांव के मुंशी रामप्रसाद और गाजीखेड़ा के अब्दुल गनी के परिवारों की जिन्दगी में कुछ भी ऐसा नहीं है जो उन्हें हिन्दू मुसलमान में तकसीम कर सके। क्या हुआ अगर उनके परिवारों के सदस्यों के नामों में कुछ भिन्नता है, तो कुछ रीति—रिवाज भी अलग—अलग हैं, पर उनकी जिन्दगी का स्पंदन तो एक ताल पर धड़क रहा है जिसे अवध की



गंगा-जमुनी संस्कृति कहते हैं। वैसे ही त्यौहारों के उल्लास, वैसे ही मानवीय रिश्तों के पवित्र स्तर तथा वैसे ही परस्पर सुख-दुख में शामिल होने के निर्मल प्रयास।

मुंशी रामप्रसाद गाजीखेड़ा के अब्दुल गनी के पोते शौकत उर्फ सुक्कू के अकीके की दावत के निमंत्रण पर गाजी खेड़ा जाते हैं और फर्शी के बराबर कश खींचते हैं कोई संकोच नहीं करते। चंपा सिंह जरूर संकोच में पड़ जाते हैं लेकिन अब्दुल गनी के यह कहने पर कि “इत्मीनान से पियो ठाकुर। सवा सोलह आना हिन्दू फर्शी आए। ज्वाला सिंह के हियाँ से मंगवाए हन। उनकी तबीयत अलील है नाई तो वऊ होते हियाँ।”<sup>119</sup> चंपा सिंह ने हंसकर फर्शी की निगाली अपने हाथ में ले ली और इस तरह के सांप्रदायिक भेदभाव के लिए पंडितो-मौलवियों को कोसने लगे। वह कहता है, “न हिन्दू फर्शी होई तो का फरक पड़ जाई। ई सब तो पंडित मोलविन के बनाए ढकोसला आएँ।”<sup>120</sup> दरअसल, इस तरह का धार्मिक भेदभाव हमारे समाज में तथाकथित धर्म के ठेकेदारों द्वारा ही फैलाया जाता है, आम जनता में कोई सांप्रदायिक भेदभाव नहीं पाया जाता। अतः चंपासिंह का उक्त कथन सत्य प्रतीत होता है।

कामतानाथ ने मुंशी रामप्रसाद के छोटे लड़के रतन के विवाह के प्रसंग में भी सांप्रदायिकता को एक अलग ही रूप में दिखाया है। मुंशी रामप्रसाद और अब्दुल गनी के बीच प्रगाढ़ दोस्ती थी। अतः अब्दुल गनी भी रतन की बरात जाते हैं लेकिन लड़की वालों के यहाँ भात में मुसलमान के मंडप के नीचे आ जाने वाली बात कालांतर में पता चल जाती है तो वहाँ बखेड़ा खड़ा हो जाता है। कथाकार कामतानाथ के शब्दों में, “अचानक

गाना बंद हो गया। अब्दुल गनी, यानी मुसलमान। औरतों में कानाफूसी होने लगी। घर के अंदर मुसलमान। धरम ईमान सब माटी मां मिलिगा।<sup>121</sup> लड़की के पिता इसे बुरा नहीं मानते लेकिन उसके बड़े भाई और भाभी बुरा मानते हैं। बसुदेव नरायन की भाभी उसके कान में फुसफुसाते हुए कहती हैं, “बरात मां मुसलमानों आए हैं का? बसुदेव नरायन कहते हैं— ‘तो का भा?’ इस पर उनकी भाभी बिगड़ते हुए कहती है, “कुछ भवै नाई। मुसलमान घर के अंदर बईठ के खाना खाई तो धरम—करम बची हमार?”<sup>122</sup> इस पर मुंशी रामप्रसाद पूरी बारात को बीच भात से उठा लाते हैं और कहते हैं, “मुसलमान के अन्दर चले जाने से आपका धर्म नष्ट हो जाएगा, यह मालूम होता मुझको तो मैं शादी ही न करता आपके यहाँ। हमको क्या मालूम था कायस्थों के बजाय ब्राह्मणों के घर बारात ला रहे हैं हम।”<sup>123</sup>

शायद रिश्तों की इस गहरी पड़ताल से लेखक उस मारक स्थिति की ओर संकेत करना चाहता है जहाँ आकर यह स्पंदन रूक गया और परस्पर विश्वास के साथ जीने वाली ये कौमें इतनी अलग हो गई कि एक—दूसरे की दुश्मन बन गई।

लेखक शायद यह संकेत भी देना चाहता है कि सन् 1929 तक हिन्दू—मुसलमानों के बीच जो समरसता तथा आत्मीयता थी, उस पर अंग्रेजों ने जानबूझकर प्रहार किया और वे इसे तोड़ने में सफल हो गये। किन्तु अंग्रेजों को इस एकता की ताकत का अहसास इसी कालखण्ड में हो गया था तथा वे इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि अगर भारत को काफी लंबे समय तक गुलाम बनाये रखता है, तो हिन्दू—मुस्लिम एकता को तोड़ना जरूरी होगा। दूसरी ओर देश के विभिन्न क्रांतिकारी संगठन इस

एकता को बनाये रखने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील थे। जबरसिंह कहते हैं, “अगर हिन्दू मुसलमान एक हो जाएँ तो ये मुट्ठी भर अंग्रेज कहीं नजर न आयें।”<sup>124</sup>

असहयोग आन्दोलन के स्थगन के बाद भारतीय राजनीति में एक नया मोड़ आता है जब कुछ मजहबी नेता अपने प्रभाव को बनाये रखने के लिए सांप्रदायिक राजनीति करना शुरू कर देते हैं। कथाकार कामतानाथ लिखते हैं, “असहयोग आन्दोलन के दौरान हिन्दू-मुस्लिम एकता का जो आदर्श रूप देखने को मिला था, वह बिखर गया और देश के विभिन्न नगरों में सांप्रदायिक दंगे शुरू हो गये। विवाद के मुख्य मुद्दे थे: बकरीद के अवसर पर मुसलमानों द्वारा गाय की कुर्बानी और नमाज के समय मस्जिदों के सामने या आस-पास हिन्दुओं द्वारा संगीत अथवा शंख-घड़ियाल आदि बजाने संबंधी घटनाएँ।”<sup>125</sup>

इसी के साथ अवसरवादी राजनीति की शुरुआत हुई। आर्य समाज तथा हिन्दू महासभा ने धर्म परिवर्तन कर, हिन्दू से मुसलमान बने लोगों को पुनः हिन्दू धर्म में लाने के उद्देश्य से ‘शुद्धि’ और ‘संगठन’ नामक आन्दोलन प्रारंभ किए तो मुसलमानों ने जवाबी कार्यवाही करते हुए ‘तबलीग’ और ‘तंजीम’ नामक आन्दोलन खड़े किए। परिणामस्वरूप देश में सांप्रदायिकता की जड़ें गहरी होती चली गईं। इस सबका विश्वसनीय चित्रण कामतानाथ ने ‘कालकथा’ में किया है।

भारत में पनपीं सांप्रदायिकता के मूल में अंग्रेजों की ‘फूट डालो और राज करो’ की नीति काम कर रही थी। इसी ओर संकेत करते हुए कामतानाथ जवाहर लाल नेहरू के मुख से कहलाते हैं— “जरूरत यह है

कि हम अंग्रेजों की इस चाल को समझें और अपने दिलों से हर तरह शक और शुबहा को निकाल कर एक-दूसरे पर यकीन करना सीखें। लॉजिक या ठंडी दलीलों से डर या शक को खत्म नहीं किया जा सकता। उन्हें तो सिर्फ दिल के बड़प्पन से ही जीता जा सकता है।”<sup>126</sup>

कामतानाथ सांप्रदायिकता के मूल में आर्थिक कारणों को भी तलाशने का प्रयास करते हैं जो प्रासंगिक भी है वे जवाहर लाल नेहरू के मुख से कहलाते हैं, “मजहबी कठमुल्लेपन के लिए कोई इज्जत मेरे दिल में नहीं है और न ही सांप्रदायिकता के लिए कोई जगह। मैं यह समझ भी नहीं पाता कि महज किसी धर्म या मजहब में यकीन रखने की वजह से किसी को कोई सियासी या राजनीति या फिर आर्थिक हकूक या अधिकार क्यों मिलें। मैं कोई पेशीनगोई नहीं करता। लेकिन मैं इतना जानता हूँ कि जल्द ही वह वक्त आने वाला है जब मजहब या धर्म के लेबल और बिल्लो की कोई अहमियत नहीं रह जायेगी और हमारी सारी लड़ाइयों या संघर्ष का आधार आर्थिक होगा।”<sup>127</sup>

निःसंदेह आज सांप्रदायिक दंगे आर्थिक कारणों से ही हो रहे हैं। धर्म तो महज हथियार के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। वस्तुतः कामतानाथ ने सांप्रदायिकता के यथार्थ पर सदभावना की जमीन ही तैयार करने का प्रयास किया है।

#### 10. ‘वाह कैप’ (1998ई०)

हिन्दी के सुपरिचित कथाकार द्रोणवीर कोहली ने अपने ‘वाह कैप’ शीर्षक उपन्यास में देश-विभाजन की त्रासदी एवं सांप्रदायिक दंगों से

बचकर आये सिख-हिन्दू परिवारों के शरणार्थी जीवन की करुण कथा प्रस्तुत की है। यह एक अनुभवजन्य कथा है। जैसा कि उपन्यास के आवरण पर अंकित विज्ञप्ति की यह सूचना कि, “यह एक ऐसी अनुभव जन्य रचना है जिसे लेखक ने पचास बरस तक झेलने के बाद कलमबद्ध किया है। सारी कथा एक अति संवेदनशील निरुपाय लड़के के माध्यम से उजागर की गई है जिसने मसैं भीगने से पहले ही दुनिया के छल-छद्म देख लिए थे। बीच-बीच में रिफ्यूजियों के कच्चे घावों की तरह उनकी कच्ची अभिव्यंजना इस रचना की विशिष्ट उपलब्धि है।”<sup>128</sup>

देश-विभाजन से कुछ महीने पूर्व ही पश्चिमोत्तर भारत के रावलपिण्डी के पास ‘वाह’ नामक स्थान पर एक शरणार्थी कैंप लगाया गया था यह पश्चिमोत्तर भारत का शायद सबसे बड़ा रिफ्यूजी कैंप था। इस स्थान के नाम पर ही इसका नामकरण ‘वाह कैंप’ रखा गया है। इसी कैंप में अन्य सिख-हिन्दू परिवारों की तरह कथावाचक ‘मैं’ का परिवार भी शरण लेता है। वह वहाँ के नारकीय जीवन को भोगता है। कैंप की अपनी असुविधा, भूख और अपमान की मार तो थी ही इसके अलावा रोज कहीं न नहीं कत्लेआम की खबर, परिवारजनों की मौत के समाचार उस त्रासदी को और अधिक बढ़ा देते थे। क्योंकि वे हमेशा मौत के साये में जीने को अभिशप्त थे। कथाकर द्रोणवीर कोहली अपने ‘वाह कैंप’ उपन्यास में लिखते हैं, “यह कोई नई बात नहीं थी। हर रोज एक न एक ऐसी गाड़ी वाह कैंप पहुँचती थी। इन घटनाओं के लोग अब आदी हो चले थे। जिस इलाके से ट्रक या लॉरी आती थी, उस इलाके के लोग सुनते ही दौड़ पड़ते थे यह पता लगाने के लिए कि घायलों या मृतकों में उनका कोई संबंधी या परिचित

तो नहीं है। फिर शिनाख्त करते ही रोना-धोना मच जाता। सुनकर दूसरे लोग भी आ जाते। किसी का बाप या बेटा रास्ते में ही मारा गया होता। किसी की बेटी या पोती का हमलावर अपहरण कर ले गये होते या जो किस्मत से किसी तरह हमलावरों के चंगुल से बच कर निकल आया होता, वह रो-रो कर बयान करता कि किस तरह क्रूर कर्म किया उन लोगों ने, बड़े-बूढ़ों को भी नहीं बख्शा, और किस तरह लोगों को कतार में खड़ा करके गोलियाँ चलाई या तलवार से सिर काटे।<sup>129</sup>

‘वाह कैप’ में हैजा फैलने की भी स्थिति हो गई थी फिर शरणार्थी लोगों की संख्या इतनी अधिक थी कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए हैजे का टीका भी सुलभ नहीं था और आये दिन कैप पर आसन्न आक्रमण की अफवाहें भी उड़ती रहती थी। क्योंकि यह एक ऐसा सांप्रदायिक नफरत का दौर था जिसमें हवा भी बेवजह जहरीली हो गई थी और वातावरण ऐसा बन रहा था कि लोगों को खुद अपनी ही छाया से डर लगने लगा था। ‘वाह कैप’ उपन्यास का एक पात्र कहता भी है, “हिन्दुस्तान का बंटवारा होगा तो होगा, रावलपिण्डी में पहले ही हिन्दुस्तान और पाकिस्तान बन गये हैं।”<sup>130</sup>

वाह कैप में लोगों के भूखे मरने की विकट स्थिति उत्पन्न हो जाती है और फिर उनके कुछ सगे-संबंधी भी तो बिछुड़ गये थे। उपन्यास का एक पात्र गणेश चाचा जब कैप कमाण्डेंट से रावलपिण्डी में फँसे अपने दो आदमियों को लाने शरणार्थियों के लिए राशन और सुरक्षा की समुचित व्यवस्था के लिए गुहार करता है तो कैप कमाण्डेंट रायबहादुर का यह जवाब उसकी संवेदनहीनता का ही परिचायक लगता है— “अफसोस है, मैं

आदमी निकालने के लिए आपकी कोई हेल्प नहीं कर सकता। यह मेरी ड्यूटी में शामिल नहीं है।”<sup>131</sup>

चूँकि विभाजन से पहले ही भयानक कत्लेआम होने की आशंका बड़ी तेजी से उभरती हुई दिखायी दे रही थी। इसलिए उस मुस्लिम बहुल इलाके में सुरक्षा का इंतजाम करना अनिवार्य हो गया था। लेकिन यह एक दिलचस्प बात थी ये निहत्थे पशुवत थे जिनको कभी भी ज़िबह किया जा सकता था और किया भी गया। कथाकार द्रोणवीर कोहली के शब्दों में, “शायद ही कोई ऐसा परिवार था जो इस विभीषिका से अक्षत बच कर आया था। स्वजन गले मिल-मिल कर रोते भी थे, हँसते भी थे। इन लोगों के चेहरों को देखकर यही लगता था कि वे मौत के घर से झाँककर आये थे।...अकसर वाह कैंप में अनेक ऐसी लॉरियाँ और ट्रक देखे थे जिनमें लाशें भरी होती थीं। जहाँ ये वाहन आकर खड़े होते थे, उस जगह टपकते खून से जमीन लाल और माहौल गंधैला हो जाता था।”<sup>132</sup> जबकि राजनेताओं द्वारा झूठे आश्वासन भर दिए जाते हैं। कथाकार द्रोणवीर कोहली के शब्दों में, “यहाँ तक कि देश के बंटवारे की घोषणा भी हो गई थी और नेता लोग यह भरोसा दिला रहे थे कि हिन्दुओं—सिखों को पाकिस्तान में बिल्कुल वैसे ही जीवन यापन करने के अवसर मिलेंगे जैसे मुसलमानों को। यहाँ तक कि महात्मा गाँधी जैसे व्यक्ति ने भी रावलपिंडी पधारकर डरे हुए लोगों को यह कहकर आश्वस्त किया था कि डरने की कोई बात नहीं है, क्योंकि मुसलमान नेताओं ने यह वचन दिया है कि अल्पसंख्यकों को अमन चैन से पाकिस्तान में रहने का मौका दिया जाएगा।”<sup>133</sup>

विभाजन की घोषणा होते ही तत्कालीन नेताओं और गाँधी जी द्वारा

वाह कैंप के शरणार्थियों को दिए गये आश्वासनों की धज्जियाँ उड़ती दिखाई देती हैं। 'वाह कैंप' का एक पात्र मनोहर अरोड़ा कहता है— 'इस पार्टीशन के कारण लाखों लोगों की जानें गई हैं और अभी यह सिलसिला जारी है। दोनों मुल्कों में लोग मर रहे हैं— हिन्दुस्तान में भी, पाकिस्तान में भी। मगर 15 अगस्त को जब हम लोगों के सिरों पर तलवारें झूल रही थीं, दूसरी जगहों पर खुशियाँ मनाई जा रही थीं। हिन्दुस्तान में लड्डू बांटे गये— उस पन्द्रह अगस्त के दिन जिस दिन लाहौर रेलवे स्टेशन पर कत्लेआम हुआ। शाह आलमी गेट के पास गुरुद्वारे में सिखों को जिंदा जलाया गया। नंबर दस डाउन एक्सप्रेस की आठ की आठ बोगियाँ लाशों से भरी अमृतसर पहुँची थीं और एक डिब्बे के पीछे लिखा था: यह नेहरू और पटेल को हमारी आजादी का तोहफा है।'<sup>134</sup>

विभाजन की इस विभीषिका में न केवल हिन्दू, सिख जलकर राख हुए वरन् मुसलमान भी तबाह हुए। उस हालात को देखकर लगता था कि इन सभी की आत्मा मर गई थी। सभी धर्मावलंबी भूखे भेड़िए बन गये थे। मानवता नाम की कोई चीज ही नहीं रह गई थी। 'वाह कैंप' उपन्यास का पात्र मनोहर अरोड़ा कहता है— 'उसी दिन (15 अगस्त) अमृतसर शहर में पुराने किले में जब खुशियाँ मनाई जा रही थीं, वहाँ से सिर्फ एक मील के फासले पर सिखों के जत्थे मुसलमानों की बस्ती पर टूट पड़े थे और एक-एक मर्द को मौत के घाट उतार कर औरतों को नंगा किया था, उनके साथ कुकर्म किए थे और जुलूस निकाला था और फिर उन्हें बेरहमी से मार डाला था। ऐसा लगता है, जैसे क्या हिन्दू, क्या सिख, क्या मुसलमान, सबकी आत्मा मर गई थी।...फिर कितने लोग हैं जो उन औरतों और



लड़कियों को फिर कबूल करेंगे जिन्हें अगवा किया गया, जिनकी छातियों, रानों, नितंबों को गोदा गया?"<sup>135</sup>

लेखक ने गाँधी जी की अहिंसा की नीति पर भी करारा व्यंग्य किया है कि एक तरफ तो खून की नदियाँ बह रही हैं और गाँधीजी शांति का पाठ पढ़ा रहे हैं। मनोहर अरोड़ा कहता है, "18 सितम्बर की शाम दिल्ली में मोहनदास करमचन्द गाँधी दरियागंज में मुस्लिम इलाकों में गये थे। और रोते— बिलखते मुसलमानों से यह बात कही थी: अगर पुलिस और मिलिटरी वाले आप लोगों पर गोलियाँ चलाएँ, तो भी उन्हें झेलों और छाती तानकर खड़े रहो, मगर अपने घरों से भाग कर मत जाओ— मैं महात्मा जी से माफी माँगते हुए अर्ज करना चाहूँगा कि वह जो लोगों को फिर से अपने घरों को लौट जाने की सलाह दे रहे हैं, क्या वह तुगलकी हल नहीं है? पहले लोगों को मरवाओं, उजाड़ों और जब वे जान बचाकर निकल जाएँ, तो उनसे कहो कि अब जाओ वापस अपने—अपने घरों में, जो जलकर राख हो चुके हैं।"<sup>136</sup>

विभाजन के दौरान जो सरेआम लूट, हत्याएँ और आगजनी हुई उससे यह तो स्पष्ट हो ही गया था कि इंसानी जान की कीमत भी कम हो गई थी। विभाजन की कीमत इंसानों की जानों से चुकाई गई— "लेकिन हमारे अहिंसावादी नेताओं ने सोचा होगा कि अगर आठ—दस लाख लोग मारे भी जाते हैं, तो मुल्क खाली नहीं हो जाएगा। चीटियाँ, कीड़े—मकोड़े रोज बेशुमार मरते हैं। कोई उनकी गिनती करता है? या उनके न होने से संसारचक्र थम जाता है? हम लोग मर भी जाएँगे, तो हिन्दुस्तान की आबादी कम नहीं होगी।"<sup>137</sup>

कथाकार द्रोणवीर कोहली ने प्रस्तुत उपन्यास 'वाह कैप' में उखड़े हुए लोगों की दर्दनाक और मार्मिक कथा के साथ-साथ तत्कालीन नेताओं की अदृढ़दर्शिता, स्वार्थपरता और परिस्थिति की गंभीरता को समझने की अक्षमता पर भी सार्थक टिप्पणियाँ की हैं। वे 'वाह कैप' के पात्र मनोहर अरोड़ा के मुख से एक लंबा चौड़ा भाषण दिलाते हुए कहते हैं— "इन्हीं नेताओं की जल्दबाजी की बदौलत इस देश का बंटवारा हुआ। ये लोग तो आराम से कुर्सियाँ संभाल कर बैठ गये हैं, और हम, जिन्होंने असली मानों में आजादी की कीमत चुकाई है, डर के माहौल में घर-बार छोड़कर रिफ्यूजी बने बैठे हैं और यह भी नहीं जानते कि यहाँ से जिन्दा निकलते हैं या मरते हैं और दाह संस्कार भी होता है या चीले-कौवे हमारी बोटियों से पेट भरते हैं....।<sup>138</sup> दरअसल, सत्ता हथियाने की होड़ ने ही इस देश का बंटवारा करवाया अथवा यों कहें कि इस देश का बंटवारा कर दिया अधिक उचित लगता है। सत्ता लोलुप नेताओं की स्वार्थपरता पर चोट करते हुए द्रोणवीर कोहली 'वाह कैप' के एक पात्र मनोहर अरोड़ा के मुख से कहलाते हैं, "इस मुल्क का बंदा बंदा जानता था कि अगर मजहब की बिना पर मुल्क बंटता है, तो खून-खराबे, लूटमार, बलात्कार, अपहरण से बचना नामुमकिन होगा। सारे हालात चीख चीख कर कह रहे थे कि ऐसा मत करो। लेकिन हमारे एक-एक नेता ने इस चेतावनी को दरगुजर किया और नतीजा सामने है। जिस बात को देश का बंदा-बंदा जानता था, उसकी तरफ हमारे नेताओं ने कुर्सी की होड़ में गौर ही नहीं किया।"<sup>139</sup>

लेखक देश-विभाजन की इस ट्रेजेडी के लिए गाँधी जी से भी सवाल जवाब करता दिखाई देता है। कथाकार के अनुसार गाँधीजी स्वयं

देश विभाजन से पहले ही वाह कैंप के शरणार्थियों को सांत्वना देने भी पहुँचे थे इसलिए तत्कालीन हालात वे स्वयं अपनी आँखों से देख चुके थे फिर यह विभाजन कैसे स्वीकार कर लिया? पाठक के सामने एक प्रश्न चिह्न खड़ा कर देता है। वे उपन्यास के एक पात्र मनोहर अरोड़ा के मुख से कहलाते भी हैं— “मोहनदास करम चन्द गाँधी ने पार्टीशन का विरोध किया था लेकिन जब बंटवारे का ऐलान हो रहा था, तो वह चुप क्यों बैठे रह गए? क्यों नहीं उन्होंने सत्याग्रह किया? क्यों नहीं अनशन किया? क्यों नहीं कहा कि मैं देश का बंटवारा नहीं होने दूँगा? फिर जून महीने में उन्होंने कैसे कह दिया कि चाहे सारा मुल्क धधक उठे, हम पाकिस्तान के लिए एक इंच भूमि नहीं देंगे। ...पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा, तो अपने फैसले पर अडिग रहते। न बनने देते पाकिस्तान। बात जरूर कही थी उन्होंने, लेकिन जब पाकिस्तान बनाने की घोषणा हो गई, और उन्हें खबर दे दी गई, तब भी उन्होंने रस्मी तौर पर जिसे कहते हैं, प्रतिक्रिया की, और इतना भर कहकर अपनी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ लिया कि यह फैसला मेरी पीठ के पीछे हुआ है। आखिर ऐसी क्या मजबूरी थी कि मोहनदास करमचन्द गाँधी को यह कहना पड़ा— “आज मैं एकदम अकेला पड़ गया हूँ— यहाँ तक कि पटेल और नेहरू भी समझते हैं कि मैं गलत हूँ।” असल में राजनीति में दखल रखने वाले सब लोग हाथ पर हाथ धरे बैठे रह गए— आल पालिटीशंस फेल्ड अस...।”<sup>140</sup>

कथाकार द्रोणवीर कोहली मुस्लिम लीग और उसके नेता मुहम्मद अली जिन्नाह को भी विभाजन के लिए उत्तरदायी ठहराते हुए ‘वाह कैंप’ के पात्र मनोहर अरोड़ा के मुख से ही कहलाया है— “उधर जिन्नाह अपने

आपको 'फादर आव द नेशन' कहलवाने को बेकरार बैठा था ताकि इतिहास में उसका नाम दर्ज हो जाए।<sup>141</sup>

बहरहाल, इस देश का विभाजन हो गया और जिसके दुष्परिणाम निर्दोष गरीब जनता को भुगतने पड़े। उन्हें अनचाही और अनजान जगह पर रहने को विवश होना पड़ा— इन सबकी यथार्थ अभिव्यक्ति 'वाह कैप' उपन्यास में देखी जा सकती है।

उपन्यास में यह भी चित्रित किया गया है कि 'वाह कैप' का कथानायक और अन्य शरणार्थी जब ट्रेन से भारत आते हैं तो किस तरह ट्रेन में ये लोग भेड़-बकरियों की तरह ठूँस-ठूँस कर भरे जाते हैं और दम घोंटू डिब्बों में बैठकर नारकीय यातना भोगते हैं। कुछ रास्ते में ही बिछुड़ जाते हैं तो कुछ परिवार भारत पहुँचकर अपने अन्तर्विरोधों के चलते बिखर जाते हैं। इसका उदाहरण कथा नायक 'मैं' ही हैं जो अभी किशोर है, अकेला पड़ जाता है। कथानायक के संदर्भ में शाहबाद मार्कण्डा के शरणार्थियों द्वारा सृजित लोकगीत सटीक बैठता है—

“तूने हमें घरों से उखाड़ा,

सड़कों पर फेंका,

धूल फाँकते फिरते हैं,

न खाने को रोटी है

न ओढ़ने को कपड़ा है...।<sup>142</sup>

लेकिन कथानायक अपनी संघर्ष क्षमता के बल पर समाज में अपना सम्मानजनक स्थान बनाने में सफल जो जाता है।

कथाकार द्रोणवीर कोहली ने इस विकट समय में मनुष्य की मनुष्यता

को भी जाँचने परखने का प्रयास किया है। एक ओर गणेशचाचा, चौधरी हीरालाल, चाचा घसीटा (प्रभदयाल) जैसे सहृदय लोग उभरते हैं जो हर किसी के सुख—दुःख में शरीक होना चाहते थे तो दूसरी ओर गुनीराम जैसे सूदखोर, कमीने लोग भी थे जो इस दुख की घड़ी में भी अपने क्रूर व्यवहार से दूसरों को आहत करने से बाज नहीं आते थे। प्रस्तुत उपन्यास में कथानायक का यह कहना बिलकुल ठीक है कि “ऐश्वर्य, धन—वैभव के बिना मनुष्य जीवन निरर्थक है। निःसार है।”<sup>143</sup> तभी तो सबका भला चाहने वाले सगे गणेश चाचा भी कथानायक और उसके पिता हरदयाल को अकेले शाहबाद छोड़ जाते हैं बगैर यह चिन्ता किए कि सर्दी के मौसम में कपड़ों और पैसों के बिना वे कैसे गुजारा करेंगे। इसी तरह कथानक के भाई—भाभी भी उसे अकेला छोड़कर चले जाते हैं, बगैर यह सोचे हुए कि यह साधनहीन अकेला लड़का क्या खाएगा—पीएगा तथा कैसे जिन्दा रहेगा। इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में मनुष्य के अच्छे—बुरे दोनों रूपों पर भी दृष्टि डाली गयी है।

## निष्कर्ष

1980—2000 तक की कालावधि में लिखे गये उक्त उपन्यासों के अध्ययन अनुशीलन से कई तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं एक तो यह कि इस देश में सांप्रदायिक संकीर्णता की जड़ें बहुत गहरी हो चुकी हैं। द्वितीय सांप्रदायिकता सीधे—सीधे वोटों की राजनीति से जुड़ी है जो हिंसा और मारकाट को बढ़ावा देकर देश की एकता और अखण्डता को खतरे में डालती है। तृतीय, सांप्रदायिकता की आग में निरपराध और सीधे—सादे लोग झुलसते

हैं और राजनेता मात्र कोरी शाब्दिक प्रतिक्रिया व्यक्त करके अपने जोड़ घटाओं में लग जाते हैं। ये उपन्यास इस तथ्य को भी बहुत मार्मिकता के साथ उजागर करते हैं कि दंगों की आग तो शांत हो जाती है और थोड़े समय बाद हालात भी सामान्य हो जाते हैं, किन्तु कुछ लोगों की संवेदना और आत्मीयता सदैव के लिए राख हो जाती है। 1992 में हुए बाबरी मस्जिद विध्वंश को इसके ज्वलन्त उदाहरण के रूप में देख सकते हैं कि आज भी दोनों संप्रदायों के मन में परस्पर घृणा का भाव भरा हुआ है जो आये दिन होने वाले दंगों में प्रस्फुटित हो जाता है।

## संदर्भ

1. हरिनारायण ठाकुर : वैश्विक चिन्ताओं के बीच मानव मुक्ति की पड़ताल, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक-105, जनवरी-फरवरी, 2003, पृ० 145
2. कमलेश्वर : कितने पाकिस्तान, दिल्ली, 2008, पाँचवे संस्करण की भूमिका।
3. कमलेश्वर : कितने पाकिस्तान, दिल्ली, 2008, मुखपृष्ठ।
4. वही, पृ० 285
5. वही, भूमिका
6. वही, पृ० 110-11
7. वही, पृ० 93
8. वही, पृ० 103
9. वही
10. वही, पृ० 139
11. वही, पृ० 187
12. वही, पृ० 362-63
13. रामचन्द्र तिवारी : हिन्दी का गद्य-साहित्य, वाराणसी, 2006, पृ० 231
14. हरिनारायण ठाकुर : वैश्विक चिन्ताओं के बीच मानव मुक्ति की पड़ताल, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक-105, जनवरी-फरवरी, 2003, पृ० 146
15. कमलेश्वर : कितने पाकिस्तान, दिल्ली, 2008, पृ० 153
16. शिवमूर्ति : त्रिशूल (हंस मासिक पत्रिका में प्रकाशित) संपा० राजेन्द्र यादव, दिल्ली, अंक-3, अक्टूबर, 1993, पृ० 76
17. वही, पृ० 69
18. वही, पृ० 73
19. शिवमूर्ति : त्रिशूल (हंस मासिक पत्रिका में प्रकाशित) संपा० राजेन्द्र यादव, दिल्ली, अंक-3, अक्टूबर, 1993, पृ० 81
20. वही, पृ० 83
21. वही, पृ० 86
22. वही
23. वही, पृ० 75

24. भगवान सिंह : उन्माद, दिल्ली, 1999, पृ० 59
25. वही, पृ० 144
26. वही, पृ० 57
27. वही, पृ० 55
28. वही, पृ० 145—46
29. वही, पृ० 98
30. वही, पृ० 309
31. वही, पृ० 309—10
32. वही, पृ० 146
33. गीतांजलि श्री : हमारा शहर उस बरस, दिल्ली, 1998, विज्ञप्ति।
34. वही, पृ० 17
35. वही, पृ० 7
36. वही, पृ० 94—95
37. वही, पृ० 22
38. वही, पृ० 28
39. वही, पृ० 33
40. वही, पृ० 41
41. वही, पृ० 57
42. वही, पृ० 101
43. वही, पृ० 64
44. वही, पृ० 349
45. वही, पृ०
46. वही, पृ० 350
47. वही, पृ० 60
48. वही, पृ० 89
49. वही, पृ० 26
50. वही, पृ० 51
51. वही, पृ० 173
52. वही, पृ० 262
53. वही, पृ० 67—68
54. वही, पृ० 72



55. वही, पृ० 105
56. नासिरा शर्मा : जिन्दा मुहावरे, दिल्ली, 2001, भूमिका, पृ० 7-8
57. वही, पृ० 11
58. वही, पृ० 15
59. वही, पृ० 88
60. वही, पृ० 20
61. वही, पृ० 32
62. वही, पृ० 31
63. वही, पृ० 124
64. वही, पृ० 124-25
65. वही, पृ० 125
66. वही, पृ० 100
67. वही, पृ० 49
68. वही, पृ० 101
69. अख्तर खां पठान : जिन्दा मुहावरे के बहाने सरहद के दोनों पार निर्वासितों की कथा, समय माजरा (संपा० हेतु भारद्वाज), अंक 9-10, सित०-अक्टू०, 2001, पृ० 27
70. गोपालरायः हिन्दी उपन्यास का इतिहास, दिल्ली, 2002, पृ० 381
71. वही, पृ० 114
72. वही, पृ० 137
73. वही, भूमिका, पृ० 8
74. मंजूर एहतेशाम : सूखा बरगद, दिल्ली 1989, विज्ञप्ति।
75. वही, पृ० 37
76. वही, पृ० 41
77. वही, पृ० 55
78. वही, पृ० 55-56
79. वही, पृ० 60
80. वही, पृ० 68
81. वही, पृ० 68-69
82. वही, पृ० 32
83. वही, पृ० 70

84. वही, पृ० 93
85. वही, पृ० 95
86. वही, पृ० 113
87. वही, पृ० 115
88. वही, पृ० 119
89. वही, पृ० 81
90. वही
91. वही, पृ० 200
92. रामचन्द्र तिवारी : हिन्दी का गद्य—साहित्य, वाराणसी, 2006, पृ० 244
93. प्रियंवद : 'वे वहाँ कैद हैं', दिल्ली, 1994, पृ० 8
94. वही, पृ० 8
95. वही, पृ० 105
96. वही, पृ० 6
97. वही, पृ० 23
98. वही, पृ० 29—30
99. वही, पृ० 34—35
100. वही, पृ० 9
101. वही, पृ० 47
102. वही, पृ० 63
103. वही, पृ० 67—68
104. वही, पृ० 99
105. वही, पृ० 123
106. वही, पृ० 111
107. गोपालरायः हिन्दी उपन्यास का इतिहास, दिल्ली, 2002, पृ० 395
108. अब्दुल बिस्मिल्लाह : 'मुखड़ा क्या देखे', दिल्ली, 1996, पृ० 18
109. वही, पृ० 31
110. वही, पृ० 43
111. वही, पृ० 141
112. वही, पृ० 32
113. वही,
114. वही, पृ० 121—22

115. वही, पृ० 123
116. वही, पृ० 68—69
117. वही, पृ० 45
118. रामचन्द्र तिवारी : हिन्दी का गद्य—साहित्य, वाराणसी, 2006, पृ० 201
119. कामतानाथ : 'काल—कथा' (भाग—1) दिल्ली, 1998, पृ० 18
120. वही,
121. वही, पृ० 61
122. वही,
123. वही, पृ० 62
124. वही, पृ० 295
125. कामतानाथ : 'काल—कथा' (भाग—2) दिल्ली, 1998, पृ० 130
126. वही, पृ० 482
127. वही
128. द्रोणवीर कोहली : 'वाह कैप', दिल्ली, 1998, विज्ञप्ति।
129. वही, पृ० 33
130. वही, पृ० 91
131. वही, पृ० 54
132. वही, पृ० 172
133. वही, पृ० 93
134. वही, पृ० 213
135. वही, पृ० 213—14
136. वही, पृ० 214
137. वही, पृ० 211—12
138. वही, पृ० 203—04
139. वही, पृ० 206
140. वही, पृ० 204
141. वही, पृ० 213
142. वही, पृ० 406
143. वही, पृ० 378

## सप्तम् अध्याय

सांप्रदायिक विचारधारा और  
समकालीन हिन्दी उपन्यास का  
शिल्प-विधान

## सांप्रदायिक विचारधारा और समकालीन हिन्दी उपन्यास का शिल्प—विधान

कोई भी विचारधारा मानव जीवन को एकांगी रूप से प्रभावित नहीं करती वरन् उस विचारधारा से हमारा पूरा जीवन प्रभावित होता है। सांप्रदायिकता भी एक ऐसी ही विचारधारा है जो वैश्विक चिन्तन के क्षेत्र में आये परिवर्तनों का एक महत्वपूर्ण सोपान है। इसने साहित्यिक परिदृश्य को भी बहुत गहराई से प्रभावित किया है जिसकी मुखर अभिव्यक्ति समकालीन हिन्दी उपन्यासों में हुई है जिसे हम पिछले अध्याय छह में स्पष्ट कर चुके हैं।

सांप्रदायिकता की समस्या ने हिन्दी उपन्यास के ढाँचे को भी बहुत गहराई से प्रभावित किया है। जैसे गीतांजलि के 'हमारा शहर उस बरस', दूधनाथ सिंह के 'आखिरी कलाम' उपन्यासों का ढाँचा परम्परागत उपन्यास के शिल्प—विधान के आधार पर नहीं है गीतांजलि श्री के 'हमारा शहर उस बरस' उपन्यास में तो जैसे कथानक ही नहीं है बल्कि सांप्रदायिक दंगों का इस उपन्यास में आद्यन्त व्याप्त है। सांप्रदायिक दंगों के भय को ही भय इस उपन्यास का मूल कथ्य बनाया गया है। यह भय ही इस उपन्यास के रचना—विधान के सूत्रों को अखबार की कतरनों की तरह जोड़ता है और एक कथाहीन उपन्यास की कथा अपने आप बन जाती है। स्पष्ट है कि सांप्रदायिकता की समस्या ने समकालीन हिन्दी उपन्यास के रचना—विधान को भी बहुत गहराई से प्रभावित किया है।

### सांप्रदायिक विचारधारा का स्वरूप

सांप्रदायिकता से सामान्यतः हमारा तात्पर्य किसी एक संप्रदाय के विरुद्ध किये गये उत्तेजक लेख या भाषण अथवा उसके प्रति भेदभाव की नीति से है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो पायेंगे कि स्थूलतः हिन्दू—मुस्लिम जनता के बीच विद्यमान विद्वेष, घृणा, हिंसा वैमनस्य, प्रतिहिंसा के भावों को ही सांप्रदायिकता कहा जाता है।

भारत में सांप्रदायिक विचारधारा का उन्मेष अंग्रेजों के भारत आने के बाद से ही हुआ। क्योंकि उसी समय के दौरान छोटे—मोटे तौर पर इतिहास की पाठ्य पुस्तकों के बहाने सांप्रदायिक विचारधारा का प्रचार किया जाने लगा था। इस दिशा में ब्रिटिश इतिहासकार जेम्स मिल का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने भारतीय इतिहास का काल—विभाजन धर्म के आधार पर करते हुए प्राचीन काल को हिन्दू काल, मध्य काल को मुस्लिम काल और आधुनिक काल को ब्रिटिश काल के रूप में बाँटा। लेकिन इस दृष्टि से उन्हें आधुनिक काल को ईसाई युग कहना चाहिए था। लेकिन उन्होंने जानबूझकर ऐसा किया। यह हमारा दुर्भाग्य रहा कि कालान्तर में ब्रिटिश और भारतीय इतिहासकारों ने भी इस मामले में जेम्स मिल का ही अनुसरण किया।

मध्यकाल में मुस्लिम जनता भी उतनी ही निर्धन, शोषित और दमन का शिकार थी जितनी हिन्दू जनता और फिर जमींदारों, जागीरदारों और शोषकों में हिन्दू—मुसलमान दोनों ही शामिल थे। फिर भी इन लेखकों ने घोषित कर दिया कि उस दौर में सभी मुसलमान शासक थे और सभी हिन्दू शासित। यानी भारत की राज्यव्यवस्था के चरित्र का भी सांप्रदायीकरण

कर दिया गया। इसे एक विडम्बना ही कहा जायेगा कि सभी सांप्रदायिकतावादी इतिहासकारों ने साम्राज्यवादियों की हाँ में हाँ मिलाते हुए मध्ययुगीन इतिहास को हिन्दू-मुस्लिम विवाद का एक दीर्घ अध्याय करार दिया और यह माना कि पूरे मध्ययुग में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियाँ अलग-अलग मौजूद रहीं। मध्यकाल में हिन्दू राजाओं और मुस्लिम शासकों के बीच जो लड़ाइयाँ होती थीं उन्हें भी हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के रूप में चित्रित किया जाने लगा जबकि यह सत्य से कोसों दूर है। क्योंकि इस दौर में जो हिन्दू-मुस्लिम शासकों के बीच लड़ाइयाँ हुई वे सभी लड़ाइयाँ सांप्रदायिकता के कारण नहीं बल्कि अपना-अपना वर्चस्व बनाये रखने और शासन-क्षेत्र की सीमा बढ़ाने के लिए हुई थीं।

अतः भारत में सांप्रदायिकता का उद्भव और विकास अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति की देन है। असगर अली इंजीनियर भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं, "सांप्रदायिकता आधुनिक परिघटना है, मध्यकालीन नहीं। सार रूप में यह अंग्रेजी काल की उत्पत्ति है। इसके अनेक कारण हैं। अंग्रेजों ने फूट डालों और राजकरो की नीति अपनाई और हिन्दू-मुसलमानों में तनाव पैदा किया, जो इस स्तर पर पहले कभी नहीं था।"<sup>1</sup>

इस प्रकार भारतीय इतिहास, विशेष रूप से प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय इतिहास की सांप्रदायिक और विकृत व्याख्या सांप्रदायिक चेतना के फैलाव का एक मुख्य हथियार साबित हुई। सांप्रदायिक विचारधारा का यह एक बुनियादी अंग भी था। स्कूल, कॉलेजों में भारतीय इतिहास बुनियादी रूप से सांप्रदायिक दृष्टि से पढ़ाया जा रहा था। फलस्वरूप

सांप्रदायिक चेतना के उदय और विकास में यह दृष्टि नींव का पत्थर साबित हुई। क्योंकि सदियों से बल्कि आधुनिक स्कूल व्यवस्था की शुरुआत से ही पहले साम्राज्यवादी लेखकों द्वारा और बाद में अन्य लेखकों द्वारा इतिहास की साम्राज्यवादी और विकृत व्याख्याएँ ही पेश की गईं।

इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्याएँ केवल पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से ही नहीं फैलायी जा रही थी, वरन् इसके लिए उनसे भी ज्यादा कविताओं, नाटकों, उपन्यासों और कहानियों तथा समाचार-पत्रों और लोकप्रिय पत्रिकाओं एवं चर्चा का भी इस्तेमाल किया जा रहा था। इसका प्रभाव भारतीय जनमानस पर इतना गहरा पड़ा कि कुछ राष्ट्रवादी नेताओं ने भी भले ही काफी अचेतना स्तर पर इनमें से कुछ व्याख्याओं को अंगीकार कर लिया। यही कारण था कि आजादी की लड़ाई के दौरान बहुत से जुझारू नेताओं ने राष्ट्रीयतावादी विचारधारा में हिन्दुत्व का पुट जोड़ दिया। राजनैतिक आन्दोलन में हिन्दू मुहावरों का इस्तेमाल आरंभ हो गया। तिलक ने राष्ट्रीयता का प्रचार करने के लिए गणेश पूजा और शिवाजी उत्सव का सहारा लिया तो बंग भंग के खिलाफ आन्दोलन की शुरुआत गंगा में डुबकी लगाकर की गई अतः स्वाभाविक था कि मुस्लिम सांप्रदायिकतावादियों पर इसकी प्रतिक्रिया होती। फलस्वरूप शिक्षित मुसलमानों में अंसतोष पैदा हुआ। अतः उन्होंने भी यह प्रचारित करना शुरू कर दिया कि मध्यकाल मुस्लिम शासकों का काल था और इसीलिए भारत के मुसलमान सच्चे अर्थों में शासक वंश के लोग हैं। हिन्दू प्रतीकों, मुहावरों और मिथकों के इस्तेमाल के कारण भी मुसलमानों में पृथक्त्व की भावना पनपी। शायद ऐसी विकट स्थिति को देखकर ही प्रेमचन्द ने लिखा भी है कि “वह



मुबारक दिन होगा, जब हमारी शालाओं से इतिहास उठा दिया जायेगा।”<sup>2</sup> अतः भारतीय इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्या ही हिन्दू सांप्रदायिक विचारधारा की जड़ है।

प्रसिद्ध इतिहाकार रजनी पाम दत्त ने सांप्रदायिकता का विश्लेषण “विकासशील मध्यवर्ग को प्रभावित करने वाली सामाजिक व आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता” के रूप में किया है।<sup>3</sup> निःसेन्दह आज भी अधिकतर सांप्रदायिक दंगे आर्थिक प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप ही होते हैं।

सांप्रदायिकता को धर्म से जोड़कर देखना भी गलत होगा क्योंकि धर्म तो आपस में जोड़ने का ही काम करता है न कि परस्पर फूट पैदा करना। क्योंकि किसी भी धर्म—ग्रन्थ चाहे वह श्रीमद्भागवत् गीता हो, कुरान हो, श्री गुरुग्रन्थ साहिब हो, में कहीं भी ऐसा नहीं लिखा है कि दूसरे धर्म के लोगों को नीचा समझें तथा उनसे भेदभाव रखें। प्रत्येक धर्म मनुष्य को मानवता का पाठ पढ़ाता है। दरअसल, धर्म का इस्तेमाल तो कुछ राजनीतिज्ञ अपनी सत्तालोलुपता के चलते करते हैं। असगर अली इंजीनियर सांप्रदायिकता को सत्तासीन तबकों के लिए एक राजनीतिक हथियार के रूप में देखते हैं, “सांप्रदायिकता सत्तासीन तबकों के लिए एक राजनैतिक हथियार है, समाज में दो तरह की राजनीति होती है। एक राजनीति लोगों को जोड़ती है, लोगों का भाईचारा मजबूत करती है। दूसरी, लोगों की समन्वयता को तोड़ती है, उनमें फूट डालती है; पहली राजनीति लोगों में मौजूद समान बिन्दुओं को उजागर करती है; दूसरी राजनीति चालाकीपूर्ण शब्दाडम्बर प्रयोग करके लोगों में व्याप्त धर्म, संप्रदाय, जाति, क्षेत्र, भाषा, नस्ल आदि की विविधताओं को अनिवार्यतः परस्पर विरोधी होने का भ्रम

फैलाती है। यह राजनीति, अर्धसत्यों व तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर चलती है। इतिहास को, संस्कृति को, धर्म को सांप्रदायिक रंग देकर प्रस्तुत करती है और एक से दूसरे के प्रति संदेह, अविश्वास एवं घृणा का प्रचार करती है। पहली किस्म की राजनीति लोगों को धर्म, जाति, क्षेत्र भाषा व नस्ल आदि की सीमाओं को लाँघकर बृहत्तर समाज से जोड़ती है, वर्तमान में मौजूद शोषण व अत्याचार से छुटकारा पाने के लिए समाज में परिवर्तन के लिए मानव एकता की बात करती है। दूसरी राजनीति परिवर्तन व सीमाओं को लाँघने के बजाए 'जैसा है वैसा ही रहे' और अपनी सीमाओं के खोल में गर्व महसूस करने को प्रेरित करती है। 'जैसी है वैसी बनी रहे' की स्थिति में उस वर्ग को लाभ होता है जिसका समाज में प्रभुत्व है यानि साधनों पर कब्जा है। प्रभुत्वशाली वर्ग प्रचार-माध्यमों का सहारा लेकर लोगों में इतनी घृणा फैला देता है कि इन्हें आपस में स्वाभाविक दुश्मन की तरह प्रस्तुत कर देता है। भारत में अंग्रेजों ने इस 'फूट डालो राज करो' की नीति का सहारा लेकर अपना राज्य चलाया और अपनी मदद के लिए सांप्रदायिक शक्तियों की मदद ली। स्वतन्त्रता के बाद भी वैसे ही स्वार्थ भारत में सांप्रदायिकता फैला रहे हैं।<sup>4</sup>

अतः सांप्रदायिकता किसी भी धर्म के बंधन में बंधी हुई नहीं है और न ही यह संविधान पर विश्वास रखती है और न इंसानियत को मानती है। इस संदर्भ में जगदीश्वर चतुर्वेदी का यह कथन दृष्टव्य है, "सांप्रदायिकता का कोई धर्म नहीं होता। वह न तो धर्म के तर्क को मानती है, न संविधान के तर्क को मानती है, न नागरिक समाज के तर्क को मानती है। उसे न पश्चिम पसंद है, न पूरब पसंद है, वह न तो आधुनिक को मानती है और

न प्राचीन को मानती है। उसके लिए ज्ञान बेमानी है, विज्ञान बेमानी है। वह न अपने गुरु की सगी है और न अपने पीर की सगी है। वह न स्त्रियों की सगी है और न अछूतों की सगी है, उसका अल्पसंख्यकों, खासकर धार्मिक अल्पसंख्यकों से शत्रु भाव है। उसी तरह वह बुनियादी तौर पर राष्ट्र के हितों के प्रति भी शत्रु भाव रखती है। उसके लिए ईश्वर उपासना और आराधना की चीज न होकर, धार्मिक गिरोहबंदी का आक्रामक उपकरण है। धार्मिक गिरोहबंदी के जरिए सांप्रदायिकता अपनी वैचारिक स्वीकृति पैदा करने की कोशिश करती है। धर्म और धार्मिक प्रतीक उसके लिए बहाना मात्र हैं। सांप्रदायिकता के तर्क और उपकरण हमेशा आभासी होते हैं। धर्म भी आभासी होता है। वह धर्म की किसी एक कृति विशेष पर आधारित करके अपना प्रचार-अभियान नहीं चलाती अपितु धर्म के मनमाने रूप और तर्कों का इस्तेमाल करती है। सांप्रदायिकता वस्तुतः आधुनिक वैचारिक प्रपंच है। इसके तर्क और लक्ष्यों का निर्माण ब्रिटिश शासन के दौरान हुआ। कालान्तर में इसकी प्रकृति में बदलाव आया और यह ज्यादा से ज्यादा सांप्रदायिक विश्व अनुभवों से सीखने लगी। विश्व के तमाम नये फासीवादी विचार इसके तरकश में आते रहे हैं जिनका इसने समय-समय पर इस्तेमाल किया है। यह एक विश्वव्यापी प्रपंच है और बहुराष्ट्रीय पूँजी के हितों से इसका प्रत्यक्ष संबंध है। अस्मिता के ह्रासशील रूपों का यह अपने जनाधार के निर्माण के लिए इस्तेमाल करती है।<sup>5</sup> उपर्युक्त विचार के आधार पर कहा जा सकता है कि सांप्रदायिकता धर्महीन, संविधानहीन, मानवताहीन, दिशाहीन, ज्ञानहीन, काल रहित और संबंधरहित आदि सभी भावों से परिपूर्ण है।

धार्मिकता वस्तुतः पूँजीवाद का प्रमुख वैचारिक अस्त्र है। यह धर्म के उपभोक्ताओं का भावनात्मक तौर पर एकीकृत समूह है। धार्मिकता चूँकि बाजार के तर्कों से जुड़ी होती है अतः उसमें बाजार के तर्कों में निहित अंधविश्वास का तत्व स्वतः ही चला आता है। यह पुराने किस्म के अंधविश्वास से भिन्न है। पूँजीवाद जिस तरह माल के प्रति अंधभक्ति पैदा करता है, धार्मिकता भी ठीक वैसी ही अंधभक्ति का निर्माण करती है। यही वजह है कि इन दिनों माल के भक्तों और भगवान के भक्तों में अंतर करना मुश्किल हो गया है। क्योंकि अब माल की तरह भगवान की भी मार्केटिंग की जाने लगी है— मौजूदा दौर पैकेजिंग और मार्केटिंग का है इसके कारण भगवान अब हर तरह ही पैकेजिंग में उपलब्ध है धर्म अब छपकर बिकता है। लगता है धर्म से बढ़कर बिकाऊ माल दूसरा नहीं है। जैसे— लक्ष्मी भोग आटा, गंगा छाप शुद्ध मसाला, गाय छाप ब्राह्मी आँवला तेल आदि धार्मिक प्रतीक उस वस्तु के शुद्ध होने की गारन्टी हैं।

श्री जगदीश्वर चतुर्वेदी ठीक ही कहते हैं कि “मौजूदा दौर पैकेजिंग और मार्केटिंग का है इसके कारण ही भगवान आज हर तरह की पैकेजिंग में उपलब्ध है। जिसकी पैकेजिंग आकर्षक और मार्केटिंग आक्रामक है वही भगवान ज्यादा प्रचलन में है। सांप्रदायिक ताकतों को भगवान के इस रूप से वैचारिक तौर पर लाभ मिलता है। पैकेजिंग और आक्रामक मार्केटिंग के बिना भगवान उनके लिए अनुपयोगी है। जितनी अच्छी पैकेजिंग और मार्केटिंग उतनी ही ज्यादा जनता धार्मिकता के दायरे में होगी और आस्थाएँ भी उतनी ही ज्यादा मजबूत होंगी। उतनी ही बड़ी अंधभक्तों की कतार होगी। ऐसे भक्त के पास सिर्फ भावनाएँ होती हैं। तर्क नहीं होता।

विज्ञान सम्मत ढंग से सोचने की दृष्टि नहीं होती। यही वहज है कि धार्मिकता का अधिनायकवाद, पृथक्तावाद और आतंकवाद किसी से भी बैर नहीं है बल्कि ये अपने-अपने तरीके से इसकी पैकेजिंग मात्र बदल देते हैं।<sup>6</sup> अतः स्पष्ट है कि धर्म और धार्मिकता दो अलग-अलग तत्व हैं। इन दोनों में टकराहट 19 वीं सदी के आसपास शुरू होती है। समग्रता में दोनों का शासक वर्ग के हितों से गहरा संबंध है।

सांप्रदायिकता के हिन्दुत्ववादी तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए जगदीश्वर चतुर्वेदी लिखते हैं, “आजकल ‘हिन्दु’, ‘हिन्दूवाद’ और ‘छद्म हिन्दू’ ये तीन पद-बंध बड़े पैमाने पर प्रयोग में लाये जा रहे हैं। सांप्रदायिकता का इनमें से ‘छद्म हिन्दू’ और ‘हिन्दूवाद’ से सीधा संबंध है। हिन्दूओं से इसका न तो वैचारिक संबंध है और न सामाजिक संबंध है, न धार्मिक संबंध है और न परम्परागत संबंध है बल्कि हिन्दुओं के लिहाज से यह एक बेगाना और प्रतिगामी कट्टरपंथ राजनीतिक समूह है जिसका राजनीतिक लक्ष्य है, राजनीतिक कार्यक्रम है और इसे हासिल करने के राजनीतिक मार्गों का यह अनुसरण करती है। इसके राजनीतिक कार्यक्रम की खूबी यह है कि इसमें पापुलिज्म की अपील है और आम जनता को आंदोलित करने, एकजुट करने के लिए नई पुरानी मासकल्चर के रूपों का इस्तेमाल करने में इसे कोई संकोच नहीं होता। इसके सामाजिक और राजनीतिक आधार को संयुक्त परिवार, पितृसत्तात्मकता और उपभोक्तावाद निर्मित करते हैं। ये तीनों तत्व जिस समाज में मजबूत होंगे वहाँ पर सांप्रदायिकता का स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में विकास होता हुआ दिखाई देगा।<sup>7</sup> अतः स्पष्ट है कि सांप्रदायिक संगठनों का धर्म से अवसरवादी और मनमाना संबंध है।

सांप्रदायिक ताकतों ने धार्मिक पहचान का शुरु से ही सत्ता की आड़ में दुरुपयोग किया है। बहुसंख्यक सांप्रदायिकता निश्चय ही फासीवाद की ओर ले जाती है तो अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता से अलगाववाद एवं अलगाववादी ताकतों को बढ़ावा मिलता है। यह भी एक सच्चाई है कि जब सांप्रदायिक विचारधारा एक बार अपनी जड़ जमा लेती है और काफी समय तक फैलती रहती है तो वह बहुत ताकतवर हो जाती है। यही कारण है कि आज भी सांप्रदायिकता बरकरार है अपितु विविध रूपों में हमारे सामने एक चुनौती बनकर खड़ी है।

सन् 1980 के बाद भारत में जिस तरह उपभोक्तावाद का उभार आया, उसमें सांप्रदायिक राजनीति के मुद्दे आये— इन सभी के परिणामस्वरूप सांप्रदायिक संगठनों और सांप्रदायिक दंगों को बढ़ावा मिला। इस प्रकार की स्थिति पिछले 25 वर्षों में नहीं देखी गई। इस दौर में ही आर्थिक उदारीकरण के नाम पर विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की नीतियों के अंधानुकरण की ओर सत्ता मुखातिब हुई। अतः हिन्दू— मुस्लिम सांप्रदायिकता ने अपनी—अपनी माँगों पर सत्ता पर दबाव डाले और तरह—तरह के राजनीतिक लाभ प्राप्त किए। इस दौर में सांप्रदायिकता अपने उद्दाम रूप में दिखाई देती है। जिसका प्रस्फुटन 1984 के सिख दंगों और 1992 में बाबरी मस्जिद विध्वंस के रूप में दिखाई देता है।

विगत दो दशक से भारतीय राजनीति ने जिस प्रकार सत्ता प्राप्ति के लिए सांप्रदायिकता का चोला ओढ़ा है उसे भी हम दृष्टिविहीन नहीं कर सकते। इस प्रकार की सांप्रदायिकता का मुख्य श्रेय भाजपा को ही जाता

है। भारत में जनसंघ वाली पार्टी भाजपा ही है जिसने भारतीय संविधान को ताक पर रखकर यहाँ सत्ता प्राप्त की है। इस संदर्भ में हम जगदीश्वर चतुर्वेदी के मन्तव्य को देख सकते हैं, “केन्द्र में भाजपा के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के सत्तारूढ़ होने के बाद और इससे पहले गुजरात में दो दशकों से भी ज्यादा समय तक शासन चलाते हुए संघी दृष्टिकोण को सत्ता के जरिए लागू करने की कोशिशें की गईं। गुजरात में साम, दाम, दण्ड, भेद का सहारा लेकर संघ ने आदिवासियों, हरिजनों और पिछड़ी जातियों को अपने हमले का निशाना बनाया। विगत दो दशक से संघ परिवार ने ऐसी माँगें उठाई हैं जिनका सीधा संबंध अल्पसंख्यकों के साथ है। इस क्रम में अल्पसंख्यकों का समाज में अलगाव बढ़ा है। संघ की कोशिश रही है कि अल्पसंख्यक दोयम दर्जे के नागरिक होकर रहें। राष्ट्र की मुख्यधारा में सिर्फ हिन्दू ही रहें। अन्य समूह शामिल होना चाहें तो राष्ट्र चाहें तो उन्हें हिन्दूवाद का वैचारिक वर्चस्व स्वीकार करना होगा। साथ ही, आदिवासियों और अल्पसंख्यकों को पुनः हिन्दू बनाने के प्रयास तेज किए गए। खासकर केन्द्र में अटल बिहारी वाजपेयी के सत्तारूढ़ होने के बाद इन प्रयासों में तेजी आ गई और राजस्थान, गुजरात, उड़ीसा आदि में जबरिया धर्मांतरण के प्रयास किए गए जिनकी जनमाध्यमों ने व्यापक रिपोर्टें प्रकाशित कीं।”<sup>8</sup>

इस प्रकार सत्ता पर काबिज होने के बाद संघियों की कार्यशैली के जो रूप सामने आये, वे किसी से छिपे हुए नहीं हैं। उदाहरणार्थ, जैसे— संसद में फैसलें लेने के बजाए मंत्रिमण्डल या फिर प्रधानमंत्री कार्यालय के

जरिए फैसलें लिए गये। संसदीय समितियों और संसद को सिर्फ गैर-जरूरी बातों का मंच बनाया गया अथवा संसद को अर्थपूर्ण ढंग से काम ही नहीं करने दिया गया। विभिन्न संसदीय समितियों की सिफारिशों को ताक पर रखकर मनमाने फैसलें लिए गये। राज्यपाल के पदों पर समस्त परम्पराओं को ताक पर रखकर ऐसे लोगों की नियुक्तियाँ की गईं जो संघ परिवार के प्रमुख नेता रहे हैं। नीतिगत सवालों पर राष्ट्रीय सहमति के बजाय संघ की सहमति और अमेरिका की सहमति को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई। प्रशासनिक मशीनरी और पुलिस सेवाओं का तेजी से संघीकरण अभियान शुरू किया गया आदि- आदि।

पुलिस बलों और प्रशासनिक मशीनरी के सांप्रदायिकीकरण के प्रमाण हमें 1992-93 के मुंबई-दंगों की जाँच कर रहे श्रीकृष्ण आयोग की रिपोर्ट में भी मिल जाते हैं। इसी प्रकार गुजरात और उड़ीसा में ईसाइयों पर हुए हमलों और ईसाइयों को पुनः धर्मान्तरित करने के लिए संघ परिवार के लोगों को जिस तरह प्रशासन ने खुली मदद दी उससे साफ जाहिर होता है कि प्रशासनिक मशीनरी का किस हद तक सांप्रदायिकीकरण हो चुका था।

इस प्रकार प्रशासन का सांप्रदायिकीकरण जहाँ एक ओर राज्य के धर्मनिरपेक्ष चरित्र को नष्ट करता है वहीं दूसरी ओर समाज में सांप्रदायिक ध्रुवीकरण को भी बढ़ावा देता है। सांप्रदायिक विचारों को वैद्यता प्रदान करने के लिए विभिन्न धार्मिक आयोजनों, मेलों, उत्सवों आदि का भी सांप्रदायिक संगठनों द्वारा सहारा लिया गया। इस संदर्भ में इन संगठनों ने शिक्षा व्यवस्था को भी लंबी रणनीति के तहत ही अपनी योजनाओं का



आधार बनाया और शिक्षा के विभिन्न संस्थानों और अनुसंधान संस्थानों को भी अपना निशाना बनाया। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता के मत से पूर्णतया सहमत हुआ जा सकता है कि, “सांप्रदायिक फासीवाद आज की सबसे बड़ी चुनौती है। सांप्रदायिक तत्व जिस सुनियोजित रूप से देश को हिन्दुत्व की प्रयोगशाला बनाने में जुटे हैं, यह भविष्य के लिए भी खतरनाक संकेत है। हम गुजरात में इस फासीवाद का नंगा नाच देख चुके हैं और यह भी देख रहे हैं कि कैसे पूरे देश में ‘गुजरात’ को दुहराने में कट्टरपंथी सांप्रदायिक शक्तियाँ जोर-शोर से लगी हुई हैं।”<sup>9</sup>

अतः स्पष्ट है कि सत्ता की राजनीति ने लोकतांत्रिक मूल्यों का मखौल बना लिया है। उसने धर्म, इतिहास, भाषा, संस्कृति सभी को अपने हितों की पूर्ति के लिए पूरी निर्लज्जता के साथ इस्तेमाल किया है। सत्यदेव त्रिपाठी ठीक ही लिखते हैं कि, “आज जब हिन्दू सांप्रदायिकता सत्ता के लिए धर्म का इस्तेमाल कर रही है, तब बाजार व उपभोग पूरे युग की वृत्ति बन चुकी है। यदि मस्जिद तोड़ी— तोड़वायी जाती है तो सत्ता को बनाये रखने की मंशा व विश्वास से और यदि मंदिर बनाये जाने का इम्प्रेशन बार-बार दिया जा रहा है तो सत्ता की शक्ति के साधक रूप में ही। यदि बार-बार कहकर मंदिर नहीं बनाया जा रहा है तो सत्ता के छूट जाने के डर से ही। यानी तब से आज तक सत्ता की शक्ति को पाने और शक्ति की सत्ता को अपनाने का औजार ही बनती है आ रही हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता।”<sup>10</sup>

अतः स्पष्ट है कि हर दौर में हर बार सत्ता व शक्ति ही सांप्रदायिकता के कारणों के मूल में रही हैं। धर्म, संप्रदाय, जाति, भाषा सब कुछ तो माध्यम

यम भर रहे हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इन सबके बारे में आम लोगों में जागरूकता पैदा की जाये। तभी हम एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की संकल्पना को साकार कर सकेंगे।

सांप्रदायिकता को बड़े पैमाने पर फैलाने का काम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद्, बजरंग दल, जमात-ए-इस्लामी और अकाली दल जैसे सांप्रदायिक-राजनीतिक दलों का ही नहीं है बल्कि शिक्षण संस्थाओं, धार्मिक स्थलों और सामाजिक मेल-मिलापों की चर्चाओं के जरिए भी सांप्रदायिकता को रास्ता मिलता रहता है। इसीलिए सांप्रदायिकता विरोधी अभियान सर्वप्रथम परिवार, मोहल्ला, स्कूल, कॉलेज, गाँव की चौपाल, सरकारी और निजी कार्यालयों, प्रतिष्ठानों और अन्य मेलमिलाप की जगहों से शुरू करना होगा तभी हम समाज में सांप्रदायिकता विरोधी माहौल तैयार कर सकेंगे।

इस दृष्टि से शिक्षा और प्रेस की भूमिका महत्वपूर्ण है। हमारी शिक्षा प्रणाली में स्कूल और कॉलेज दोनों स्तरों पर सांप्रदायिक और कुतर्कों वाली विचारधारा मौजूद है और फिर हिन्दू, मुस्लिम, सिख आदि के अपने-अपने संगठन भी हैं जो स्कूल चलाते हैं और चूँकि ये स्कूल धार्मिक आधार पर ही स्थापित किए गये हैं, इसलिए सांप्रदायिकता वहाँ प्राथमिकता बन जाती है। प्रेस के जरिए छपी हुई सामग्री का भी सांप्रदायिकता, जातिवाद और क्षेत्रीयता पनपाने और फैलाने में इस्तेमाल किया जाता है। विशेष रूप से पिछले कुछ वर्षों से भारतीय भाषाओं में सांप्रदायिक अखबारों और पत्रिकाओं का प्रचलन तेज हुआ है और अब तो कई टेलीविजन चैनल भी यही काम कर रहे हैं। यही कारण है कि शिक्षा और साक्षरता के विकास

से जहाँ सांप्रदायिक विचार घटने की उम्मीद की जा रही थी वहाँ वह बढ़ी ही है।

अतः शिक्षा और प्रेस दोनों को नए सिरे से दिशा देना अनिवार्य ही नहीं लगता वरन् यह समय की माँग भी है।

### शिल्प—विधान का स्वरूप और समकालीन हिन्दी उपन्यास

मूलतः 'शिल्प' अंग्रेजी के 'टेकनीक' शब्द का हिन्दी अनुवाद है। 'टेकनीक' शब्द की व्याख्या 'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' में इस प्रकार की गई है— "कलात्मक कार्य विधि की वह पद्धति जो संगीत अथवा चित्रकला में प्राप्य है।"<sup>11</sup> 'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' की यह परिभाषा सभी कला रूपों पर लागू होती है। इसी प्रकार की परिभाषा 'वृहद् हिन्दी—कोश' में मिलती है, जो इस प्रकार है— "शिल्प से अभिप्राय हाथ से कोई वस्तु तैयार करने अथवा दस्तकारी या कारीगरी से है।"<sup>12</sup> इस परिभाषा में शिल्प की स्थूल व्याख्या है। 'शिल्प' की विद्वानों ने अनेक परिभाषाएँ दी हैं, जो इस प्रकार हैं— डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के अनुसार, "शिल्प विधि कला के विभिन्न तत्वों अथवा उपकरणों की योजना का वह विधान, वह ढंग है जिससे कलाकार की अनुभूति अमूर्त से मूर्त हो जाय।"<sup>13</sup>

श्रीनारायण अग्निहोत्री के शब्दों में, "ज्ञान अपने में अखण्ड है और शाश्वत है पर उसे अपने ढंग से आत्मसात् करके नये सिरे से लोक चेतना के लिए ग्राह्य रूप से प्रस्तुत करने के लिए लेखक द्वारा जो बौद्धिक नियोजन किया जाता है, उसी को लेखक का रचना—कौशल कहते हैं। अपने मन्तव्य को दूसरों के लिए हम इस प्रकार प्रकाश में लाए कि लोग

सहसा उसकी ओर उन्मुख हो जाएँ और इष्ट मन्तव्य प्रकाश की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पूर्ण होने तक उसी में रमें रहें तब यह रचनाकार का कौशल कहलायेगा।”<sup>14</sup>

उपर्युक्त कोशगत व्याख्याओं और परिभाषाओं से स्पष्ट है कि शिल्प बात कहने का ढंग है अर्थात् विचाररूपी शरीर का शृंगार है— उसका मेकअप है। किसी भी रचना की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि कथ्य को किस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। प्रेमचन्द ने अपने महाकाव्यात्मक उपन्यास ‘गोदान’ में ग्रामीण और शहरी जीवन के समानान्तर चित्रण द्वारा जिस यथार्थ को उभारा वह उसी तकनीक में संभव था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ उपन्यास में सर्वथा नया प्रयोग किया और उन्होंने बाणभट्ट की आत्मा में प्रवेश किया। अज्ञेय ने ‘शेखर एक जीवनी’ में पूर्वदीप्ति और स्वच्छन्द प्रवाह से लगभग 48 घण्टे की कथा को जिस तरह समेटा उससे इस उपन्यास की अलग ही छवि बन गई। अतः लेखक द्वारा अपनाये जाने वाली इस अभिव्यक्ति तकनीक को ही शिल्प—विधान कहा जाता है।

वस्तुतः अनुभूति तथा भाव को व्यक्त करने का तरीका ही शिल्प विधि कहलाता है। जैसा कि विलियम ऑकलट ने कहा है, “टेकनीक ही माध्यम है जिसके कारण साहित्यकार की अनुभूति जो साहित्य का विषय है पाठक को उस अनुभूति की ओर ध्यान देने पर मजबूर करती है।”<sup>15</sup> अतः जब कोई उपन्यास रचना का रूप धारण कर लेता है तो उसमें कथ्य और शिल्प को अलग—अलग करना कठिन हो जाता है। क्योंकि रचना का मुख्य कार्य कथ्य का संप्रेषण है और संप्रेषण के लिए लेखक किसी न

किसी नई शिल्प-विधि का प्रयोग करता है।

सामयिक प्रवृत्ति में परिवर्तन होने के साथ-साथ लेखक के प्रस्तुतीकरण कौशल में भी परिवर्तन होता जाता है। फिर उपन्यास तो गद्य-साहित्य की विभिन्न विधाओं में सर्वाधिक समृद्ध और गरिमापूर्ण साहित्य रूप है। आकार-प्रकार तथा प्रतिपाद्य दोनों ही दृष्टियों से इसकी तुलना केवल महाकाव्य से की जा सकती है। जैसा कि श्रीनारायण अग्निहोत्री ने लिखा है, 'आज का उपन्यास अपने समय की परिस्थितियों का वास्तविक महाकाव्य है। अतः आज की ही परिस्थिति-सा उसका बाह्य स्वरूप सरलता और महत्व से पूर्ण होते हुए भी अपने में परिवर्तनशीलता की विशेष गति भी छिपाए है। सामाजिक एवं राजनीतिक प्रयोगों की भाँति उपन्यास के बाह्य स्वरूप के भी अभिनव प्रयोग हो रहे हैं।'<sup>16</sup>

जब हम 1980-2000 की अवधि के उपन्यासों के रचना विधान पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि इस काल में भाषा और शिल्प के स्तर पर अनेक नये प्रयोग हुए हैं। हर बड़ा लेखक अपनी हर रचना में नया प्रयोग करता है जो उस रचना को ताजा और प्रासंगिक बनाने के साथ दीर्घजीवी भी बनाता है। कोई भी शिल्प विधि हर लेखक के लिए आदर्श नहीं होती बल्कि हर कृति शिल्प की दृष्टि से एक नया प्रयोग होती है। जैसे-जैसे हमारे जीवन में वैचारिक तकनीकों, सुख-सुविधाओं के उपादानों तथा आन्तरिक विद्रूपताओं का आतंक बढ़ा है वैसे-वैसे उपन्यासकारों ने नई-नई शिल्प विधियों का प्रयोग किया है।

हिन्दी उपन्यास के मूल्यांकन के लिए अब पुराने मानदण्ड कम पड़ने लग गये हैं। क्योंकि उपन्यासों का स्वरूप उन मानदण्डों से कहीं परे चला

गया है। जैसा कि हरिनारायण ठाकुर लिखते हैं, “आज का कथा—साहित्य शिल्प के पारम्परिक ढाँचे से काफी आगे निकल चुका है। जिस प्रकार भाषा व्याकरण के बंधन और आग्रहों से मुक्त होती जा रही है, उसी प्रकार शिल्प भी कथ्य—वैविध्य के कारण पारंपरिक परिधानों को छोड़ रहा है।”<sup>17</sup> कमलेश्वर का ‘कितने पाकिस्तान’ उपन्यास इसका सबसे सशक्त उदाहरण है। इस उपन्यास के कथ्य और कथा—विस्तार को देखते हुए पारंपरिक अर्थ में उसमें किसी एक नायक, महानायक या खलनायक की कल्पना नहीं जा सकती। इसका नायक या महानायक समय हो सकता है। या ईश्वर। किन्तु समय और परिस्थितियों के साथ भी अदीब इस कथा का सूत्रधार है, जिसकी अदालत में दुनिया भर की सभ्यता—संस्कृतियों का लेखा—जोखा होता है, नायक—प्रतिनायकों का हिसाब होता है, समय से सवाल होता है और इन सवालों का जवाब बनी विद्या और सलमा पूरी संवेदना और सरोकारों के साथ अदीब के साथ हैं। अतः वे नायक—नायिकाएँ भी हैं।

संक्षेप में, विवेच्य उपन्यासों की शिल्प विधि के आकलन के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार करना अपेक्षित है—

### (1) विधा का अतिक्रमण

ई० एम० फोरेस्टर, डब्ल्यू० एच० हडसन, रिचर्ड चर्च प्रभृति विद्वानों द्वारा उपन्यास विधा का जो स्वरूप निर्धारित किया गया था, वर्तमान उपन्यास में उसका अतिक्रमण कर दिया है। इसका कारण यह है कि अब साहित्य की एक विधा दूसरी विधा में सेंध लगा रही है। जैसा कि डॉ०

अर्चना वर्मा ने कहा है कि, “कहानी के शुरू, बीच या आखिर में कहीं भी कहानी में सेंध लगाकर किसी निबंध या अखबार या सर्वेक्षण या रपट या आँकड़ों के टुकड़ों के बीच से निकलकर कहानी फैल जाए तो पाठक के लिए इसका एक नतीजा वह भी हो सकता है जो ‘नया ज्ञानोदय’ के जनवरी अंक में विजय मोहन सिंह के इस असमंजस में सुनायी देता है—कला या कथा में भाव बोध की भूमिका पर बात करना....यह अब तो घिसीपिटी बात कही जायेगी। लेकिन आज जब कथा चामत्कारिक होने की और उसी कारण प्रायः अबूझ हो जाने की सीमाएँ छूने लगी है तो भावबोध पर बात करना जरूरी लगता है क्योंकि भावबोध का संबंध सीधे कथ्य से है।”<sup>18</sup>

इस दृष्टि से देखें तो 1980–2000 की कालावधि के उपन्यासों में हमें नये–नये प्रयोग मिल जाते हैं। गीतांजलिश्री के उपन्यास ‘हमारा शहर उस बरस’ में कथानक जैसी कोई चीज नहीं है और ना ही उसमें घटनाओं का विकास है इसका कारण यह है कि लेखिका का उद्देश्य न तो घटनाओं का संयोजन करना है और न कथानक में नये–नये मोड़ देकर उसे पठनीय बनाना है बल्कि लेखिका सांप्रदायिक दंगों के दौरान किसी शहर के लोगों में विकसित होने वाली मानसिकता का माहौल प्रस्तुत करना चाहती है। इसके लिए उसने सर्वथा नये शिल्प का प्रयोग किया है।

‘हमारा शहर उस बरस’ में गीतांजलिश्री ने अखबारों की कतरनों के प्रयोग से इस उपन्यास का वृत्तान्त खड़ा किया है। छोटी–छोटी टिप्पणियाँ सांप्रदायिक दंगाग्रस्त शहर के जन–जीवन को इस कुशलता से रेखांकित

करती हैं कि सांप्रदायिक दंगा एक दैत्याकार पात्र के रूप में पाठक के समक्ष प्रकट हो जाता है, जिसका भय पूरे शहर में कोहरे की तरह फैल गया है— “आग तो लगी ही है। पर यहाँ नहीं, वहाँ।”<sup>19</sup> ‘हमारा शहर उस बरस’ का एक उदार, धर्मनिरपेक्ष पात्र हनीफ सांप्रदायिक मानसिकता पर टिप्पणी करता है— “एकदम से तो यह इंडस्ट्री नहीं बन गई। हम कहाँ थे, जब यह बन रही थी?”<sup>20</sup> इसी तरह कमलेश्वर का ‘कितने पाकिस्तान’ उपन्यास शिल्प की दृष्टि से एक नया प्रयोग है। इसमें किस्सागोई भी है और नाटकीय दृश्य—विधान भी। इस उपन्यास के संदर्भ में विष्णु प्रभाकर तो यहाँ तक कह देते हैं— “कमलेश्वर ने उपन्यास के बने—बनाए ढाँचे को तोड़ दिया है और लेखकीय अभिव्यक्ति के लिए सब कुछ संभव बनाने का दुर्लभ द्वार खोलकर एक नया रास्ता दिखाया है।”<sup>21</sup> फिर कालीकट (केरल) के एक सुधी पाठक कोविद अन्नतमूर्ति अनंगम के शब्दों में, “इस उपन्यास ने प्रेमचन्द से बहुत आगे जाकर जिस वैश्विक चिन्ता से हमें जोड़ा है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। प्रयोग के धरातल पर तो इसने कमाल किया है। प्रेमचन्द प्रयोगवादी नहीं थे, लेकिन प्रयोगवादी वात्स्यायन को उन्होंने सदियों पीछे छोड़ दिया है। इनकी भाषा ने जैनेन्द्र की निजी भाषा से हिन्दी को मुक्त करके उस भाषा और मुहावरे को पकड़ा है जो भविष्य की भाषा है।”<sup>22</sup>

स्पष्ट है कि ‘कितने पाकिस्तान’ उपन्यास शिल्प की दृष्टि से एक नया प्रयोग है जिसमें कथानक की रूपरेखा बहुत सुसंगत नहीं है। स्वयं कमलेश्वर के शब्दों में— “कोई नायक या महानायक सामने नहीं था, इसलिए मुझे समय को ही नायक—महानायक और खलनायक बनाना पड़ा।”<sup>23</sup>



अतः पूरा उपन्यास कभी पुराणों की तो कभी इतिहास की व्याख्या करता है। ऐसा लगता है कि लेखक ने इतिहास के माध्यम से सांप्रदायिकता की समस्या को विभिन्न चरणों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, 'कुछ भी हो! हम उस अतीत से कोई रिश्ता नहीं रखता चाहते थे जो इस्लामी नहीं है। यह पिरामिड, ये स्फिंक्स मूर्तियाँ हैं.....हमारे रसूल ने मूर्तियों को मंजूर नहीं किया, हम भी इन्हें मंजूर नहीं करते.....हम इन मूर्तियों को, जो पिरामिड और स्फिंक्स की शक्ल में यहाँ मौजूद हैं, इन्हें तोड़कर और मिटाकर सबाब के हकदार बनेंगे...ये पिरामिड, ये मंदिर, ये स्फिंक्स तब टुकड़े-टुकड़े होकर गीज़ा के रेगिस्तान में दफ़न हो जाएँगे! सुना तुमने!.....इन्हें हम इंसान की याददास्त से खत्म कर देंगे। यह धमकी मिस्र का एक मामूली आतंकवादी मुल्ला शेख अली याहिया दे रहा था।''<sup>24</sup> इस उपन्यास में वैदिक सभ्यता से लेकर आज तक के समय का वर्णन है किन्तु यह वर्णन किसी इतिहास क्रम को प्रकट नहीं करता बल्कि जैसे समय एक युग से दूसरे युग में छलांग लगाता है। जैसाकि अजयसिंह कहते हैं, "इतने बड़े उपन्यास में कोई एक कथा नहीं है, न देश, समय, काल की कोई सीमा या बंदिश है। जैसे नदी में लहरें उठती-गिरती हैं, जैसे मन में भावनाओं की तरंगें चलती हैं, वैसे ही यह उपन्यास चलता है। कभी फ़ंतासी, कभी कहानी, कभी दंतकथा, कभी इतिहास (या उसका नाम) कभी मिथ-पुराण, कभी गाथा, कभी लोक कथा—सब गड़गमड़ होता चलता है।''<sup>25</sup>

इस उपन्यास के पात्र भी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं लेकिन वे सभी जैसे वर्तमान में जी रहे हैं। इस दृष्टि से कमलेश्वर के इस उपन्यास का

शिल्प—विधान चमत्कारों से भरपूर है। इन छलांगों के कारण इस उपन्यास की पठनीयता भी बाधित हुई है। उदाहरणार्थ, “इन सरगर्मियों का खुलासा कौन करेगा? यह इतने हाथी, घोड़े, इधर से उधर आते जाते फौजी, घोड़े पर दौड़ते और खबरें पहुँचाते हरकारे....संदेशवाहक, मुखबिर और ऐलची! कहाँ अहमदाबाद, कहाँ औरंगाबाद और कहाँ बंगला का राजमहल....डरे और घबराए हुए लोग....शहरों से बाहर इंतजार में बैठी गिद्धों की फौज़...लावारिस कुत्तों के झुंड...आखिर यह सब है क्या? क्या गिद्धों, कुत्तों और चीलों को पहले से पता चल गया है कि क्या होने वाला है...अदीब ने अपना माथा ठोंकते हुए कहा।”<sup>26</sup>

भगवान सिंह ने भी अपने ‘उन्माद’ शीर्षक उपन्यास में अनेक विधियों का प्रयोग किया है। जैसे— इसमें डायरी का प्रयोग भी है और डायरी के महत्व का प्रतिपादन भी है। जैसाकि इस अवतरण से प्रमाणित हो जाता है— “मैं इस डायरी को इधर—उधर उलटने लगा। इनमें अनेक अंश किसी दूसरे की रूचि के नहीं हो सकते, इसलिए उनको देना आवश्यक नहीं समझता। एक अच्छी बात यह हुई कि उसकी एक सबसे पुरानी डायरी भी इन बची हुई डायरियों में थी। इसके कुछ अंशों को पढ़ने के बाद मैं स्वयं भी चकित अनुभव कर रहा था। छोटी अवस्था से ही उसके विचारों में जो स्पष्टता थी, उससे मुझे हैरानी हो रही थी। जब—तब लगता विचार किसी और के हैं और उन्हें सूक्ति के रूप में याद रखने के लिए उतार लिया गया है। विचार उलझे हुए अवश्य थे, या जहाँ तहाँ कुछ कड़ियाँ छूट गई थीं। कुछ स्थलों पर उसने बाद की किसी तिथि को कुछ काटा—बदला था, यह

स्याही की भिन्नता से प्रकट हो रहा था। वह डायरी लिखने के दिन या उससे पहले दिन जिन नए दुरुह शब्दों को 'आज मैंने निम्न दस नए शब्द सीखें' शीर्षक देकर अपनी डायरी में टांके रहता, उनका किसी—न—किसी तरह प्रयोग डायरी लेखन में भी करने का प्रयत्न अवश्य करता। सामान्य प्रयोग में आने वाले शब्दों को छोड़कर अप्रचलित या अल्पप्रचलित तत्सम शब्दों के प्रति उसका मोह दूसरे रूपों में भी प्रकट था। उर्दू या कहें अरबी और फारसी के शब्दों से यथासंभव बचने का प्रयत्न दिखाई देता था। इससे उसकी भाषा कृत्रिम हो गई थी। मैंने उसकी भाषा और वाक्य रचना को कुछ सुधारते हुए, उसकी डायरी के संगत अंशों को ही यहाँ दिया है।<sup>27</sup>

इसी तरह इस उपन्यास में लेखक ने जगह—जगह कुछ विशिष्ट उद्धरणों का उपयोग भी किया है। जैसे महात्मा गाँधी के 'नवजीवन' (15. 1.25) का यह उद्धरण दृष्टव्य है— "भारत देश का उत्थान उतना मुस्लिम व ईसाइयों पर निर्भर नहीं है जितना इस बात पर कि हिन्दू अपने धर्म की रक्षा कैसे करता है।"<sup>28</sup>

इसी प्रकार लेखक ने सांप्रदायिकता फैलाने के लिए कुछ 'नारानुमा शीर्षकों' का प्रयोग और उनके अन्तर्गत कुछ भावनाओं का वर्णन भी किया है। इस तरह के शीर्षक हैं— 'हिन्दू जागो, देश बचाओ',<sup>29</sup> 'हिन्दुओं का अपमान',<sup>30</sup> 'हिन्दू क्या करें',<sup>31</sup> 'अनुरोध'<sup>32</sup>। 'हिन्दू क्या करें' शीर्षक के अन्तर्गत लेखक एक खास तरह की भावना का बीजवपन करते हैं— "हिन्दुओं को एकता का पाठ मुसलमानों से और सेवा का पाठ ईसाइयों से

सीखना चाहिए। गरीब हिन्दुओं, विशेषकर हरिजनों की सेवा करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है। इसके लिए धन और साधन जुटाना हिन्दू व्यापारियों का कर्तव्य होना चाहिए। हिन्दुओं को चुनाव के समय संगठित होकर किसी ऐसे व्यक्ति को ही अपना मत देना चाहिए जिसमें हिन्दू समाज की सेवा की भावना हो। सारे संसार के मुसलमान, ईसाई, यहूदी, सभी अपने धर्म के हितों की रक्षा करते हैं, हिन्दुओं को भी उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।”<sup>33</sup>

## 2. पात्रों का विलयन

अब उपन्यासों में पात्रों की उपस्थिति उस तरह नहीं रह गई है कि उपन्यासों के पात्र हमें जीवित और वास्तविक लगें। बल्कि पात्र भावों, विचारों और स्थितियों में रूपान्तरित हो गये हैं। कमलेश्वर ने ‘कितने पाकिस्तान’ उपन्यास में इतिहास और समय को पात्र बनाया है तो गीतांजलि श्री ने ‘हमारा शहर उस बरस’ में सांप्रदायिक दंगे को पात्र में बदल दिया है। भगवान सिंह ने अपने ‘उन्माद’ शीर्षक उपन्यास में हिन्दू और मुसलमान दो चार जातियों को पात्र में बदल दिया है तो ‘सूखा बरगद’ उपन्यास में मंजूर एहतेशाम ने परम्परा और संस्कृति को चरित्र के रूप में विकसित किया है।

‘कितने पाकिस्तान’ में लेखक ने काली शेरवानी को ही पात्र बनाकर एक विशेष मानसिकता का चित्रण किया है। निम्नलिखित अंश से यह बात स्पष्ट हो जाती है— “काली शेरवानियों के पास कोई उत्तर नहीं था। तन्तू और भड़क उठा— आप जान कर डर पैदा कर रहे हैं....डर की यह फसल

हमीं को काटनी पड़ेगी...इसीलिए मैं बहुत डरता हूँ...डरने की क्या जरूरत है...आखिर आप मुहम्मद-बिन-कासिम के वारिस हैं...काली शेरवानी ने जुमलेबाजी का दांव चला- मैं वोटर नहीं हूँ। तन्नू ने काली शेरवानी की बात काटी- मैं मुसलमान हूँ, लेकिन मुझे इस गाँव से मुहब्बत है... क्योंकि मैं खुद यह गाँव हूँ। मैं नील के इस गोदाम, इस तालाब और उन कच्चे रास्तों से प्यार करता हूँ...।”<sup>34</sup>

मंजूर एहतेशाम के ‘सूखा बरगद’ उपन्यास के पात्र यद्यपि हमारी जिन्दगी के हैं लेकिन ये पात्र मानसिकताओं को व्यक्त करने वाले हैं और सांप्रदायिक वातावरण को चित्रित करने वाले हैं। जैसे, निम्नलिखित अंश से यह बात स्पष्ट हो जाती है- “अब्बू और सुहेल के संबंधों में तब तक खिंचाव आ चुका था और धीरे-धीरे सुहेल और विजय के बीच भी अजनबीपन और फासला बढ़ता जा रहा था। ‘संयुक्त विधायक दल’ सरकार इस बीच गिर चुकी थी और रजब अली फिर से सिर्फ विधायक रह गया था, लेकिन शहर के मुसलमानों को ‘एक झंडे तले’ जमा करने का उसका प्रयास उम्मीद से कुछ ज्यादा ही सफल होता नजर आता था। ‘हिन्दुस्तान ट्रेडिंग- इस आन्दोलन में अब सुहेल भी शामिल था, जिसका लक्ष्य था मुसलमानों को बनिये की मोहताजी से बचाना। मुसलमानों की दुकानें, मण्डी, स्कूल, कालेज, बैंक, अस्पताल, इंडस्ट्रीज से लेकर बूढ़ी बेवाओं और नन्हें यतीमों के रहने को घर-सब रजब अली के प्लान में शामिल थे। आगे एक नई राजनीतिक पार्टी को भी अस्तित्व में आना था- मुल्क के वफादार मुसलमानों के हित के लिए लड़ने के वास्ते।”<sup>35</sup> इस

प्रकार पात्रों के नामों को लेकर भी एक विचित्र स्थिति का चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। निम्नलिखित अंश में प्रकाश अली नाम को लेकर जो व्यंग्य है वह वातावरण की कड़वाहट को व्यक्त करता है— “आपको मालूम है उसने अपने बेटे का नाम क्या रखा है? प्रकाश अली। सुहेल कड़वाहट से हंसा था— और कहता है नूर अली और इसमें क्या फर्क है। नूर यानी प्रकाश। अब्बू थोड़ी देर तक खामोश बैठे सोचते रहे। “वैसे”, उन्होंने अपनी खामोशी तोड़ते हुए कहा— “दलील तो उसकी गलत नहीं। नूर के लिए हिन्दी लफ्ज शायद प्रकाश ही होता है? अगर वह यूँ सोच रहा है तो इसमें क्या बुराई है? हजरत अली, या लफ्ज ‘अली’— जिससे मुसलमानों का सीधा वास्ता है— को तो नहीं छेड़ रहा।”<sup>36</sup>

दरअसल इन उपन्यासों में सारे पात्र दो मानसिकताओं में समा गये हैं और ये पात्र हिन्दू और मुसलमान में बँटे हुए से लगते हैं और उस दर्द को व्यक्त करते हैं जो सांप्रदायिकता के कारण हर व्यक्ति सहन कर रहा है।

### 3. प्रतीक, बिम्ब और संकेत योजना

हर लेखक अपनी अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाने के लिए प्रतीक, बिम्ब और संकेतों का प्रयोग करता है। प्रतीक का कार्य अदृश्य को प्रकट करना होता है तो संकेत का कार्य पाठक का ध्यान अदृश्य की ओर आकर्षित करना। समीक्षित उपन्यासों में लेखकों ने संकेतों और प्रतीकों का बहुत सार्थक प्रयोग किया है। ‘कितने पाकिस्तान’, ‘जिन्दा मुहावरे’, ‘सूखा बरगद’, ‘त्रिशूल’, आदि उपन्यासों का तो शीर्षक ही प्रतीकात्मक हैं।

इन शीर्षकों से इन उपन्यासों की भावभूमि प्रकट हो जाती हैं। जैसे 'कितने पाकिस्तान' शीर्षक से स्पष्ट हो जाता है कि सांप्रदायिकता ने मनुष्यों को बाँटकर पाकिस्तान बनाने की प्रक्रिया जैसे अनवरत बना दी है। दरअसल कमलेश्वर ने 'कितने पाकिस्तान' में पाकिस्तान शब्द को उस द्वेष व नफरत की भावना का प्रतीक बनाया है जिसके चलते एक देश, उस देश के रहने वाले, धर्म भाषा, जाति, परिवार और एक व्यक्ति सिर्फ दूसरे व्यक्ति से ही नहीं, खुद अपने आप से भी बाँटवारा चाहने लगा है। जैसा कि कमलेश्वर 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास में लिखते हैं, "पाकिस्तान एक नफरत का नाम है। नफरत के उसूलों पर पाकिस्तान बना है।"<sup>37</sup> इसी तरह शिवमूर्ति के 'त्रिशूल' से एक ओर हिन्दू संकीर्ण मानसिकता प्रकट होती है तो दूसरी ओर उस चुभन का भी संकेत मिलता है जो सांप्रदायिकता के कारण लोगों को झेलनी पड़ती है। 'हमारा शहर उस बरस' का मठ हिन्दू सांप्रदायिकता का प्रतीक है। 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास में कमलेश्वर ने ऐतिहासिक और पौराणिक पात्रों तथा घटनाओं को भी संकेत और प्रतीकों के रूप में इस्तेमाल किया है। उदाहरणार्थ— "यह बला नहीं, यह जगह वहीं अयोध्या में है जहाँ रामचन्द्र जी दातौन करते थे। यहीं भगवान गौतम बुद्ध ने सोलह चतुर्मास बिताए थे। और यहीं चीनी यात्री ह्वेनसांग आया था। अपने यात्रा-विवरण में उसने खुद इस कुंड का उल्लेख किया है। आज भी अयोध्या में यह कुंड वर्तमान है और मेरा शिष्य वहाँ मौजूद है। पादशाह बाबर ने हमें माफीनामों का ताम्रपत्र दिया था जिसे अंग्रेजों ने बाद में सनद में बदल दिया.....वह सनद कपड़े पर आज भी मौजूद है। महंत छत्रदास आया था?—जहीरुद्दीन मोहम्मद बाबर बादशाह थे। तब बादशाह

खुद नहीं उनकी मेहरबानियाँ आया करती थीं। तब के बादशाह आज के नेताओं की तरह नहीं थे कि दस-दस रुपये बाँटने पहुँच जाएँ। आज भी हम दंतधान कुंड के इलाके का लगान वसूल करते हैं और मालगुजारी नहीं देते...बाबर के ताम्रपत्र और अंग्रेजों की सनद के तहत हमें आज भी यह माफीनामा मिला हुआ है— तुम्हारे ऊपर बाबर ने क्या उपकार किया, इससे हमें लेना-देना नहीं है। तुम यह बताओ कि बाबरी मस्जिद बाबर ने बनवायी थी या नहीं, क्योंकि लगता है कि तुम बाबर के समकालीन हो।”<sup>38</sup>

‘त्रिशूल’ उपन्यास में शिवमूर्ति ने भारत की परम्परा को प्रतीकात्मक ढंग से इस तरह व्यक्त किया है— “अभी तक अपने यहाँ मुहल्ले धर्म या जाति के आधार पर नहीं बसते थे। हर जगह खिचड़ी थी। इसलिए मजबूत रक्षा-पंक्ति बनाने, किलेबंदी करने में कठिनाई आ रही है। लेकिन अब यह शुभ कार्य शुरू होने वाला है, यह देखकर ‘वे’ लोग जरूर खुश हो रहे होंगे। दरअसल हिन्दू-मुसलमान के खेमे में बांटकर देखने की परम्परा ही नहीं रही अपनी। मेरे पड़ोस के गाँव में एक घर है— पुराना, सौ-सवा सौ साल पुराना होगा। कच्ची मिट्टी की दीवार और खपरैल की छाजन में यहीं सुभीता रहता है। कभी छाजन कमजोर हो गई, चूने लगी, छाजन बदल दी गई। कभी कोई दीवार कनर दी गयी। उसमें मिट्टी लगा दी गई। ‘लोना’ लग गया, गिराकर नई दीवार खड़ी कर दी गई। और मकान चलता चला जा रहा है— सौ साल डेढ़ सौ साल। ऐसा ही एक पुराना मकान, विशाल आँगन वाला, आँगन में ही कुआँ। मकान के पश्चिम में है मस्जिद और पूरब तरफ मंदिर। इस घर के पुरखे सात भाई थे। किसी



लड़ाई में हार जाने पर तीन भाईयों के मुँह में जबरदस्ती गाय की हड्डी डाल दी गई। वे धरम गंवा बैठे। मुसलमान हो गये। बाकी चार भाई जो लड़ाई में नहीं गये थे, हिन्दू बने रहे। मकान का बँटवारा हो गया। दक्षिण—पश्चिम के आधे भाग में मुसलमान भाई, उत्तर—पूर्व के आधे में हिन्दू। आंगन का पुश्तैनी कुआं साझा। एक उत्तर तरफ लगी गड़ारी से पानी भरते दूसरे दक्षिण तरफ से। एक—दूसरे के शादी ब्याह मुंडन—छेदन, कुर्बानी—मुसलमानी और तीज त्योहार में पट्टीदारों की तरह ही शामिल होते रहे। यह इसी वर्तमान की बात है।<sup>39</sup>

‘सूखा बरगद’ भी प्रतीकात्मक शीर्षक है। जैसा कि गोपालराय ने लिखा है, ‘सूखा बरगद’ प्रतीकात्मक शीर्षक है जो अब्दुल वहीद खाँ अर्थात् अब्बू के रूप में उपन्यासकार ने एक ऐसे पात्र की सृष्टि की है, जो धार्मिक संकीर्णताओं से मुक्त, उदार, राष्ट्र प्रेमी और मजहब पर इंसानियत को तरजीह देने वाला बुद्धिजीवी है। उसे जिन्दगी भर कट्टरपंथियों से जूझना पड़ता है, पर सामाजिक और आर्थिक दबावों के सामने वह घुटने नहीं टेकता।<sup>40</sup>

गीतांजलिश्री ने ‘हमारा शहर उस बरस’ में धर्मोन्माद की कुत्सित चेष्टाओं को सांकेतिक रूप में भी चित्रित किया है। उन्होंने इस उपन्यास में रूपक का भी बड़ा ही सार्थक प्रयोग किया है— “एक दुल्हन और है जी, जो न हिन्दू है, न मुसलमान। बरसों से दुल्हन बनी घर में घूँघट काढ़े घुसी बैठी है। उसका नाम है सेक्यूलरिज़्म।”<sup>41</sup>

इसी तरह इन उपन्यासों में लेखकों ने बड़े जीवन्त बिम्ब भी निर्मित

किए है। उदाहरणार्थ, 'जिन्दा मुहावरे' उपन्यास में सामूहिक जीवन का यह बिम्ब इतना प्रभावशाली बन पड़ा है— "बावर्ची, रसोइया ने अपनी जगहें संभाल ली थीं। सजावट से घर ही नहीं, पूरा गांव जगमग—जगमग कर रहा था। शादी कलक्टर की थी, इसलिए अंदर बाहर वाले इस तरह इंतजाम में लगे थे, जैसे पूरा गांव बाराती होकर जाने वाला है और घर में बहू की अगवानी होनी है। स्वागत का ऐसा माहौल बन गया था कि इमाम चारों तरफ हंसते कुमकुमों को देखकर सोच रहा था कि जब बात बनने वाली होती है, तो सारी चीजें किस आसानी से जुड़ती चली जाती हैं। जिस दिन मासूमा ब्याह कर गांव आई, तब वलीमें की दावत में लगभग सारा गांव उमड़ आया था।"<sup>42</sup>

अब्दुल बिस्मिल्लाह ने 'मुखड़ा क्या देखे' उपन्यास में अनेक ऐसे बिम्ब खड़े किए हैं जो सांप्रदायिकता के वातावरण को जीवन्त कर देते हैं। जैसे एक बिम्ब दृष्टव्य है— "एक रोज की बात है, कि मखदूम दादा शाम के बखत महजिद में अजान दे रहे थे। उधर छोटकी दादी बकरियों को बांधने के लिए परेशान थी। मखदूम दादा ने अभी अपने हाथों को कानों तक ले जाकर 'अल्लाहो—अकबर' कहा ही था कि बकरियाँ मिमियाईं। उन्होंने हाथ छोड़ दिया और घूमकर चिल्लाए: 'अरे छोटकी, बकरियाँ काहे चिल्लात आऽऽ, बँधा ओका...' उसके बाद फिर हाथों को कानों तक ले गए और 'अल्लाहो—अकबर' कहकर अजान देने लगे। तभी बकरियाँ फिर मिमियाईं. ...इस तरह बेचारू को दुहरा—तिहरा अजान देना पड़ा....।"<sup>43</sup> इसी तरह यह दूसरा बिम्ब कर्मकाण्डी मानसिकता को साकार करता है— "मंगल का

दिन था। पंडित सृष्टिनारायण पाण्डे के यहाँ कथा का आयोजन था। सहन को लीप-पोत कर साफ कर दिया गया था। कोने में केले के कटे हुए तने खड़े थे। एक तरफ बड़े-से-चूल्हे पर पंजीरी तैयार हो रही थी। दालान में पंडित अशोक कुमार के निर्देशन में बंदनवार तैयार हो रहा था। उनके सहपाठी सुतलियों में लाल-हरी झंडियाँ चिपका रहे थे। आस-पड़ोस के बड़े-बूढ़े उस पूरी तैयारी का निरीक्षण भी कर रहे थे और भावी योजनाओं का उद्घाटन भी। उन्हीं की बातचीत से मालूम हुआ कि रात में रामायण का पाठ भी होगा। विचार तो यह बना है कि रामायण का पाठ अब प्रति मंगलवार को आयोजित किया जाएगा। इसी बहाने चार जने जुटेंगे और धरम-करम की बातें होंगी। इन चीजों की तरफ तो किसी का ध्यान अब जाता ही नहीं। जिसे देखों, बस साइंस की बातें करता है।<sup>44</sup>

‘हमारा शहर उस बरस’ में तो जैसे इस तरह के बिम्बों की भरमार है, उदाहरणार्थ— “हक्की-बक्की हूँ इस बात पर ही कि फिर क्या यही लोग इतने नादान, इतने पिछड़े, इतने अंधे निकले, कि इतने दिन लगे इन्हें समझने में, जबकि अपने दिमागों पर गर्व इन्हें है कि दिमाग चलाने का पेशा इनका है, वह बात जो वे लोग उधर वाले, मठ वाले, भारी संख्या में शहर की जनता, सब शुरू से ही समझ रहे थे, बिना सोचे ही, अपने अचेतन मन से जान रहे थे और मान रहे थे? शक न होगा कि वे तो अचेतन मन से जवाब दे रहे थे, ये चेतन मन से इतना कहने लगे हैं कि उन शब्दों को अपने से कहकर एक प्रश्न चिह्न लगा देते हैं। यह प्रश्न चिह्न भी क्या बस इनके दिमागीपन की रस्म अदायगी ही नहीं? कल यह

प्रश्न चिह्न हट जाएँगे और यह भी उधर के होंगे?’’<sup>45</sup> प्रियंवद के ‘वे वहाँ कैद हैं’ उपन्यास में निम्नलिखित पंक्तियों में एक बड़ा मार्मिक बिंब पाठक को झकझोर देता है— “यह भय जब जन्म लेने लगता है तो दीमक की तरह चिपट जाता है और आत्मा से फिर कोई धूप उस तक नहीं पहुँच पाती चिन्मय।”<sup>46</sup>

#### 4. व्यंग्यधर्मिता

जब लेखक सामाजिक जीवन की विसंगतियों का चित्रण करता है तो व्यंग्य ही उसके पास एक कारगर हथियार के रूप में होता है। और व्यंग्य की धार से लेखक अपने कथ्य को प्रभावशाली और व्यंजक बना देता है। लेखक व्यंग्य का प्रयोग इसलिए करता है कि पाठक विद्रूप के मर्म को समझ सकें। ‘त्रिशूल’ उपन्यास में शिवमूर्ति ने व्यंग्य का प्रयोग भाषा और स्थितियों के स्तर पर बड़ी कुशलता से किया है, उदाहरणार्थ जैसे लेखक ने एक प्रश्न किसी रामभक्त से पूछा है— “सुनते हैं आपकी पार्टी सत्ता में आयी तो हनुमान चालीसा को राष्ट्रगान घोषित कर देगी।”<sup>47</sup>

‘हमारा शहर उस बरस’ में व्यंग्योक्तियों का प्रयोग लेखिका ने काफी मात्रा में किया है, जैसे— “औरत को हर कुछ पाने के लिए चिल्लाना पड़ता है। आदमी हर कुछ गंवाने पर चिल्लाता है।”<sup>48</sup> इस अवतरण में लेखिका ने पुरुष सत्ता की मानसिकता पर करारा व्यंग्य किया है। इसी तरह लेखिका मठ के साधुओं पर भी तीखा प्रहार करती है— “बहुत से फिरंगी साधू मठ में आ गये हैं। नारंगी धोती के नीचे किरमिच के जूते पहने बाजार में नजर

आते हैं। पीठ पर रकसैक भी है। देवी की स्तुति गाते हैं और हाथ में डिब्बा है।<sup>49</sup>

लेखिका गीतांजलि श्री बुद्धिजीवियों और उनके सेकुलरिज्म पर भी बड़ा सशक्त व्यंग्य करती है— “तुम तो फेमिनिस्ट हो...प्लूरलिस्ट हो... सैक्यूलरिस्ट हो....धत्त तेरे की।”<sup>50</sup> अब्दुल बिस्मिल्लाह अपने ‘मुखड़ा क्या देखे’ उपन्यास में मुसलमानों की स्थिति पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं— “इतने बड़े गांव में हम लोग बत्तिस दांत में एक जबान की तरह हैं। कोई भी कदम हमें सोच-समझ कर उठाना चाहिए। बुधुवा पर नजर रखी गई होती तो आज ई बात न होती।”<sup>52</sup> इसी तरह लेखक वर्तमान राजनीतिक भ्रष्टाचार पर भी व्यंग्य करता है जो गरीबों की स्थिति की ओर संकेत करता है— “हो चाहे न हो। समरथ के नहीं दोस गोसाईं। असोकवा नेता हो गया है। जो चाहता है, करता है। चमार-पासियों के वास्ते सरकार ने कुछ जमीन दी थी— भूमिहीन वाली योजना में, मगर ऊ सब भी असोकवा ने हथिया लिया।”<sup>52</sup>

‘जिन्दा मुहावरे’ में नासिरा शर्मा ने व्यंग्य के प्रयोग द्वारा स्थितियों की क्रूरता को व्यक्त किया है— “हो गई तलाशी देश की सुरक्षा के नाम पर? अब जनाजे में कन्धा दें।”<sup>53</sup> इस अकेले वाक्य में हमारी नौकरशाही की निर्ममता पर व्यंग्य है। इसी तरह निम्नलिखित पंक्तियों में व्यंग्य के माध्यम से एक सच्चे व्यक्ति की पीड़ा का चित्रण हुआ है— “डैडी, आप लोगों पर हिन्दुस्तान इतना क्यों हावी रहता है? फॉर व्हाट? नादिरा ने मचलते हुए लहजे से कहा। ‘तुम नहीं समझोगी, बेटा। निजाम ने कहा और सबीहा की

तरफ मुस्कराकर देखा।”<sup>54</sup>

‘वे वहाँ कैद हैं’ उपन्यास में निम्नलिखित अंश में हिन्दू और मुस्लिम मानसिकता पर एक सीधा प्रहार है— “अखबारों में हिन्दू संगठनों की अपीलें निकलने लगीं तो यह बंद पूरी तरह से हिन्दुओं का बंद मान लिया गया। शहर के मुसलमानों को इसमें हिन्दुओं के शक्ति प्रदर्शन, संगठन और आक्रमण की बू आने लगी। उनके मकानों के अंदरूनी हिस्सों और मस्जिदों में हिन्दू-ताकत के खतरे की बात उठने लगी। उनके बीच भी अपनी राजनीति की रोटी पकाने वाले अचानक सक्रिय होकर सामने आ गये। उनमें एक मसूद भी था जो अभी भी जब कभी अकेला होता तो अहाते के नीम के नीचे सन्नाटे में चुपचाप अपने अन्दर पाकिस्तान से बातें किया करता था। इस पूरे आक्रमण का केवल विरोध ही नहीं बल्कि जवाब देना चाहिए, यह उसकी राय थी। तय हो गया कि उस दिन हर मुसलमान अपने घरों पर हरे झण्डे लगायेगा। जवाब बराबरी का और पूरी ताकत से दिया जायेगा।”<sup>55</sup>

कहने का तात्पर्य यह है कि व्यंग्यधर्मिता इन उपन्यासों के रचना विधान का एक अपरिहार्य अंग है जो इन उपन्यासों को नई भंगिमा प्रदान करता है।

### 5. पूर्वदीप्ति शैली

पूर्वदीप्ति शैली का प्रयोग सामान्यतः हर उपन्यास में हुआ है जहाँ पात्र अतीत में डूबकर वर्तमान से संवाद करते हैं। जैसे ‘उन्माद’ उपन्यास

में लेखक ने निम्नलिखित अवतरण में अपनी स्थिति का वर्णन पुरानी बातों के संदर्भ में किया है— “मैं नहीं जानती कि बैठा है या नहीं, पर बैठा हो तो गलत क्या है? मैं हिन्दू हूँ और उस पर मुझे शर्म नहीं आती। तुम क्या हो, अगर हिन्दू नहीं हो तो क्या हो, यह तुम सोचो और जानो। क्या हिन्दू होना कोई अपराध है? क्या हमने कोई ऐसा काम किया है जिस पर हमारा माथा शर्म से झुका रहे? क्या किसी भी समुदाय का इस तरह मजाक उड़ाना, उसके अस्तित्व को ही एक लाँछन बना देना, उसे किसी सड़े—गले बेकार कागज के टुकड़े की तरह चिंदी—चिंदी फाड़कर पाँवों में मसलना अच्छी बात है? उसने क्या गलत लिखा था पर्चे में। उसके पास आँकड़े थे। उसके बनाये हुए नहीं थे। तुम्हारे पास उन्हें गलत सिद्ध करने वाले आँकड़े हों तो उन्हें पेश करो। पर यह जो अपने को विशाल और उदार बनाकर, छोटे रास्ते से, साख जमाने का फैशन चल पड़ा है, यह अधिक गर्हित है। क्या दूसरे किसी समुदाय के व्यक्ति पर इस तरह की टिप्पणी कर सकते हो कि उसके भीतर एक ईसाई या मुसलमान बैठा हुआ है।”<sup>56</sup>

इसी तरह ‘कितने पाकिस्तान’ उपन्यास में तो लेखक बार—बार अतीत में छल्लाँग लगाता है, जैसे— “मुर्दों में हड़कम्प मच गया। दस्तकें फिर पड़ने लगीं। फिर वही हाहाकर मचने लगा। कुछ नये मुर्दे आ गये थे। पता चला वे उत्तर—पूर्व के हैं और उल्फा विद्रोहियों ने उन्हें मारा है। अदालत समझ नहीं पाई कि यह बोडोलैंड आखिर बला क्या है तो अर्दली ने उसे सारी जानकारी दी कि हुजूर— ये असम के मुल्की यानी धरती पुत्रों का आंदोलन है। इस तरह का पहला आन्दोलन आंध्र प्रांत में शुरू हुआ था,

फिर धरती पुत्रों या मुलिकियों की तर्ज पर यही आन्दोलन लेकर महाराष्ट्र में शिवसेना खड़ी हो गई...।”<sup>57</sup>

### 6. मुक्त चेतना प्रवाह शैली

यह शिल्प-विधान का एक अत्याधुनिक नव विकसित रूप है। इसमें अतीत प्रत्यावर्तन (रिट्रास्पेक्शन) अथवा दिवास्वप्न के माध्यम से लेखक पात्र से सम्बन्धित घटनाओं, विचारों आदि का वर्णन करता हुआ कथानक को गति प्रदान करता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो इन उपन्यासों में भी मुक्त चेतना प्रवाह शैली का सफल प्रयोग मिलता है। जैसे— ‘त्रिशूल’ उपन्यास में यह वर्णन मुक्त चेतना प्रवाह शैली का उदाहरण है— “सपने में शास्त्री जी दिखते हैं— सफेद कपड़ों में, एक ऊँचे मंच पर भाषण दे रहे हैं। सामने अपार जन समूह, मुंडित सिर, श्वेत वसन, पंक्तिबद्ध जैसे किसी के श्राद्ध के मौके पर इकट्ठे हों। किसका श्राद्ध कर रहे हैं ये लोग? कौन मरा है?... कि कोई चुनावी सभा है यह? शास्त्री जी के एकाध वाक्यांश समझ में आते हैं— गणिका गीध अजामिल तार्यो, तार्यो सदन कसाई... तो क्या हम इनसे कम पापी हैं जो तरने से वंचित रह जायेंगे? और कम हैं तो इस कमी को प्राण प्रण से पूरा करेंगे। मौका मिलना चाहिए... देखते देखते यह पंक्तिबद्ध लोग बगुलों में बदल जाते हैं। मैदान तालाब बन जाता है। तालाब से मोटी-मोटी मछलियाँ गटकते पंक्तिबद्ध बगुले।”<sup>58</sup>

‘कितने पाकिस्तान’ उपन्यास की संरचना तो जैसे मुक्त चेतना प्रवाह शैली में ही हुई है। क्योंकि यह उपन्यास वैदिक काल से लेकर आज तक



की यात्रा करता है।

### 7. कोलाज—शैली

चित्रकला में कोलाज बड़े दृश्यों को छोटे रूप में प्रस्तुत करने की एक महत्वपूर्ण विधा है। समीक्षित उपन्यासों में भी लेखकों ने शब्दों के द्वारा मनोरम कोलाज प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ, 'हमारा शहर उस बरस' तो जैसे कोलाजों से भरा पड़ा है और कोलाज उसके शिल्प विधान का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। जैसा कि रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं, "हमारा शहर उस बरस" उपन्यास पारंपरिक ढाँचे से पूर्णतया अलग चित्रकला की कोलाज शैली में रचा गया है— जीवन को खंड—खंड करते हादसों और त्रासदियों के टुकड़े जिनके बीच कहीं छिपी है मनुष्यता और आशा। जरूरत उन्हें देखने और जोड़ने की है लेकिन इसके लिए 'तीसरी आंख' और 'धीरज' किसके पास है?"<sup>59</sup>

'मुखड़ा क्या देखे' उपन्यास में अब्दुल बिस्मिल्लाह ने लोकजीवन के मेलों, उत्सवों, पर्वों आदि के कोलाज प्रस्तुत किए हैं।

इन उपन्यासों में लेखकों ने अपने शब्दों में ऐसे दृश्य—चित्र प्रस्तुत किए हैं जो पात्रों की जटिल मनःस्थितियों को बड़ी सहजता से व्यक्त कर देते हैं। उदाहरणार्थ, 'वाह कैप' का यह अंश गाड़ी में बैठे लोगों के भय को व्यक्त करता है— "रोशन कुछ बोले कि विपरीत दिशा से एक गाड़ी के आने की धड़धड़ाहट सुनायी पड़ी। इंजिन सीटी देते हुए तूफान की तरह चला आ रहा था और जब हमारे डिब्बे की बगल से होकर निकला, तो

सचमुच कलेजा ही दहल गया। बीमार बच्ची इतनी डरी कि पहले तो आंखें फाड़े देखती रही, बौराई—सी, फिर एकदम गला फाड़कर रो पड़ी।”<sup>60</sup>

इसी तरह ‘सूखा बरगद’ उपन्यास में ‘मैं’ पात्र की मानसिक स्थिति इन शब्दों में बहुत गहराई से उजागर हुई है “केरोसीन लैंप की चमचमाती चिमनी में भी हवा से लौह रह—रह कर थरथरा रही थी और इसी थरथराहट में कमरे में फैला अंधेरा रुक—रुक कर फैल और सिमट रहा था। मेरी टेबिल पर टँगे कैलेंडर के पन्ने फड़फड़ाकर दीवार पर किसी दरख्त की शाख पर बैठती चील के डैनों के समान लगते। बाहर पानी की टप—टप अब धीमी बरसात में बदल चुकी थी। सुहेल के बेचैनी से थिरकते पाँव अब थम गये थे।”<sup>61</sup>

इन उपन्यासों में कहीं—कहीं प्राकृतिक दृश्यों का चित्रात्मक वर्णन भी पात्रों की मनःस्थितियों से संबंध रखता हुआ प्रस्तुत हुआ है। जैसे ‘वे वहाँ कैद हैं’ में दृष्टव्य है— “मनुष्य जीवन के प्रति एक विराट आस्था मैंने हर क्षण हर स्थिति में आपकी हथेलियों में देखी है। जीवन को पालने और बड़ा करने में भी। फिर अवसाद या हताशा के किन क्षणों में आपने इस विकृत बच्चे को जीवन नाम दे दिया...?”<sup>62</sup>

उपर्युक्त शिल्प विधियों के अलावा 1980—2000 की कालावधि के इन उपन्यासों में कहीं—कहीं फंतासी (फैंटेसी) के भी सफल प्रयोग हमें मिल जाते हैं। जैसे ‘उन्माद’ उपन्यास के ‘मैं’ पात्र का स्वप्न देखना और स्वप्न में स्वयं को जानवर महसूस करना इसी तरह का चित्र है— “मैं एक बाड़े के भीतर सचमुच बहुत सारे पशुओं के साथ दौड़ रहा था। कई प्रजातियों

के जानवर। जरायु, सकृतजात और सद्यः जात बच्चे, दौड़ते—दौड़ते मुँह के बल गिर जाने वाले बीमार, जराजीर्ण और मरणासन्न ढोर, थुलथुल, तुंद, मेदुर, लदबद चलते हुए फूले ढोर और उन्हीं के साथ चमकते पुट्ठों और सुघड़ सींगो वाले बछड़े वे सभी एक ऐसी लयहीन दौड़ में दुलक रहे हैं जिसमें वे, आगे बढ़ने से अधिक अपने पार्श्वों की ओर लटकते—झूमते, आपस में टकराते और रगड़ खाते रहते हैं। और उनके साथ ही मैं भागने के प्रयत्न में 'क्षिप्रः चल' और 'धाव' का नाद करता हुआ धीरे—धीरे ढोर में बदलता जा रहा हूँ। मैंने सपने में ही सोचा, ऐसा कैसे हो सकता है। सपने में ही अपने सिर को छूकर देखा कि कहीं इसमें सींग तो नहीं निकले हैं। मैं संतुष्ट होने जा रहा था कि इसी बीच स्मरण आया, सींग तो कान के ऊपर होते हैं और मैं अपने ललाट के कोरों का स्पर्श कर रहा था। मैं पुनः हाथों को कनपटी के ठीक ऊपर ले गया। आश्चर्य कि सींग थे, उभरते हुए, मोटे और खुरदरे। कान थे, लंबे और तने हुए। मैं रोने लगा। बहुत ऊँचे स्वर में। देर तक क्रंदन करता रहा। यह क्या गत बना ली मैंने अपनी।<sup>63</sup> इस चित्र को हम कायान्तरण भी कह सकते हैं।

इसी प्रकार 'जिन्दा मुहावरे' उपन्यास में मृत्यु के संदर्भ में एक चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसे हम फंतासी के अंतर्गत ही रख सकते हैं— 'मौत का ध्यान आते ही वह अकेले घर में घबराने लगता। उसका मरना अगर रात को हुआ, तो किसे पता चलेगा कि अंदर लाश सड़ रही है। बदबू... हाँ बदबू से....उफ! इतनी बुरी मौत उसको बिना नहलाए—धुलाए ही कब्र में जाकर गाड़ देंगे। यह सारे बेसिर पैर के ख्यालात उसको रातभर परेशान करते और सुबह जब वह उठता तो सारी बातें भूल दुकान, माल, ग्राहक के

झमेले में फंस जाता। शाम तक रुपये गिनता, नफा देखता और हिसाब का खाता बंद कर दुकान में ताला डाल बड़े इतमिनान से किसी होटल में बैठ रात का खाना खाता।”<sup>64</sup>

‘कितने पाकिस्तान’ उपन्यास में कमलेश्वर ने एक मार्मिक फंतासी प्रस्तुत की है “दाराशिकोह का वह धड़ जो कत्ल के बाद लाल किले के लाहौरी दरवाजे पर लटकाया गया और तीन दिन बाद जिसकी मैयत को गुस्ल और कफन दिए बगैर, नमाजे जनाजा अदा किए बिना हुमायूँ के मकबरे में दफन कर दिया गया था, वह जमींदोज धड़ करवट लेता हुआ जागा था। और उधर उसी का वह सिर, जो नेजे की नोंक पर चाँदनी चौक के चौराहे पर लटकाया गया था, आँखें खोलकर हल्की—सी उम्मीद लिए मुस्कराया था। हुमायूँ के मकबरे से वह धड़, धरती तोड़कर बस्ती दरियागंज की ओर चल पड़ा था। और चाँदनी चौक में लटका वह सिर नेजे से उतर कर, अपने धड़ से मिलने के लिए उसी दिशा में बढ़ चला था...”<sup>65</sup>

उपर्युक्त सोदाहरण विवेचन से स्पष्ट है कि समीक्षित उपन्यासों में लेखकों ने अनेक प्रकार की शिल्प—तकनीकों का उपयोग कर उपन्यास विधा को समृद्ध किया है।

### 8. भाषा—भंगिमाएँ

जैसे—जैसे तकनीक, भूमण्डलीकरण और बाजारवाद का प्रभाव बढ़ रहा है वैसे—वैसे हमारी रचनाओं की भाषा भी नये—नये रूपाकार ग्रहण कर रही है। एक ओर भाषा रचनाकार की अनुभूतियों के साथ तादात्म्य स्थापित

करती है तो दूसरी ओर वह उन स्थितियों के साथ तालमेल बिठाती है जिसका चित्रण उसमें किया जा रहा है।

कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान' उपन्यास का निम्नलिखित अंश भाषा-प्रयोग की दृष्टि से हमारे समक्ष एक चुनौती प्रस्तुत करता है "सुनो! सुनो! आज अल्लाह का यह बन्दा और मादरे-वतन का यह खातिम टीपू सुल्तान जानता है कि मुल्क के कुछ हिस्सों में फिरंगियों की साजिशें कामयाब हो गई हैं। वह गंगा-यमुना की घाटी तक तो नहीं जा सकते, लेकिन हम वादा करते हैं कि ईस्ट इंडिया कंपनी के नापाक कदम अपनी पाक पवित्र कावेरी नदी के इलाके में नहीं पड़ने देंगे। हमें हैरत और अफसोस है कि हमारे देशवासी ही, चाहे वे पेशवा मराठे हों या हैदराबाद के नवाब या दूसरी रियासतों के वली, वे फिरंगियों की कठपुतली बनकर अपने ही लोगों का गला काट रहे हैं...और घर की इस फूट का फायदा उठा रहे हैं— फिरंगी लुटेरे!"<sup>66</sup> इसी तरह एक दूसरा अंश दृष्टव्य है— "हुजूर! वक्त ने बताया— यह जगह दिल्ली है और यहाँ एक उजड़ती तहजीब का यह मंजर इसलिए मौजूद हुआ है कि एहसानफरामोश, विश्वासघाती पठान मलिक जीवन दाराशिकोह और सिपिहर शिकोह को बंदी बनाकर मिर्जा राजा जयसिंह और बहादुर खाँ के साथ दिल्ली पहुँच चुका है। इसीलिए दिल्ली बिलख रही है...और इस वक्त दिल्ली का नजारा यह है...।"<sup>67</sup> इस उपन्यास में इस तरह की भाषा का ही प्रयोग सामान्यतः हुआ है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी भाषा का स्वरूप कितना व्यापक और विराट् है।

‘कितने पाकिस्तान’ उपन्यास की भाषागत विशेषता की ओर इंगित करते हुए हरिनारायण ठाकुर कहते हैं “कमलेश्वर का ‘कितने पाकिस्तान’ उपन्यास निश्चय ही सूचना और साहित्य की दूरी को कम करता है, जो समय की माँग है। इसकी भाषा सूचना, पत्रकारिता और मीडिया की सरल और सहज भाषा है। इसीलिए यह अधिक संवेदी, अधिक रोचक और संप्रेषणीय बन गई है और पाठकों से सीधा संवाद करती है। छोटे-छोटे प्रसंगों, उद्धरणों और परिच्छेदों में विभक्त उपन्यास की कथा किसी ‘रनिंग कमेंट्री’ की तरह ध्वन्यात्मक और दूरदर्शन धारावाहिक की तरह दृश्य-बिम्बों की सृष्टि करती है। इसे ‘एपीसोड शैली’ का साहित्यिक उपन्यास कहा जा सकता है, जो कमलेश्वर की कमेंट्री और प्रसारण—संवाद की याद दिलाता है।”<sup>68</sup>

इसी तरह ‘त्रिशूल’ उपन्यास में शिवमूर्ति ने कहीं खाँटी बोली का प्रयोग किया है तो कहीं ऐसी भाषा का जो हमें किसी भी चौराहे पर सुनायी पड़ सकती है, उदाहरणार्थ— “बंधुओं, विद्वानों! मुझे नहीं पता कि तुलसीदास जी ने यह चौपाई मुसलमानों के लिए लिखी है। मुझे यह भी नहीं पता कि कुरान में कहाँ क्या लिखा गया है? आप लोगों ने सारे धर्म ग्रन्थों को पढ़ा है, यह खुशी की बात है। आपके लोग विभिन्न धर्मग्रन्थों के ‘उपयोगी’ अंश सर्कुलेट करते हैं यह और भी खुशी की बात है। मैं तो शास्त्री जी खासकर के आपसे यह कहना चाहता हूँ कि आप पढ़े-लिखे हैं। शहर के प्रतिष्ठित और बुद्धिजीवी नागरिक माने जाते हैं। साहित्य परिषद् के मंत्री हैं। अंतर्राष्ट्रीय क्लब के प्रेसिडेंट हैं। आप जरा ठंडे दिमाग से सोचें कि किसी

व्यक्ति या समुदाय के बारे में कोई निर्णय हजार साल पहले लिखी गई किसी किताब के उद्धरण के आधार पर लेना उचित है या उस व्यक्ति या समुदाय के आज के आचार—व्यवहार और क्रिया—कलाप को स्वयं देख—परख कर। जरा यह भी सोचिए कि उस समय मुसलमानों का संघर्ष हिन्दुओं से था कि यहूदियों से। आप क्या इस तरह गोलबंद होकर इसलिए हुज्जत करने आये हैं कि मैं एक वफादार लड़के को मात्र विधर्मी होने के चलते अपने घर से निकाल बाहर करूँ?’<sup>69</sup>

इस उपन्यास में ही लेखक ने कहीं पत्रकारिता की भाषा का प्रयोग भी किया है, उदारणार्थ— “सब दौड़े। टार्च जलाकर देखा गया— दो—दो हाथ ऊपर कूदती लोथ। फक—फक बहता खून। गला रेत दिया था। पेट पीठ और सीने पर भी बीसों घाव। जैसे ही निवृत्त होकर उठे, चार—छः कदम ही चले होंगे, अभी धोती की एक लांग बाँध भी नहीं पाये थे कि हमला हुआ। पहले से ही घात लगाकर बैठे थे लोग। एक—दो लोग बाजार से ही साथ आये होंगे। हम लोग जान नहीं पाये।”<sup>70</sup> तो लेखक ने कहीं नितांत औपचारिक और संवेदनहीन भाषा का भी प्रयोग किया है, जैसे— “माइक पर आवाज उभरती है— कृपया धैर्य बनाये रखें। जिलाधिकारी महोदय अमर लोकगायक स्वर्गीय रामपाल जी की हत्या पर गहरा दुख व्यक्त करते हैं। हत्यारों को बख्शा नहीं जायेगा। कृपया लाश को पोस्टमार्टम के लिए उपलब्ध कराकर प्रशासन का सहयोग करें।”<sup>71</sup>

इस प्रकार इन उपन्यासों की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि एक ही कृति में हमें भाषा के एक साथ कई रूप मिल जाते हैं और

हिन्दी की समृद्धि का प्रमाण देते हैं। जैसे— ‘सूखा बरगद’ उपन्यास में निम्नांकित अंश भाषा के कई रूपों को प्रकट करता है— “...यह किया औलादों का! वह घुंटी घुंटी आवाज में आँसू पोंछती कहतीं— अच्छी नई तालीम दिलाई! अल्लाह! अब और नहीं सहा जाता। ऐसी जिन्दगी से तो मौत बेहतर है? और कुछ समझाओं तो उल्टा डाँटता है? यह है इस तालीम का मतलब? और...इशारा अब्बू की ओर होता— खुद तो बैठे हैं किताबों में घिरकर, दुनिया को इंसाफ दिलाने का ठेका लिया है? मेरी जिन्दगी के साथ क्या यही इंसाफ हुआ”<sup>72</sup>

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में न केवल तत्सम परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग हुआ है वरन् इनमें उर्दू, फारसी, अरबी, तद्भव, देशज, अंग्रेजी आदि के शब्दों का भी खुला प्रयोग हुआ है। महत्व इस बात का नहीं है कि लेखकों ने कितनी ही भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है बल्कि महत्व इस बात का है कि रचनाकार द्वारा प्रयुक्त भाषा में अभिव्यक्ति भंगिमाओं का कितना वैविध्य है।

‘कालकथा’ उपन्यास में कामतानाथ ने अंचल के जीवन को चित्रित करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग किया है वह उसी अंचल की भाषा में गुंथी हुई है। उदाहरणार्थ, जैसे— “अरे अबै तक सब जनी नहाइन नाई चुकिउ! यू जान लेव कि बरात जायेक बाद कोऊ नहाई न। और नाउन कहाँ गई। अबै तक आटै नाई सानि गा तुमार? चलौ सब जनी कुआँ पूजै चलैक तैयारी करौ।”<sup>73</sup> यह अंश पाठक को अवध अंचल के साथ पूरी तरह जोड़ देता है। जैसा कि डॉ० हेतु भारद्वाज लिखते हैं “कालकथा उपन्यास



के रचनात्मक पक्ष का सबसे सशक्त पहलू है इसकी भाषा, जो इस कृति को अवध के अंचल के साथ पूरी तरह जोड़ देती है। ठेठ अवधी का उसकी पूरी रवानगी के साथ प्रयोग जहाँ इस कृति को अवध की जिन्दगी के निकट ले जाता है वहीं इसकी पठनीयता को भी बड़ा सरस रंग देता है। पर ठेठ अवधी कहीं भी उपन्यास की वस्तु के संप्रेषण में बाधा नहीं डालती। इसका कारण यह है कि लेखक ने इस भाषा को पूरी तरह रचा-पचा लिया है।<sup>74</sup>

इसी प्रकार की आंचलिक भाषा का प्रयोग अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अपने 'मुखड़ा क्या देखे' उपन्यास में उसकी पूरी रवानगी के साथ किया है। उसकी भाषा की रवानगी दृष्टव्य है— "झबरा, ओ झबरा! का भवा रे? के है?...अरे हम हई हो, अल्ली!...जाए दे रे, गांव के मनई के काहे परेसान करेथे। चिन्हते नाहीं का? चल ईहाँ आव।"<sup>75</sup>

इन उपन्यासों में इतनी आमफहम भाषा का भी प्रयोग हुआ है जो हमारे कानों में अक्सर पड़ती रहती है जैसे— "यू हैव बी लिटिल्ड मी टुडे।"<sup>76</sup> 'वाह कैप' उपन्यास की भाषा सहज, सजग और प्रवाहमयी है। वाह कैप में रहने वाले अधिकांश लोग पंजाबी भाषी थे। अतः इस उपन्यास में ठेठ पंजाबी के जाने पहचाने शब्दों का भी खुलकर इस्तेमाल हुआ है। एकाध जगह दूसरी बोलियों के भी छींटे हैं। मसलन, ममदीन नामक पहाड़ी व्यक्ति सरदार प्रीतम सिंह से कहता है, "ओय सरदार:। सुण्या पाकस्तान बुणी गया? सरदार प्रीतम सिंह को चुहल सूझी। बोले, "हाँ ममदीन, पाकस्तान बुणी गया? सुनकर ममदीन पूछता है, "के होसी?" तो प्रीतम

सिंह कहते हैं “ओय, बउं कुज होसी...उनके यह कहने पर कि अब तो यहाँ हूरें नाचेंगी, ममदीन का मन सचमुच नाच उठता है, “ओय, कदण नचसन, ओय? अस वी वेख आइए।””

इस प्रकार समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों ने न केवल शिल्प के स्तर पर नये प्रयोग किये हैं वरन् भाषा के स्तर पर भी नये प्रयोग किये हैं।

## संदर्भ

1. असगर अली इंजीनियर : भारत में सांप्रदायिकता : इतिहास और अनुभव, इलाहाबाद, मई, 2003, पृ० 11
2. प्रेमचन्द : 'अच्छी-बुरी सांप्रदायिकता', हंस, 15 जनवरी, 1934
3. रजनी पाम दत्त : आज का भारत, दिल्ली, 1977, पृ० 227
4. असगर अली इंजीनियर: भारत में सांप्रदायिकता : इतिहास और अनुभव, इलाहाबाद, मई, 2003, पृ० 7
5. जगदीश्वर चतुर्वेदी : सांप्रदायिकता, आतंकवाद और जनमाध्यम, दिल्ली, 2005, पृ० 143
6. वही, पृ० 146-147
7. वही, पृ० 143-144
8. वही, पृ० 152-53
9. रमणिका गुप्ता : सांप्रदायिकता के बदले चेहरे, दिल्ली, 2004, पृ० 7
10. सत्यदेव त्रिपाठी : सांप्रदायिकता सत्ता और शक्ति का तिलिस्म, अक्षरा (संपा० कैलाशचन्द्र पंत), अंक-71, मई-जून, 2004, पृ० 17
11. Oxford Dictionary of current English. P-1258
12. कालिका प्रसाद (संपा०) : वृहद हिन्दी कोश, वाराणसी, संपा० 2009 वि०, पृ० 1334
13. डॉ० लक्ष्मीनाराण लाल : हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास, इलाहाबाद, 1967, भूमिका।
14. श्री नारायण लाल : उपन्यास : तत्त्व एवं रूप-विधान, कानपुर, 1962, पृ० 234
15. उद्धृत द्वारा श्रीमती वसन्ती पंत : हिन्दी उपन्यास- रचना विधान और युगबोध, जयपुर, 1973, पृ० 18
16. श्रीनारायण अग्निहोत्री: उपन्यास : तत्त्व एवं रूप-विधान, कानपुर, 1962 पृ० 244
17. हरिनारायण ठाकुर : वैश्विक चिन्ताओं के बीच मानव मुक्ति की पड़ताल, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक-105, जनवरी-फरवरी, 2003, पृ० 148
18. अर्चना वर्मा : विकास का दुःस्वप्न, संवेद (संपा० किशन कालजयी), अंक 17, सित० 2008, पृ० 14-15
19. गीतांजलि श्री : हमारा शहर उस बरस, दिल्ली, 1998 पृ० 11

20. वही, पृ० 51
21. कमलेश्वर : कितने पाकिस्तान, दिल्ली, 2008, पाँचवे संस्करण की भूमिका
22. वही
23. वही
24. वही, पृ० 177
25. अजय सिंह : कितने पाकिस्तान— कितने हिन्दुस्तान, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक—105, जनवरी—फरवरी, 2003, पृ० 151
26. कमलेश्वर : कितने पाकिस्तान, दिल्ली, 2008, पृ० 203
27. भगवान सिंह : उन्माद, दिल्ली, 1999, पृ० 83
28. वही, पृ० 145
29. वही
30. वही, पृ० 146
31. वही
32. वही
33. वही, पृ० 147
34. कमलेश्वर : कितने पाकिस्तान, दिल्ली, 2008, पृ० 59—60
35. मंजूर एहतेशाम : सूखा बरगद, दिल्ली, 1989, पृ० 135
36. वही, पृ० 134
37. कमलेश्वर : कितने पाकिस्तान, दिल्ली, 2008, पृ० 106
38. वही, पृ० 76—77
39. शिवमूर्ति : त्रिशूल (हंस मासिक पत्रिका में प्रकाशित) संपा० राजेन्द्र यादव, दिल्ली, अंक—3, अक्टूबर, 1993, पृ० 79—80
40. गोपालरायः हिन्दी उपन्यास का इतिहास, दिल्ली, 2002, पृ० 356
41. गीतांजलि श्री : हमारा शहर उस बरस, दिल्ली, 1998 पृ० 144—145
42. नासिरा शर्मा : जिन्दा मुहावरे, दिल्ली, 2001 पृ० 94
43. अब्दुल बिस्मिल्लाह : 'मुखड़ा क्या देखें', दिल्ली, 1996, पृ० 101
44. वही, पृ० 142
45. गीतांजलि श्री : हमारा शहर उस बरस, दिल्ली, 1998 पृ० 317
46. प्रियंवद : वे वहां कैद हैं, दिल्ली, 1994, पृ० 11
47. शिवमूर्ति : त्रिशूल (हंस मासिक पत्रिका में प्रकाशित) संपा० राजेन्द्र

- यादव, दिल्ली, अंक-3, अक्टूबर, 1993, पृ० 80
48. गीतांजलि श्री : हमारा शहर उस बरस, दिल्ली, 1998 पृ० 111
49. वही, पृ० 140
50. वही, पृ० 61
51. अब्दुल बिस्मिल्लाह : 'मुखड़ा क्या देखें', दिल्ली, 1996, पृ० 158
52. वही, पृ० 175
53. नासिरा शर्मा : जिन्दा मुहावरे, दिल्ली, 2001 पृ० 63
54. वही, पृ० 102
55. प्रियंवद : वे वहां कैद हैं, दिल्ली, 1994, पृ० 31-32
56. भगवान सिंह : उन्माद, दिल्ली, 1999, पृ० 171
57. कमलेश्वर : कितने पाकिस्तान, दिल्ली, 2008, पृ० 77
58. शिवमूर्ति : त्रिशूल (हंस मासिक पत्रिका में प्रकाशित) संपा० राजेन्द्र यादव, दिल्ली, अंक-3, अक्टूबर, 1993, पृ० 74
59. रोहिणी अग्रवाल : सांप्रदायिकता से लड़ना एक रचनात्मक संघर्ष है, प्रगतिशील वसुधा- 64 (संपा० कमला प्रसाद), अंक-2 मार्च, 2005, पृ० 212
60. द्रोणवीर कोहली : 'वाह कैप', दिल्ली, 1998, पृ० 246
61. मंजूर एहतेशाम : सूखा बरगद, दिल्ली, 1989, पृ० 61
62. प्रियंवद : वे वहां कैद हैं, दिल्ली, 1994, पृ० 87
63. भगवान सिंह : उन्माद, दिल्ली, 1999, पृ० 205
64. नासिरा शर्मा : जिन्दा मुहावरे, दिल्ली, 2001 पृ० 36
65. कमलेश्वर : कितने पाकिस्तान, दिल्ली, 2008, पृ० 308
66. वही, पृ० 289
67. वही, पृ० 237
68. हरिनारायण ठाकुर : वैश्विक चिन्ताओं के बीच मानव मुक्ति की पड़ताल, समकालीन भारतीय साहित्य, अंक-105, जनवरी-फरवरी, 2003, पृ० 149
69. शिवमूर्ति : त्रिशूल (हंस मासिक पत्रिका में प्रकाशित) संपा० राजेन्द्र यादव, दिल्ली, अंक-3, अक्टूबर, 1993, पृ० 79
70. वही, अंक-4, नवम्बर, 1993, पृ० 79
71. वही।

72. मंजूर एहतेशाम : सूखा बरगद, दिल्ली, 1989, पृ० 103
73. कामतानाथ : 'काल-कथा' (भाग-1) दिल्ली, 1998, पृ० 38
74. हेतु भारद्वाज : 'काल कथा', समीक्षा, राजस्थान पत्रिका, 18 अक्टूबर, 1998।
75. अब्दुल बिस्मिल्लाह : 'मुखड़ा क्या देखें', दिल्ली, 1996, पृ० 24
76. प्रियंवद : वे वहां कैद हैं, दिल्ली, 1994, पृ० 65
77. द्रोणवीर कोहली : 'वाह कैप', दिल्ली, 1998, पृ० 146-147

उपसंहार

## उपसंहार

सांप्रदायिकता हमारे समाज की एक जटिल और ज्वलंत समस्या है। इसे महज समसामयिक सामाजिक और राजनीतिक संदर्भों में ही नहीं समझा जा सकता, इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी है। सांप्रदायिक ताकतें अपने क्रिया-कलापों की वैद्यता मध्यकाल में तलाशती हैं। किन्तु वे अपने इतिहास एवं संस्कृति की व्याख्या ही संकीर्ण ढंग से नहीं करतीं वरन् समकालीन राजनीति को भी सत्ता के स्वार्थों से जोड़ती हैं।

नवें दशक के प्रारंभ से ही सांप्रदायिकता ने राष्ट्रीय राजनीति को ऐसा मोड़ दिया है जिसके तहत हमारी पूरी जीवन दृष्टि ही बदल गई है। राजनीति के मुद्दे बदल गये हैं। अब उसे परम्परागत दृष्टिकोण और प्रतिमानों के माध्यम से विश्लेषित-व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। उसमें भ्रष्टाचार और शोषण के साथ ऐसा तालमेल बिठाया है जिसके कारण उसका विष समाज की समस्त शिराओं में व्याप्त हो गया है।

यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अस्सी के दशक में सांप्रदायिकता की समस्या ने एक नया मोड़ लिया। इस दौर में कुछ नये संगठनों का जन्म हुआ। विश्व हिन्दू परिषद् ने उग्र सांप्रदायिकता रूप धारण किया, विशेष रूप से तमिलनाडु राज्य की मीनाक्षीपुरम् में धर्मान्तरण की घटना के बाद उसका रूप अत्यंत उग्र हो गया। इसके बाद ही जब राम जन्म भूमि- बाबरी मस्जिद विवाद पैदा हुआ तो बजरंग दल भी राजनैतिक पटल पर उभरा। शिवसेना जैसे राजनीतिक दल ने अपना विस्तार किया। इस संदर्भ में यह भी विशेष रूप से ध्यान



देने योग्य बात है कि जहाँ एक ओर विश्व हिन्दू परिषद्, बजरंग दल और शिवसेना आदि सांप्रदायिक संगठनों ने बेरोगार युवाओं को अपनी ओर आकर्षित किया है तो वहीं दूसरी ओर जमात—ए—इस्लामी जैसे संगठनों ने मुस्लिम युवाओं को अपनी ओर आकृष्ट किया है। अतः यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि बेरोजगारी की समस्या ने भी सांप्रदायिकता की समस्या को विस्तार देने में अपनी भूमिका निभायी है।

भारत में सांप्रदायिकता की समस्या जिस रूप में विद्यमान है वह देश की एकता और अखण्डता के लिए ही चुनौती नहीं बल्कि मानवीय मूल्यों तथा मनुष्य की संवेदनशीलता के लिए भी एक बहुत बड़ा खतरा है। क्योंकि सांप्रदायिकता के आवेश में मनुष्य अपनी मनुष्यता को ही भूल जाता है।

सांप्रदायिकता को विभिन्न विद्वानों ने अनेक तरह से परिभाषित किया है। हमारे देश में सम्प्रदाय का अर्थ विचार—परम्परा का विकास भी रहा है— जैसे— शैव संप्रदाय, वैष्णव संप्रदाय, शाक्त संप्रदाय आदि। इसी प्रकार साहित्यिक के क्षेत्र में रस संप्रदाय, अलंकार संप्रदाय, ध्वनि संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय जैसे अनेक साहित्यिक संप्रदायों की गणना की जाती है।

किन्तु प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध में सांप्रदायिकता शब्द का प्रयोग एक विशेष संदर्भ में हुआ है जिसका संबंध हमारी धार्मिक आस्थाओं के टकराव तथा उनके राजनीतिक प्रयोग से है। 'समाज विज्ञान' के अध्येताओं ने साम्प्रदायिकता को परिभाषित करते हुए लिखा है कि अपने ही संप्रदाय, जाति या धर्म के लोगों को लाभ पहुँचाने और उन्हीं के साथ मेलजोल रखने की भावना की प्रवृत्ति सांप्रदायिकता है। यह एक धर्म को मानने वाले समूह के स्वार्थों से इस गहराई से जुड़ गई है कि उसके समक्ष देख हित भी नगण्य हो जाता है। वर्तमान रूप में सांप्रदायिकता

धार्मिक कट्टरता का पर्याय बन गई है। इसीलिए विभिन्न धार्मिक समूहों के बीच संकीर्णता और शत्रुता, अलगाव और पृथक्ता, घृणा और हिंसा जैसे भाव इसके अपरिहार्य अंग बन गये हैं।

संक्षेप में, सांप्रदायिकता धर्म विशेष के अनुयायियों की उस संकीर्ण सोच को प्रदर्शित करती है जिसमें अपने पंथ या संप्रदाय को सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है और अन्य को अपेक्षाकृत हेय। इसके साथ ही दूसरे संप्रदायों के प्रति विद्वेष की भावना भी व्यक्त की जाती है। इस भावना में जीवन के अन्य सभी पक्षों को छोड़कर मात्र धर्म को आधार मानकर सभी क्षेत्रों का निर्धारण किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप समाज में बिखराव उत्पन्न होता है और राष्ट्रवाद को गहरा आघात पहुँचता है।

भारतवर्ष में सांप्रदायिकता के स्वरूप को पहचानना एक जटिल प्रक्रिया है। साथ ही राष्ट्रीय विकास के मार्ग में यह एक बड़ी बाधा भी है। यह चुनौती भारतीय जन-जीवन के लिए एक विकट समस्या का रूप धारण कर चुकी है। जिसकी भयावहता निरन्तर बढ़ती जा रही है। भारतीय संदर्भ में सांप्रदायिकता के चार मुख्य रूप हैं— हिन्दू सांप्रदायिकता, मुस्लिम सांप्रदायिकता, सिख सांप्रदायिकता, और ईसाई सांप्रदायिकता।

हिन्दुत्ववादी सांप्रदायिकता का जन्म अंध राष्ट्रवादी विचारधारा के कारण हुआ। वीर सावरकर की 'हिन्दुत्व' नामक पुस्तक में भारत को 'हिन्दू राष्ट्र' के नाम से अभिहित किया गया है। जिन्ना ने 1939ई० में 'दो राष्ट्र' के सिद्धान्त का प्रवर्तन किया जिसकी परिणति देश-विभाजन में हुई। हिन्दुत्ववादी सांप्रदायिकता वस्तुतः राजनीतिक हिन्दूवाद है जो भारतीय समाज में उच्च जाति का वर्चस्व बनाये रखने के लिए हिन्दू अलगाववाद का पोषण करता है। यह विचार उन्हीं लोगों को

राष्ट्रवादी देशभक्त मानता है जिनके हृदय में हिन्दू जाति और हिन्दू राष्ट्र के प्रति गहरा आदर है। उनके लिए इससे इतर सभी समूह राष्ट्रविरोधी और विश्वासघाती हैं।

यदि बहुत गहराई से पड़ताल की जाए तो हिन्दुत्ववादी सांप्रदायिकता का उन्मेष स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान ही हो गया था। यह अवश्य है कि हिन्दू सांप्रदायिकता का जन्म मुस्लिम सांप्रदायिकता की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ। हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे संगठनों ने हिन्दू सांप्रदायिकता को पोषित किया जिसमें आगे चलकर विश्व हिन्दू परिषद्, रामराज्य परिषद्, जनसंघ, बजरंग दल, शिवसेना आदि ने अपना योगदान दिया। वर्तमान में हिन्दू सांप्रदायिकता का जो चेहरा हमें दिखाई देता है वह हमारे देश की राजनीति से जन्मा है।

भारतवर्ष में मुस्लिम सांप्रदायिकता के पनपने का कारण मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा इस देश की लूटपाट और नरसंहार से उपजी भावना रही है। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान सर सैय्यद अहमद खाँ जैसे प्रबुद्ध लोगों ने न कभी कांग्रेस को पसंद किया और न भारत की राष्ट्रीय एकता को। मुस्लिम चिंतकों का मानना रहा कि पंजाब, उत्तर-पश्चिम राज्य सिंध और बलूचिस्तान को एक अलग राज्य के रूप में मान्यता मिलने पर ही भारतीय मुसलमानों का भविष्य सुरक्षित रह सकता है। मुसलमानों की इस अलगाववादी सोच को मुस्लिम लीग ने पल्लवित किया और ब्रिटिश सरकार ने हिन्दू-मुस्लिम में मतभेद पैदा करने के लिए इसे पोषित किया।

1947 में देश विभाजन के दौरान हुए सांप्रदायिक नरसंहार ने हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता को उग्रतम रूप प्रदान किया जिसका बढ़ता हुआ रूप हमें आज भी आतंकित किए हुए है।

सांप्रदायिकता का एक रूप हमें सिख सांप्रदायिकता में भी देखने को मिला, जिसने 'खालिस्तान आन्दोलन' चलाया। हमारे राजनेताओं ने अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए हिन्दू और सिखों में अलगाव की स्थिति पैदा की जिसकी परिणति 6 जून, 1984 को 'ऑपरेशन ब्लूस्टार' के रूप में हुई। इसका प्रतिफलन इंदिरा गाँधी की हत्या तथा दिल्ली में 1984 में हुए सिख नरसंहार में हुआ। किन्तु हिन्दू और सिखों की धार्मिक मूल्य व्यवस्था समान होने के कारण हिन्दू-सिख एकता बहुत जल्दी बनती चली गई।

भारतवर्ष में ईस्ट इंडिया कंपनी ने व्यापार के साथ-साथ मिशनरियों के माध्यम से ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार भी किया और भारत के गरीब तथा आदिवासी तबकों को ईसाई धर्म में दीक्षित करने की प्रक्रिया भी जारी रखी। स्वतन्त्रता से पूर्व आर्य समाज ने इसका विरोध किया तथापि धर्म परिवर्तन की यह प्रक्रिया रुक नहीं पायी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी ईसाई मिशनरियाँ धर्मान्तरण का काम करती रहीं तथा निम्न तबके के लोगों को ईसाई बनाती रहीं। इसी धर्मान्तरण के कारण ईसाई पादरी फादर स्टेंस और उनके दो मासूम बच्चों को जिन्दा जला दिया गया तथा उड़ीसा और आंध्रप्रदेश में हिन्दू-ईसाई दंगे हुए।

ऊपर सांप्रदायिकता के जिन रूपों का उल्लेख हुआ है। उनमें सबसे प्रबल और भयानक हिन्दू और मुस्लिम सांप्रदायिकता का टकराव है। जो कभी भी, कहीं भी फूट पड़ता है और देश की एकता को खण्डित करने का प्रयत्न करता रहता है। अब इस समस्या ने आतंकवाद के रूप में एक विश्वव्यापी रूप धारण कर लिया है लेकिन इसका भी सबसे अधिक नुकसान भारतीय समाज को ही झेलना पड़ रहा है।

भारत में सांप्रदायिकता की समस्या कोई एक दिन में पैदा हुई समस्या नहीं है बल्कि यह एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। भारतीय संस्कृति प्रारंभ

से ही सहिष्णु और उदार रही है और हर नये तत्व को अपने भीतर समेटने में सक्षम रही है। सारी उदारता के बावजूद भारत में विभिन्न धर्म—संप्रदायों के बीच कभी समरसता नहीं रही। इन संप्रदायों ने अपने प्रभुत्व को बढ़ाने के लिए हिंसा का प्रयोग भी किया। किन्तु आज हम जिस सांप्रदायिकता की बात करते हैं उसका जन्म 'इस्लाम के प्रभुत्व के खतरे' से हुआ माना जा सकता है। इसे पनपाने में ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश इतिहासकारों ने पूरा योगदान दिया। सांप्रदायिकता की उत्पत्ति भारतीय इतिहास के सांप्रदायिक इस्तेमाल से मानी जा सकती है। भारत में इतिहास लेखन का काम पाश्चात्य विद्वानों ने शुरू किया। अतः उन्होंने भारत के इतिहास को न केवल काफी तोड़-मरोड़कर लिखा वरन् सर्वप्रथम सांप्रदायिक आधार पर भारत के इतिहास का काल—विभाजन भी किया। उन्होंने विशेष रूप से मध्यकालीन भारतीय इतिहास को हिन्दू—मुस्लिम अंतर्द्वन्द्व की एक लंबी कहानी के रूप में देखा जिसके पीछे अंग्रेजों की साम्राज्यवादी और सांप्रदायिक दृष्टि ही काम कर रही थीं।

भारतीय इतिहास में अगर हिन्दू—मुस्लिम टकराव की घटनाएँ हुईं तो उनके परस्पर सौहार्द के उदाहरण भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। अतः जिस रूप में सांप्रदायिकता आज हमारे समक्ष है उसका जन्म ब्रिटिश शासन—काल में हुआ, इसमें कोई संदेह नहीं है। अंग्रेजों ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिकता और संकीर्णता का जो बीज बोया था उसकी चरम परिणति भारत—विभाजन के रूप में हुई। आजादी और विभाजन के अनोखे मिश्रण से अंध सांप्रदायिकता और फासीज्म की समस्याएँ हमारे सामने खड़ी हो गईं। धार्मिक भावनाओं का ऐसा अंधड़ चला कि हम सांप्रदायिक दंगों के कुचक्र में उलझते चले गये और हमारी राष्ट्रीयता ही खतरे में पड़ गई।

भारत—विभाजन की त्रासदी ने भारतीय समाज को इस तरह तोड़ा कि आज भी सांप्रदायिकता की समस्या नए—नए मोड़ लेकर हमारे सामने प्रकट हो रही है। एक तरफ विश्व हिन्दू परिषद्, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, बजरंग दल, शिवसेना जैसे संकीर्ण हिन्दूवादी संगठन हैं तो दूसरी ओर मुस्लिम लीग, जमात—ए—इस्लामी और सिमी जैसे संगठन पूरी सक्रियता के साथ सांप्रदायिकता को हवा देते रहते हैं। आजादी मिलने के साठ वर्ष बाद भी हमारे समाज में हिन्दू—मुस्लिम सौहार्द का सर्वथा अभाव है। इस बीच हमने महात्मा गाँधी की हत्या, इंदिरा गाँधी की हत्या, बाबरी मस्जिद का ध्वंस जैसी घटनाओं को भी अपनी आँखों से देखा जिनकी जड़ में कोरी सांप्रदायिकता थी।

मौजूदा दौर में राजनीति का जिस तेजी के साथ अपराधीकरण हुआ है, वह भयावह है। वोट बैंक के राजनीति ने इसे और भी अधिक दूषित किया है। वोटों की राजनीति करने वाले राजनेताओं ने तुष्टीकरण की नीति अपनाते हुए इन हिन्दुत्ववादी शक्तियों, मुस्लिम कट्टरतावादी ताकतों, सिखों के पृथक्तावादी संगठनों और ईसाइयों के धर्मान्तरण के प्रयासों पर कभी प्रहार नहीं किया। इसके विपरीत राजनीतिक दल इन सांप्रदायिक शक्तियों का प्रयोग अपने राजनीतिक वर्चस्व को बढ़ाने के लिए करते रहे। वस्तुतः राजनीति और सांप्रदायिकता के गठजोड़ ने इस समस्या को और भी गहरा कर दिया।

अधिकांश समय सत्ता में रहने वाली कांग्रेस की मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति भारत में सांप्रदायिकता को बढ़ावा देने में पूरी तरह उत्तरदायी रही है। इसके लिए एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा— शाहबानो प्रकरण।

इस प्रकार राजनीति के लिए सांप्रदायिकता एक हथियार बन गई जिसका भयंकरतम रूप हमें बाबरी मस्जिद के ध्वंस और समय—समय पर होने वाले

सांप्रदायिक दंगों में देखने को मिलता है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि देश की राजनीति ने इस समस्या का समाधान खोजने का कभी भी गंभीर प्रयास नहीं किया।

उपन्यास साहित्य की ऐसी विधा है जो जीवन यथार्थ से सीधे-सीधे टकराती है। रचना और परिवेश के अंतःसंबंध सदा से अटूट रहे हैं। भारतवर्ष की सबसे ज्वलन्त इस सांप्रदायिकता की समस्या ने हिन्दी तथा विभिन्न भाषाओं के रचनाकारों को इस समस्या पर लिखने के लिए निरन्तर प्रेरित किया है। सांप्रदायिकता की समस्या का जन्म स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान ही हो गया था। इसलिए प्रेमचन्द से लेकर आज तक के हिन्दी उपन्यासकारों ने इस समस्या पर निरन्तर रचना-कर्म किया है।

सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने सांप्रदायिक समस्या के अन्यान्य कारणों की पड़ताल अपने 'सेवासदन', 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि' आदि उपन्यासों में बहुत गहराई से की है तथा दोनों समुदायों की संकीर्णताओं पर प्रहार किया है। प्रेमचन्द यह जानते हैं कि यह आग अंग्रेजों की लगाई हुई है। वे सांप्रदायिक सौहार्द पर बराबर बल देते रहते हैं।

प्रेमचन्द के बाद यशपाल दूसरे महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं जो अपने महाकाव्यात्मक उपन्यास 'झूठा सच' में सांप्रदायिकता की समस्या से सीधे टकराते हैं। और इसके कारणों को समझने का पूरा प्रयास करते हैं। यह उपन्यास भारत-विभाजन की त्रासदी को मानवीय स्तर पर चित्रित करता है।

हिन्दी के प्रमुख कथाकार भीष्म साहनी ने सांप्रदायिकता की समस्या पर बहुत गहराई से विचार किया है तथा उन्होंने इस समस्या को भारतीय जीवन के लिए सबसे बड़ी त्रासदी माना है। अपने 'तमस' उपन्यास में वे इस समस्या से

सीधे साक्षात्कार करते हैं। 'तसम' उपन्यास में स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व के पाँच दिनों की कहानी है जो कि एक लंबे इतिहास को समेटे हुए है। सांप्रदायिक उन्माद, हिंसा, घृणा, ने किस प्रकार विदेशी शासकों के साथ मिलकर इस देश के टुकड़े करा दिए, वह सब कुछ इन पाँच दिनों में छिपा हुआ है।

'तसम' उपन्यास 'झूठा सच' जैसा महाकाव्यात्मक उपन्यास भले न बन पाया हो लेकिन इस उपन्यास में भीष्म साहनी ने सांप्रदायिक दंगों के पीछे छिपी ऐतिहासिक घटनाओं की गहरी व्याख्या करते हैं। इस उपन्यास पर बना 'सीरियल' जब टेलीविजन पर प्रसारित हुआ तो देश में इसके प्रसारण को लेकर नई उत्तेजना पैदा हुई। किन्तु इस उपन्यास में भीष्म साहनी उस सांप्रदायिक परिवेश को पुनर्जीवित करते हैं जो हमारी जिन्दगी और सारे सामाजिक, नैतिक मूल्यों को छिन्न-भिन्न कर रहा था।

मूलतः उर्दू के लेखक तथापि हिन्दी में भी समादृत कृष्णचन्दर ने भारत विभाजन की त्रासदी को बहुत निकटता से देखा और भोगा था। उन्होंने अपनी रचनाओं में भारत-विभाजन से उपजी सांप्रदायिकता की समस्या का बड़ा जीवन्त चित्रण किया है। उनका 'गद्दार' नामक उपन्यास पूरी तरह भारत-विभाजन के संदर्भ में सांप्रदायिकता की भयावह तस्वीर पेश करता है। बैजनाथ पात्र के माध्यम से कृष्णचन्दर जैसे स्वयं इस समस्या पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहते हैं, 'किसलिए हम सिर उठाकर चलते हैं? और किसलिए अपनी उत्तम सभ्यता का ढिंढोरा पीटते हैं? और क्यों हम अपने अपराध को मानने से कतराते हैं। अरे, ये अपूर्ण, अधकचरी सभ्यताएँ अपने आंचल में कितने-कितने गहरे अंधेरो को छिपाए रखती हैं। यह हिन्दू-सभ्यता और मुसलमान सभ्यता, ईसाई सभ्यता और सिख सभ्यता, यूरोपी सभ्यता और एशियाई सभ्यता। इन दमकती हुई सभ्यताओं के अंदर



कितनी बड़ी-बड़ी खाइयाँ, कैसे-कैसे भयानक अंधेरे छिपे हुए हैं। लेकिन लोग उनके बारे में बताते नहीं हैं और जो कुछ वे बताते हैं, वह बहुत ही सुंदर, सौम्य और विशाल और शानदार होता है। अगर कोई साहस करके उस सभ्यता के सुंदर लबादे को हटाकर देखना चाहता है तो उसे गद्दार समझ कर कत्ल कर दिया जाता है। या उसकी पीठ में बल्लम भोंक दिया जाता है।”

हिन्दी की प्रख्यात लेखिका कृष्णा सोबती ने अपनी रचनाओं में सांप्रदायिकता की समस्या को बड़ी मार्मिकता से व्यक्त किया है। अपने ‘जिन्दगीनाम’, ‘दिलोदानिश’ आदि उपन्यासों में कृष्णा सोबती ने पंजाब के जीवन के संदर्भ में सांप्रदायिकता को बड़ी तन्मयता से व्यक्त किया है। वस्तुतः कृष्णा सोबती अपने उपन्यासों में इस समस्या को जिन्दगी के मानवीय विकास के संदर्भ में देखती हैं।

हिन्दी उपन्यास के विकास में लेखकों के लिए सांप्रदायिकता की समस्या एक महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य रही है। स्वातन्त्र्योत्तर काल में हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में अनेक वैचारिक आग्रहों का उन्मेष भी हुआ है और इन वैचारिक आग्रहों ने हिन्दी उपन्यास को समृद्ध किया है। इन वैचारिक आग्रहों में स्त्री-विमर्श, दलित विमर्श, उत्तर आधुनिकता, आदि के साथ ही सांप्रदायिक विमर्श की भी अपनी भूमिका रही है।

हिन्दी उपन्यासकारों ने सांप्रदायिकता की समस्या के स्रोतों की पड़ताल करने के साथ-साथ उसके विभिन्न रूपों का भी चित्रण किया है। इस दृष्टि से 1980-2000 की अवधि में लिखे गये उपन्यास इस शोध-प्रबंध की सीमा में आते हैं। इस अवधि के उपन्यासों में प्रसिद्ध कथाकार कमलेश्वर का ‘कितने पाकिस्तान’ सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में कमलेश्वर सांप्रदायिकता की समस्या को हिन्दू और मुसलमानों की परस्पर घृणा और प्रतिशोध भावना में देखते

हैं। कमलेश्वर का मानना है कि 1947 में भारत के विभाजन के साथ अस्तित्व में आया पाकिस्तान महज एक देश नहीं, बल्कि धार्मिक असहिष्णुता, घृणा, कट्टरता, प्रतिशोध, हिंसा व षड्यन्त्र पर आधारित विचार-पद्धति भी है, जो दुनिया की कई सभ्यताओं और देशों में न सिर्फ मौजूद है, बल्कि फल-फूल रही है।

कमलेश्वर यह भी मानते हैं कि सांप्रदायिकता के विष को समाप्त किए बिना इस देश में शांति नहीं हो सकती। अतः वे इस कृति के द्वारा घृणा की राजनीति का प्रतिवाद करते हैं और परस्पर प्रेम जैसे शाश्वत मूल्य की स्थापना करते हैं। वे भारत-विभाजन जैसे कृत्रिम विभाजनों से संपूर्ण मानवता को बचाने के प्रति सचेत भी करते हैं। वस्तुतः 'कितने पाकिस्तान' लेखक के दीर्घकालीन अंतर्मथन का परिणाम है।

यथार्थवादी कथाकार शिवमूर्ति ने अपने लघु उपन्यास 'त्रिशूल' रामजन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद विवाद को आधार बना कर लिखा है। इस उपन्यास में हिन्दू सांप्रदायिकता उनके निशाने पर है। आस्था के अँधे कुँए को अपनी तर्क दृष्टि से देखता यह लघु उपन्यास जहाँ एक तरफ धर्म की आड़ में रोटी तोड़ने वाले, अपना स्वार्थ सिद्ध करने वालों तथा समाज नियंता कहे जाने वाले संप्रभु वर्ग के दोहरे चरित्र को उजागर करता है वही दूसरी तरफ 'ईश्वर' नामक शख्सियत को भी आड़े हाथों लेते हुए कटघरे में ला खड़ा करता है।

कथाकार भगवान सिंह अपने उपन्यास 'उन्माद' में धार्मिक-सांप्रदायिकता के मनोवैज्ञानिक कारणों का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। वे सांप्रदायिकता को एक दिमागी बुखार मानते हैं और कहते हैं, "यह जो सांप्रदायिकता है यह भी एक तरह का दिमागी बुखार है। ये जो सांप्रदायिकता की राजनीति करने वाले हैं और ये जो धर्म के नाम पर अपनी दुकान चलाने वाले मुल्ले और पंडे होते हैं, ये

सभी इस दिमागी बुखार के वायरस को पालने वाले होस्ट हैं। इससे इनका कुछ बिगड़ता नहीं। ये मस्त—मुस्तंड ही नहीं पड़े रहते हैं, बल्कि इस वायरस को फैलाने की धौंस देकर राजनीतिक सौदेबाजी करते हैं।”

सांप्रदायिकता के चित्रण से गीतांजलि श्री का ‘हमारा शहर उस बरस’ एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास में एक शहर है जहाँ एक मठ और एक विश्वविद्यालय हैं और ये दोनों ही संस्थाएँ सांप्रदायिकता को हवा देती हुई फासीवादी और आतंक से भरी दुनिया का सृजन करती हैं। सांप्रदायिक दंगों का भय इस उपन्यास में आद्यन्त व्याप्त है। गीतांजलिश्री ने प्रस्तुत उपन्यास में सांप्रदायिक दंगों के भय को उपन्यास का मूल कथ्य बनाया है।

नासिरा शर्मा का ‘जिन्दा मुहावरे’ शीर्षक उपन्यास भारत—विभाजन की त्रासदी को भोगते परिवारों की पीड़ा, घुटन, छटपटाहट को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है उपन्यास की कथा भारत के उत्तर प्रदेश के शहरों और गाँवों तथा पाकिस्तान के करांची शहर के मुहल्लों और उससे जुड़े इलाकों का समावेश करती है। बंटवारे के समय अपने परिवार के लोगों के विरोध के बावजूद निजाम पाकिस्तान चला जाता है। वहाँ धीरे—धीरे अपने परिश्रम और लगन के बल पर सम्पन्न तो हो जाता है किन्तु वह अपनी धरती, अपने लोगों को भुलाये नहीं भूल पाता। इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में नासिरा शर्मा ने विभाजन के कारण विस्थापित मुस्लिम समुदाय की मानसिकता को भारत और पाकिस्तान दोनों देशों की परिस्थितियों में एक—दूसरे के समानान्तर रखकर जाँचने का प्रयास किया है। लेखिका इस उपन्यास के माध्यम से हिन्दू और मुसलमान दोनों समुदायों को यह संदेश देती हैं कि जीवन को बचाने के लिए परस्पर प्रेम और सहानुभूति सबसे जरूरी तत्व हैं।

मंजूर एहतेशाम का 'सूखा बरगद' उपन्यास धर्म, जातीयता, क्षेत्रीयता और सांप्रदायिकता के जो सवाल आजादी के बाद हमारे समाज में उभरे हैं, उनका गहराई से अध्ययन करता है। ये सारे सवाल ही एक ऐसे बरगद की झूलती जड़ें बनकर फैले हुए हैं, जिसके नीचे किसी भी कौम की तरक्की और खुशहाली असंभव है। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण है यह जानना कि इस त्रासदी के पीछे किसका हाथ है? कहना न होगा कि इस प्रश्न का उत्तर वे तमाम लोग जो इस समाज में शोषित, अपमानित और लांछित हैं, लेकिन आज भी टूटे नहीं हैं।

यह एक वास्तविक सच्चाई है कि अखण्ड भारत का मजहब के आधार पर विभाजन लाखों लोगों की मर्जी के खिलाफ हुआ था और इससे उनकी कोमल भावनाओं को भी क्षति पहुँची थी। भारत विभाजन का दर्द दोनों मुल्कों की इस गरीब जनता को आज भी सालता है।

प्रियंवद ने अपने 'वे वहाँ कैद हैं' नामक उपन्यास में बड़ी संवेदनशीलता के साथ हिन्दुत्ववादी सांप्रदायिकता और उसके भीतर पनपते हुए फासीवाद को चित्रित किया है प्रियंवद लोकतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष भारत में रहने वाले चिन्मय की निराधार आस्था को तोड़ने का प्रयास करते हैं ताकि एक जाग्रत आधुनिक धार्मिक राष्ट्र का निर्माण हो।

अब्दुल बिस्मिल्लाह का 'मुखड़ा क्या देखे' उपन्यास जाति और संप्रदाय के राजनीतिकरण की प्रक्रिया तथा उसके परिणामों की ओर संकेत करता है और बताता है कि हम ऐसे महत्वपूर्ण सवालों से किस प्रकार बच सकते हैं। कथाकार ने भाषा के प्रति सांप्रदायिक दृष्टिकोण की जड़ों की ओर भी संकेत किया है।

कामतानाथ का दो खण्डों में प्रकाशित 'कालकथा' उपन्यास प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति से लेकर कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन की समाप्ति तक के बारह

साल के कालखण्ड को चित्रित करता है। इस उपन्यास में सांप्रदायिकता का वैसा रूप तो नहीं आया है जैसा कि अन्य उपन्यासों में। लेकिन लेखक हिन्दू-मुस्लिम एकता में पड़ी दरार को समझने का प्रयास करता है। शायद रिश्तों की इस गहरी पड़ताल से लेखक उस मारक स्थिति की ओर संकेत करना चाहता है जहाँ आकर यह स्पंदन रुक गया और परस्पर विश्वास के साथ जीने वाली ये कौमें इतनी अलग हो गई कि एक-दूसरे की दुश्मन बन गई। लेखक शायद यह संकेत भी देना चाहता है कि 1929 तक हिन्दू-मुसलमानों के बीच जो समरसता तथा आत्मीयता थी, उस पर अंग्रेजों ने जानबूझकर प्रहार किया और वे इसे तोड़ने में सफल हो गये। स्पष्ट है कि कामतानाथ सांप्रदायिकता की जड़ों को समझने का प्रयास करते हैं और पाठक को भी इस प्रश्न पर सोचने को विवश करते हैं।

द्रोणवीर कोहली का 'वाह कैप' उपन्यास एक ऐसी अनुभवजन्य रचना है जिसे लेखक ने पचास बरस तक झेलने के बाद कलमबद्ध किया है। प्रस्तुत उपन्यास में देश-विभाजन की त्रासदी एवं सांप्रदायिक दंगों से बचकर आये सिख-हिन्दू परिवारों के शरणार्थी जीवन की करुण कथा प्रस्तुत की है। सारी कथा एक अति संवेदनशील निरुपाय लड़के माध्यम से उजागर की गई है जिसने मसं भीगने से पहले ही दुनिया के छल-छद्म देख लिये थे।

स्पष्ट है कि इन सभी उपन्यासों में सांप्रदायिकता की समस्या के कारणों और इसके विभिन्न रूपों को समझने का गंभीर प्रयास किया गया है। साथ ही इस समस्या से बचने के प्रयासों पर भी दृष्टिपात किया गया है।

कोई भी विचारधारा मानव जीवन को एकांगी रूप से प्रभावित नहीं करती वरन् उस विचारधारा से हमारा पूरा जीवन प्रभावित होता है। सांप्रदायिकता भी एक ऐसी ही विचारधारा है जो वैश्विक चिंतन के क्षेत्र में आये परिवर्तनों का एक

महत्वपूर्ण सोपान है। सांप्रदायिकता की समस्या ने समकालीन हिन्दी उपन्यास के रचना-विधान को भी बहुत गहराई से प्रभावित किया है।

अंत में समग्र अध्ययन को समेटते हुए कहा जा सकता है कि सांप्रदायिकता की समस्या भारतीय जन-जीवन का एक स्थायी अंग बन चुकी है तथा इसके दुष्परिणाम हमें सांप्रदायिक दंगों और आतंकवादी आक्रमणों के रूप में भोगने पड़ते हैं। यद्यपि इस समस्या ने एक वैश्विक रूप धारण कर लिया है तथापि इसका सबसे अधिक दुष्प्रभाव भारत को झेलना पड़ता है। इस समस्या को बढ़ावा देने में राजनीतिक संकीर्णता और राजनेताओं की संकल्पहीनता भी उत्तरदायी हैं। लेकिन देश का रचनाकार वर्ग ऐसा है जो संवेदना के स्तर पर इस समस्या के प्रति बहुत जागरूक है तथा इसे समाप्त करने के प्रति लालायित है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध में विश्लेषित उपन्यासों का प्रमुख संदेश यही है कि सांप्रदायिकता एक मानवता विरोधी गतिविधि है जिसको समाप्त करना सभी मनुष्यों का कर्तव्य है।

परिशिष्ट

## परिशिष्ट

- दुबे, अभय कुमार : सांप्रदायिकता के स्रोत, सं० 1993 विनय प्रकाशन, दिल्ली— 110092
- दुबे, अभय कुमार (संपा०) : बीच बहस में सेकुलरवाद, सं० 2005 वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
- इंजीनियर, असगर अली : भारत में सांप्रदायिकता—इतिहास और अनुभव, सं० मई, 2003, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद
- कमलेश्वर : हिन्दुत्व बनाम हिन्दुत्व, सं० 2004, कल्याणी शिक्षा परिषद्, नई दिल्ली—110002
- प्रसाद, कमला (संपा०) : स्त्री—मुक्ति का सपना, सं० 2004, वाणी प्रकाशन, 21—ए, दरियागंज, नई दिल्ली—110002
- शर्मा, गीतेश : सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगे, सं० 1985 समायोजन प्रकाशन, कलकत्ता।
- कालभोर, गोपीनाथ : धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता, सं० 2000, ज्योति प्रकाशन, जयपुर।
- दीक्षित, प्रभा : सांप्रदायिकता का ऐतिहासिक संदर्भ, सं० 1980 द मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली।
- दत्त, रजनी पाम : आज का भारत, पहला हिन्दी संस्करण, 1977 मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, दिल्ली।
- रावत, रमेश (संपा० और अनु०), : भारतीय इतिहास में मध्यकाल—इरफान हबीब, सं० 1999, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली।



- यादव, राजेन्द्र : आदमी की निगाह में औरत, सं० 2007, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली-110002
- शर्मा, रामविलास : प्रेमचन्द और उनका युग, सं० 1967, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली।
- सक्सेना, राजेश्वर प्रभृति (संपा०) : भीष्म साहनी, व्यक्ति और रचना, सं० 1982, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
- शर्मा, रामविलास : कथा विवेचना और गद्य शिल्प, सं० 1982 वाणी प्रकाशन, दिल्ली- 110007
- यादव, राजेन्द्र : अठारह उपन्यास, सं० 1981, अक्षरा प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली-110002
- तिवारी, रामचन्द्र : हिन्दी का गद्य साहित्य, संस्करण 2006, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी- 221001
- चन्द्र, बिपिन : आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता, सं० 1996 हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय ई०ए०/6, मॉडल टाउन, दिल्ली-110009
- सिंह, बच्चन : आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, संस्करण 2004, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली- 110002
- ग्रोवर, बी०एल० एवं यशपाल : आधुनिक भारत का इतिहास, एक नवीन मूल्यांकन सं० 1999, एस० चन्द एण्ड कंपनी लिमिटेड, नई दिल्ली-110055

- चतुर्वेदी, जगदीश्वर : सांप्रदायिकता, आतंकवाद और जनमाध्यम  
सं० 2005, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स  
प्रा०लि०, दिल्ली-110002
- सावरकर, विनायक दामोदर : हिन्दुत्व, सं० 2005, हिन्दी साहित्य सदन,  
नई दिल्ली- 110005
- इस्लाम, शम्सुल : भारत में अलगाववाद और धर्म, सं० 2006  
वाणी प्रकाशन, 4697 /5, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली
- चांद, एस०एम० : महात्मा गाँधी और साम्प्रदायिक एकता, सं०  
सं० 1984, राष्ट्रीय एकता प्रकाशन, लोहिया बाजार,  
ब्यावर (राजस्थान)
- सिंह, खुशवंत : मेरा लहलुहान पंजाब, सं० 1993, राजकमल  
प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली-110002
- किश्वर मधु पूणिर्मा : राष्ट्रवाद की चाकरी में धर्म, सं० 2005, वाणी  
प्रकाशन, 4697 /5, 21-ए, दरियागंज, नई  
दिल्ली-110002
- पुनियानी, राम : सांप्रदायिक राजनीति-तथ्य एवं मिथक, सं०  
2005 वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई  
दिल्ली-110002
- मिश्र, शिवकुमार : प्रेमचन्द विरासत का सवाल, सं० 1981,  
पीपुल्स लिटरेसी, 517, मटिया महल, दिल्ली, 110006

- चन्द्र, बिपिन : भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, सं० 1990, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- चांद, एस०एम० : स्वाधीनता संघर्ष और साम्प्रदायिक फासीज्म, सं० 1993, राष्ट्रीय एकता प्रकाशन, लोहिया बाजार, ब्यावर (राज०)
- चन्द्र, बिपन प्रभृति : स्वतन्त्रता संग्राम, सं० 1972, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली
- सरकार, सुमित : आधुनिक (1885—1947), सं० 1993, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली—110002
- भट्टाचार्य, मालिनी (संपा०) : अयोध्या—कुछ सवाल, सं० 1994, सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली—110001
- सिंह, प्रताप : भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन एवं चिंतन, सं० 1985, रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर।
- डॉ० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर, सं० 1957, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।
- यादव, राजेन्द्र : कहानी: स्वरूप और संवेदना, सं० 1968, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
- भारद्वाज, हेतु : संस्कृति और साहित्य, सं० 2004, मंथन पब्लिकेशन्स, जयपुर।
- नंदी आशिस, प्रभृति : राष्ट्रवाद का अयोध्या काण्ड, सं० 2005, वाणी प्रकाशन दिल्ली।

- राजकिशोर : धर्म, सांप्रदायिकता और राजनीति, सं० 1995  
प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली-110030
- दुबे, अभय कुमार (संपा०) : राजनीति की किताब, रजनी कोठारी का  
कृतित्व, 2003, वाणी प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली।
- अमृतराय (संपा०) : प्रेमचन्द: विविध प्रसंग, भाग-2, सं० सित० 1980  
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद।
- प्रेमचन्द : सेवासदन (उप०), सं० 2004, राजस्थान  
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा०लि०, जयपुर
- प्रेमचन्द : कायाकल्प (उप०), सं० 1987, भारतीय ग्रंथ  
निकेतन, नई दिल्ली-110002
- प्रेमचन्द : कर्मभूमि (उप०), सं० 1993, सरस्वती प्रेस, नई  
दिल्ली-110002
- सत्यकाम : आलोचनात्मक यथार्थवाद और प्रेमचन्द,  
सं० 1994 राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा०लि०, नई  
दिल्ली-110002
- राय, गोपाल : हिन्दी उपन्यास का इतिहास, सं० 2002,  
राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, नई  
दिल्ली-110002
- जैन, नेमिचन्द्र : अधूरे साक्षात्कार, सं० 1989, वाणी प्रकाशन,  
नई दिल्ली- 110002
- साहनी भीष्म प्रभृति (संपा०) : आधुनिक हिन्दी उपन्यास, सं० 1980,  
राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली-110002

- यशपाल : झूठा सच, (दो भागों में उपन्यास) सं० 2002,  
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1
- साहनी, भीष्म : गद्दार (उप०), सं० 1992, राजकमल प्रकाशन  
प्रा०लि०, नई दिल्ली-110002
- चन्दर, कृश्न : गद्दार (उप०), सं० 2001, भारतीय  
जनसहयोगी परिषद् (रजि०), नई दिल्ली- 110002
- सोबती, कृष्णा : जिन्दगीनामा (उप०) सं० 1989, राजकमल  
प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली-110002
- सिंह, विजय मोहन : कथा समय, सं० 1993, राधाकृष्ण प्रकाशन  
प्रा०लि०, नई दिल्ली- 110002
- तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद (संपा०) : बीसवीं सदी का हिन्दी साहित्य,  
सं० 2007, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
- खेतान, प्रभा : स्त्री उपेक्षिता (अनू०), सं० 1990, सरस्वती  
विहार, दिल्ली-110095
- पचौरी, सुधीश : उत्तर-आधुनिक साहित्यिक विमर्श, सं० 1996,  
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002
- श्रीधरम : स्त्री: संघर्ष और सृजन, सं० 2008, अंकिता  
प्रकाशन, गाजियाबाद- 201005
- खेतान, प्रभा : बाजार के बीच: बाजार के खिलाफ-  
भूमण्डलीकरण और स्त्री के प्रश्न, सं० 2004,  
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली- 110002

- शर्मा, नासिरा : शाल्मली (उप०), सं० 1987, सरस्वती विहार,  
दिल्ली-110095
- खेतान, प्रभा : आओ पे पे घर चलें (उप०) सं० 1990,  
सरस्वती विहार, दिल्ली-110095
- खेतान, प्रभा : छिन्नमस्ता (उप०), सं० 1993, राजकमल  
प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली-110002
- मुद्गल, चित्रा : एक जमीन अपनी (उप०), सं० 1999,  
राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली-110002
- मुद्गल, चित्रा : आवां (उप०), सं० 1999, सामयिक प्रकाशन,  
नई दिल्ली-110002
- दुबे, अभय कुमार (संपा०) : आधुनिकता के आईने में दलित,  
सं० 2002, वाणी प्रकाशन, नई  
दिल्ली- 110002
- वाल्मीकि, ओम प्रकाश : दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, सं०  
2001, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा०लि०,  
दिल्ली-110051
- लिंबाले, शरण कुमार : दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, सं०  
2000, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002
- सत्यप्रेमी, पुरुषोत्तम : दलित साहित्य और सामाजिक न्याय,  
सं० 1997, समता प्रकाशन, दिल्ली-110032
- चन्द्र, जगदीश : नरककुंड में बास (उप०), संस्करण 1994,  
राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली-110002

- कर्दम, जयप्रकाश : छप्पर (उप०), संस्करण 1994, संगीता प्रकाशन, दिल्ली-110032
- पचौरी, सुधीश : आलोचना से आगे (उत्तर आधुनिकतावादी और उत्तर संरचनावादी विमर्श) सं० 2000, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली-110002
- पचौरी, सुधीश : उत्तर आधुनिकता और संरचनावाद संस्करण 1994, हिमाचलय पुस्तक भण्डार, सरस्वती भण्डार, गाँधी नगर, दिल्ली-110031
- कमलेश्वर : कितने पाकिस्तान (उप०), संस्करण 2008, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली- 110006
- शिवमूर्ति : त्रिशूल (उप०), 'हंस' मासिक पत्रिका, अक्टू०, नव०, 1993, अक्षर प्रकाशन प्रा०लि०, दिल्ली
- बिस्मिल्लाह, अब्दुल : मुखड़ा क्या देखे (उप०), संस्करण 1996, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०-110002
- शर्मा, नासिरा : जिन्दा मुहावरे (उप०), संस्करण 2001, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली- 110002
- सिंह, भगवान : उन्माद (उप०) संस्करण 1999, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली- 110002
- एहतेशाम, मंजूर : सूखा बरगद (उप०) संस्करण 1989, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली- 110002
- कामतानाथ : कालकथा (दो भागों में उपन्यास), संस्करण 1998, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली- 110002

- प्रियंवद : वे वहाँ कैद हैं (उप०), संस्करण 1994, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली— 110002
- श्री, गीतांजलि : हमारा शहर उस बरस (उप०) संस्करण 1998, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली— 110002
- कोहली, द्रोणवीर : वाह कैम्प (उप०) संस्करण 1998, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली— 110002
- पंत, श्रीमती बसंती : हिन्दी उपन्यास—रचना—विधान और युग बोध, सं० 1973, पंचशील प्रकाशन, जयपुर—3
- लाल, लक्ष्मीनारायण : हिन्दी कहानियों की शिल्प—विधि का विकास सं० 1967, साहित्य भवन, इलाहाबाद



### कोश—ग्रंथ

- प्रसाद, कालिका (संपा०) : बृहद् हिन्दी—कोश, सं० 2009वि०,  
ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ।
- दास, श्यामसुन्दर (संपा०) : हिन्दी शब्दसागर, सं० 1973ई०,  
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ।
- नगेन्द्र (संपा०) : मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य—खण्ड),  
सं० 1965, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, दिल्ली ।
- वर्मा, रामचन्द्र (संपा०) : संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, षष्ठ सं० 2014वि०  
(1958ई०) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी  
(वाराणसी) ।
- गाबा, ओम् प्रकाश : समाज विज्ञान कोश, सं० 1984, बी०आर०  
पब्लिशिंग कार्पोरेशन, दिल्ली— 52

## पत्र-पत्रिकाएँ

अक्षरा	:	मई-जून, 2004
इन्द्रप्रस्थ भारती	:	अक्टू०-दिस०, 1993
उत्तरगाथा	:	अप्रैल, 1979
		जनवरी, 1981
		अक्टू०-दिस०, 984
उत्तरार्द्ध	:	अक्टू०, 1984
		जुलाई, 1987
उद्भावना पुस्तिका	:	दिस०, 2001
कलम	:	अंक-5, प्रेमचन्द विशेषांक
कथादेश	:	मार्च, 2005
नुक्कड़ जनम संवाद	:	जुलाई-दिसम्बर, 2001
मधुमती	:	मई, 1983
		जनवरी, 1995
समय माजरा	:	सित०-अक्टू०, 2001
संवेद	:	सित०, 2008
संचेतना	:	मार्च, 1983
सापेक्ष	:	जनवरी-जून, 1989
समकालीन भारतीय साहित्य	:	जन०-फर०, 2003

---

हंस	:	अक्टू०, 1992
	:	जन०, 1993
	:	फर०, 1993
	:	अक्टू०, 1993
	:	नव०, 1993
	:	जन०, 1999
	:	फर०, 2004
	:	जून, 2008
हिन्दी अनुशीलन	:	जून 2004
विपक्ष	:	नव०, 1992
नवभारत टाइम्स	:	02 नवम्बर, 1984
राजस्थान पत्रिका	:	18 अक्टूबर, 1998
लोक लहर	:	17 जनवरी, 1993